श्री योगसार पर प्रवचन

पाँचवाँ भाग

धर्मनेता श्री १०८ आचार्य रत्न देशभूषणजी महाराज
के कलकत्ता चातुर्मास के प्रवचनों का सार

संग्रहकर्त्री :—

श्री १०५ आर्यिका शान्तिमती माताजी

सम्पादक तथा संशोधक :—

श्री पं० कमलकुमार जैन शास्त्री गोइल्ल
व्याकरण न्याय काव्यतीर्थ साहित्य [illegible]
साहू जैन निलय, कलकत्ता

प्रकाशक :—

सीताराम पाटनी
*फर्म :—*कन्हैयालाल सीताराम, ३३ आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता

तथा

मगेज बाई
धर्म पत्नी नथमलजी काशलीवाल
बलून्दा (राजस्थान)

३००० प्रतियां] वीर निर्वाण सम्वत् २४८५ [मूल्य सदुपयोग

सम्पादकीय वक्तव्य

यह तो सर्वविदित है कि जब से पूज्य श्री १०८ आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज ने इस उत्तर भारत में विहार किया है एवं जहां-जहां भी आप के सफल चातुर्मास हुए हैं वहां-वहां की जैन और अजैन जनता ने आपके सदुपदेशों से पर्याप्त लाभ उठाया है।

आप सिंहवृत्तिवाले—निर्भय होकर विचरण करने वाले परम तपस्वी, सरल स्वभावी मधुर-भाषी, प्राणिमात्र के अकारण बन्धु साधुमना, साधु आचार्य हैं।

प्रत्येक चातुर्मास में आपके मार्मिक, धार्मिक, सामाजिक, और नैतिक भाषणोंसे जनता पर्याप्त मात्रामें प्रभावित है? कारण कि आपके भाषण जन साधारणकी भाषामें सुन्दर और चित्ताकर्षक, तत्काल हृदय को उल्लासित करने वाले व्याख्येय विषय को स्फुट करने में सफल साधक उदाहरणों से ओत-प्रोत रहते हैं। आपकी अमृतमयी वाणी से जो विषय बोला जाता है, वह श्रोताओं के कर्ण-विवर द्वारा सीधा हृदय में प्रवेश कर मनः-सन्ताप को शान्त करने में अव्यर्थ साधन हैं। आपके भाषण इतने मनोहर होते हैं, जिन्हें सुनकर जनता मन्त्र मुग्ध हो जाती है; आप लगातार घण्टों बोलते रहते हैं, फिर भी आपको जरा सी भी थकावट नहीं होती, यह आपकी सतत तपः साधना का ही माहात्म्य है। आचार्यश्री की विद्वत्ता, गम्भीरता, ओजस्विता, तपस्तेजस्विता, निरीहता, निःस्पृहता, दयालुता, कष्ट-सहिष्णुता, अनुपम क्षमता आदि अनेक गुण-गरिमा जनता के आकर्षण का केन्द्र बनी हुई हैं।

बंगाल प्रान्त की राजधानी और समूचे भारतवर्ष की महानगरी कलकत्ताके अतीत पांच सौ वर्ष के इतिहास में दिगम्बर जैनाचार्य या साधुओं के शुभागमन की कोई बात सुनने में नहीं आई थी, अतएव कलकत्ता का दिगम्बर जैन समाज स्वभावतः धर्म की साक्षात्मूर्ति दिगम्बर साधुओं के दर्शनोंके लिये अपनी इस महानगरीमें शताब्दियोंसे उत्कण्ठित एवं लालायित था, उसकी वह चिरकालिक उत्कण्ठा एवं लालसा गत ज्येष्ठ मास की कृष्णा प्रतिपदा दिन रविवार के प्रातःकाल सफलीभूत हुई। उस दिन स्थानीय दिगम्बर जैनों ने हजारों की संख्यामें उपस्थित होकर पूज्य स्वामी श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज के एवं उनके संघवर्ती मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक तथा क्षुल्लिकाओं एवंब्रह्मचारी व्रती पुरुषोंके दर्शन कर अपनी उत्कण्ठा को पूर्ण किया और अपने भाग्यको सराहा। महाराजश्री जब से कलकत्ता पधारे हैं, तब से बेलगछिया उपवन एक खासा तीर्थ क्षेत्र बना हुआ है—इसमें प्रति दिन सैकड़ों और हजारों की तादाद में अजैन एवं जैन जनता आपके और संघ एवं अन्य मुनियों आर्यिकाओं क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं के दर्शनार्थ आती रहती है, सवेरे से शाम तक लोगों का बराबर तांता लगा रहता है।

यों तो महाराजश्री का भाषण प्रातःकाल ७॥ बजेसे ६॥ बजे तक प्रति दिन होता ही है, परन्तु प्रत्येक रविवार को प्रातःकाल के अतिरिक्त दोपहर में भी २ बजेसे ४ बजे तक होता है, जिसमें जनता की उपस्थिति से सारा मण्डप खचाखच भर जाता है, और मण्डप के बाहर भी जनता इधर-उधर खड़ी रहकर मन्त्रमुग्ध की तरह आपके ओजस्वी भाषण को सुनती रहती है। आपके भाषण की सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि जबतक आप अपना भाषण जारी रखते हैं, तब तक पण्डाल में जरा भी शोर-गुल या हो हल्ला नहीं होता। श्रोता लोग तो आपके मुख की तरफ ही देखते रहते हैं, जरा सा भी आलस्य या प्रमाद किसी को भी भाषण के समय नहीं आता है; इसका मुख्य कारण आपकी वाणी की मधुरता और सरलता है। व्याख्येय विषय का समझाने की शैली आपकी बड़ी ही रोचक है। इस तरह से कलकत्ता की जैन और अजैन जनता को आपके दर्शनों और भाषणों से लगभग सात महीने से बराबर लाभ हो रहा है। यह कलकत्ता-निवासियों का परम सौभाग्य है। आपके भाषण अधिकतर श्री योगीन्द्र देव कृत 'योग-सार' पर ही होते हैं, जिनका संकलन श्री १०५ आर्यिका शान्तिमती जी द्वारा होता रहा। उसको 'योग-सार प्रवचन' शीर्षक देकर सम्पादन तथा संशोधन कर जन साधारण के लाभार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है, सम्पादन तथा संशोधन का कार्यभार पूज्य श्री आचार्य महाराज ने मुझ जैसे अल्पज्ञ तुच्छ सेवक पर छोड़ा जिसको मैंने अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार यथाशक्ति और यथाभक्ति किया है। मैंने अपने कार्यमें त्रियोग से सावधानी बरती है, फिर भी गलतियों का रह जाना सम्भव है। आशा है, पाठक जन मुझे अल्पज्ञ समझ कर और क्षमा का पात्र मानकर क्षमा करेंगे; साथ ही गलतियों की सूचना देकर मुझे अनुगृहीत करेंगे ताकि अगले संस्करण में उन्हें दूर किया जा सके। इन सबके लिये मैं उनका चिर कृतज्ञ रहूंगा।

आचार्यश्री के प्रभावशाली लोकोपकारी सारगर्भित प्रवचनों को सुनकर श्री सीताराम जी पाटनी तथा स्वर्गीय श्री नथमल जी कासलीवाल की धर्मपत्नी मनोज देवीके मन में यह भावना जागृत हुई कि महाराजश्री के ये जनहितकारी भावपूर्ण प्रवचन अन्य चातुर्मासोंकी भांति कलकत्ता चातुर्मास में भी संकलित होकर सुन्दर पुस्तकाकारके रूपमें प्रकाशित होना चाहिये, जिससे कि जन साधारण को अत्यधिक लाभ पहुंच सके। इनके प्रकाशन में जो कुछ भी व्यय (खर्च) पड़ेगा उसको वे दोनों सहर्ष उठाने को तैयार हैं। इस विषय में आप दोनों महानुभावों ने पूज्य श्री आचार्य महाराज के चरणों में सादर प्रार्थना की; महाराज श्री ने भी स्वीकृति देकर उनकी भावना को सफल किया। तदनुसार यह प्रवचन सङ्कलित, सम्पादित और संशोधित होकर जनता के लाभार्थ प्रस्तुत हैं। आशा है जनता इनसे लाभ उठायगी।

प्रकाशक महानुभाव अत्यन्त धर्मात्मा, श्रद्धालु, गुरुभक्त हैं, सच्चे देव, शास्त्र और गुरुओं की भक्ति में रत रहते हैं, श्रावकों के षट्कर्मोंके पालन में भी यथाशक्ति संलग्न रहते हैं, यथासमय धर्मा-

यतनों में, शिक्षा-संस्थाओं में अपनी गाढ़ी कमाई को दान द्वारा सफल करते रहते हैं, आप दोनों ने अपने जीवनमें हजारों रुपयों का दान कर संस्थाओं को लाभ पहुंचाया ही है, साथ ही स्वयं भी निष्काम भावको अपनाकर विशेष पुण्यका सञ्चय किया है, जो भविष्य में जाकर फलीभूत होगा। ऐसे धर्मनिष्ठ, गुरुभक्त प्रकाशक महानुभावों का हम हृदय से उत्कर्ष चाहते हुए उन्हें धन्यवाद देते हैं, और भविष्य में भी उनसे उक्त प्रकार के सत्कार्यों की आशा करते हैं। यद्यपि आप दोनों ने अपने विषय में कुछ भी लिखना और लिखाना पसन्द न होने से सर्वथा निषेध कर दिया था, तथापि हमने ऐसे निष्काम पुरुषों के विषय में दो शब्द लिखना अपना आवश्यक कर्तव्य समझकर ही लिखे हैं, जो उनकी इच्छा के विरुद्ध होते हुए भी जनता की जानकारी के हेतु बहुत जरूरी हैं।

गुरुचरणावनत मस्तक

कमल कुमार जैन शास्त्री,

व्याकरण, न्याय काव्यतीर्थ, साहित्य धर्मशास्त्री

साहू जैन निलय, नम्बर ९, अलीपुर, कलकत्ता

धर्म नेता श्री १०८ आचार्यरत्न देशभूषणजी महाराज

श्री योगसार प्रवचन—

श्री योगसार की प्रकाशिका—

श्री मगेज देवी, धर्मपत्नी स्व० श्री नथमलजी काशलीवाल,

बलूंदा निवासी (राजस्थान)

आचार्य श्री १०८ देशभूषण जी महाराज,
कन्हैयालाल रांवका, सीताराम पाटनी, ललितकुमार, गुणमाला, बसन्ती देवी (धर्मपत्नी स्व० कन्हैयालालजी पाटनी), मोहनी बाई, मालती मिश्रीलाल सेठी, हुकमचन्द पाटनी, पुष्पा, शान्ति बाई, किशोर, कमला बाई, किरन, बनारसी देवी (धर्मपत्नी सीताराम पाटनी)।

'श्री योगसार' पर प्रवचन

[परम पूज्य विद्यालंकार श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का चातुर्मास
विक्रम सं० २०१५ में कलकत्ता में हुआ।
आचार्यश्री का उपदेश जो प्रतिदिन होता है उसका सारांश निम्नलिखित है]

प्रवचन नं० १

स्थानः—
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर
बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथी :—
शुक्रवार
ता० ६-५-५८

सिद्धों को नमस्कार

णिम्मलणाणपरिट्ठियाकम्मकलङ्क उहेवि।
अप्पा लद्धउ जेन परु ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

जिन्होंने शुद्ध ध्यान में स्थित होकर कर्म-रूपी मल को पूर्णतया जला दिया है तथा उत्कृष्ट परम पद या निरंजन शुद्धात्म पद को प्राप्त कर लिया है, उन सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करता हूं।

अखिल विश्व के मानव प्राणियो! इस संसार-रूपी गहरे गर्त से निकाल कर परमोन्नत सुख-शान्ति के शिखर पर पहुंचानेवाली मशीनरी के समान कार्य करनेवाला सच्चा साधन-रूप सिद्ध परमात्मा ही हम सभी मानवों के लिये आदर्श-रूप है। इसीलिये यहां सबसे पहले सिद्ध परमात्मा को नमस्कार किया गया है। यह सिद्ध पद शुद्धात्मा का पद है, जहां आत्मा अपने ही निज स्वभाव में सदा मग्न रहती है। आत्मा आकाश के समान परम निर्मल है और आत्म-द्रव्य गुणों का अभेद समूह है। वहां पर सर्व गुण पूर्ण रूप से प्रकाशित होते रहते हैं। सिद्ध भगवान पूर्ण ज्ञानी, परम वीतरागी, अतीन्द्रिय सुख के सागर, अनन्त शक्तिशाली अर्थात अनन्त वीर्य के धारी हैं। आत्मा जड़त्व से वर्जित, अमूर्तिक सर्व दोषरहित रह कर स्वाभाविक परिणति का कर्ता है, क्योंकि इसका कर्ता-धर्ता कोई अन्य नहीं है,

बल्कि यह स्वयमेव परमानन्द का भोक्ता है तथा परम कृत कृत्य है। यह समस्त इच्छाओं से रहित, परमाह्लादकारक तथा पुरुषाकार है। जिस शरीर से सिद्ध हुये हैं उसी शरीर में जैसे आत्मा का आकार था, वैसा ही आकार बिना संकोच विस्तार के सिद्ध पद में रहता है। प्रदेशों की माप से असंख्यात-प्रदेशी है। इन्हीं सिद्धात्मा को ही परमेश्वर, शिव, परमात्मा तथा परम देव कहते है। वे एकाकी आत्म-रूप हैं। जैसे मूल में आत्म-द्रव्य है वैसे ही सिद्ध स्वरूप है। इन्हीं परमात्मा के समान जो हम सभी मानव शरीर धारण किये है ; इसके अन्दर दूध और पानी के मिश्रित-रूप में हमारी आत्मा है। इसी आत्मा का यदि परमात्मा बनने के साधन-रूप योग्य निमित्त हो जाय तो कालान्तर में यह सिद्ध परमात्मा का रूप बन सकता है। यह पद समस्त मानवों के अन्दर विद्यमान है।

सिद्ध परमात्मा अनेक हैं। जो संसारी जीव शुद्ध आत्मा का अनुभवपूर्वक ध्यान करता है तथा उन्हीं के स्वरूप को देखता है उसके अनादि काल से आत्मा के चारों ओर घेरे हुये कर्म-रूपी मल झरने लगते हैं और तब उस आत्मा को एक प्रकार की सुख-शान्ति मालूम होने लगती है। उनकी इन्द्रिय-वासना की ओर रुचि घटने लगती है और जैसे-जैसे वासना घटने लगती है वैसे-वैसे ही आत्म-स्वरूप के प्रति श्रद्धान बढ़ने लगता है। इस तरह जब यह संसारी आत्मा शुद्ध आत्मा का अनुभवपूर्वक ध्यान करती है तब मुनि पद को धारण करके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रह को त्याग कर निर्ग्रन्थ साधु होकर पहले धर्म-ध्यान को धारण करके पुनः शुक्ल-ध्यान को ध्याता है। इस शुक्ल-ध्यान के प्रताप से पहले अरहन्त होता है। फिर सर्व कर्म-मल को नाश करके सिद्ध हो जाता है और सिद्ध होते ही ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाता है। उस स्थान से कभी भी हलन-चलन क्रिया को नहीं करता। यानी वहां पर वह सर्वदा स्थिर रहता है। वह आत्मा धर्म-द्रव्य के बिना अलोकाकाश में गमन नहीं करता। सभी सिद्ध उस सिद्धक्षेत्रमें अपनी-अपनी सत्ताको भिन्न-भिन्न रखते हैं सब ही अपने-अपने आनन्द में रत रहते हैं। वे पूर्ण वीतरागी हैं। फिर वे कभी कर्म-बन्ध से नहीं बंधते। इसलिये सिद्ध भगवान पुनः संसार अवस्था में लौट कर नहीं आते और न तो उनके संसार का बन्ध ही होता है। वे सर्व सिद्ध भगवान संसार के क्लेश तथा दुःखों से सर्वथा मुक्त रहते हैं। इसी का नाम 'निर्वाण' है। सिद्ध परमात्मा के समान जो कोई मुमुक्षु अपनी आत्मा को निश्चय से शुद्ध आत्म-द्रव्य मान कर राग-द्वेष को त्याग कर उसी स्वरूप में मग्न हो जाता है, वही मानव संसार-कष्ट से मुक्त होकर एक दिन शुद्ध परमात्मा बन जाता है। प्रत्येक आत्मा ऊर्ध्वगमन-स्वभावी है। परन्तु यह हमारा आत्माराम अनादि कर्म-मल सम्बन्ध से लिपटे रहने के कारण नीचे दब कर बैठा है। जिस दिन यह कर्म-मल पूर्णतया पिघल जायेगा उसी समय संसार-रूपी गड्ढे से ऊपर की तरफ उछल कर अपने निज स्वभाव के अनुसार ऊर्ध्वगमन करके लोक के अग्रभाग पर विराजमान हो जायगा। इसी का नाम सच्ची आत्म-सिद्धि या सच्चा सुख है। और इसको सत्य भी कहते हैं। सत्य ही असली आत्मा का स्वभाव है। यह स्वभाव समस्त संसार-रूपी वासनाओं के अन्दर दबा हुआ है। जब तक यह सत्य रूप आत्म-

स्वभाव दबा है तब तक इस संसारी जीवात्मा को सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। किन्तु जिस दिन सत्य स्वरूप हमारे भीतर से प्रगट होकर दुनिया के सामने आदर्श-रूप में खड़ा हो जाता है, तब यह सारा संसार उसी सत्य की खोज में लालायित होकर पीछे-पीछे दौड़ने लगता है।

सत्य को खोजने के लिये उपाय ?

सत्य का अर्थ—शुद्धात्मा की प्राप्ति है और उसी के दूसरे अवयव-रूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांचों नाम भी सत्य आत्म स्वरूप के नाम में गर्भित हैं।

सत्य हमारे जीवन में उतना ही अधिक आवश्यक है, जितना कि अहिंसा, आस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। आत्मा के जो अनन्त-अनन्त गुण हैं और जैसे वे हमारे जीवन को परम पवित्र बनाते हैं, उसी प्रकार सत्य भी हमारे जीवन का महत्वपूर्ण अंग और हमारी साधना का मुख्य भाग है। जिस प्रकार अहिंसादि चारों में से किसी भी एक को छोड़ देने से कार्य नहीं चल सकता यानी आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता उसी प्रकार सत्य को भी छोड़ देने से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। इसी लिये सत्य का विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है।

सत्य का असली उपाय क्या ?

असत्य पर पदार्थ से भिन्न सत्व-तत्व अर्थात् यह शुद्धात्म स्वरूप है। इसका दूसरा अर्थ निज-रूप अपना शुद्ध स्वभाव है। यह स्वभाव आत्मा का असली निज गुण है। यह गुण अनादिकाल से बुरे कूड़े-कचड़े में छिपा है। इस बुराई को हटाने से भीतरी असली स्वभाव प्रगट होकर जब अपने मूल-रूप में स्थित होता है तब उनको परमात्मा या सिद्ध कहते हैं। और इस शुद्धात्मा को स्वयम्भू कहते हैं, क्योंकि यह आत्मा पर पदार्थ से बिल्कुल भिन्न होने के बाद पूर्ण स्वतन्त्र कहा जाता है। तब इसे किसी का अवलम्बन या सहारा नहीं लेना पड़ता। यह अपने स्वरूप में लीन रह कर अपने अनन्त गुणों सहित विद्यमान होता हुआ अनन्त सुखों का स्वामी कहलाता है। और अजर, अमर, अचल होने के कारण या एक जगह में स्थित होने के कारण इनको सिद्ध भी कहते हैं। ऐसे शुद्धात्म पद को प्राप्त करने के लिये इस सिद्ध भगवान को नमस्कार किया गया है। समाचार में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी सिद्धों को नमस्कार किया है। कहा भी है कि :—

वन्दित्तु सव्व सिद्धे धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुधकेवलीभणिदं ॥

वे कहते हैं कि जो ध्यान की आग से कर्म-कलङ्क को जला कर नित्य निरञ्जन तथा ज्ञानमय हो गया है उन सिद्ध परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूं।

यहां सिद्ध भगवान् को सबसे पहले इसलिये नमस्कार किया गया है कि भावों में सिद्धों के समान आत्मा का बल आ जावे और परिणाम शुद्ध व वीतराग हो जावे। शुद्धोपयोग मिश्रित शुभ भाव हो जावे, जिससे विघ्नकारक कर्मों का नाश हो और पुण्य का बन्ध हो। मंगल उसे ही कहते हैं जिससे पाप गले और पुण्य का लाभ हो। मंगलाचरण करने से शुद्धात्मा की विजय होती है, उद्धतपने का त्याग होता है और परिणाम कोमल हो जाते हैं।

यह अध्यात्म कथा आत्मा को साक्षात सामने करके दिखानेवाला है। शरीर के भीतर बैठे हुये परमात्म देव का दर्शन कराके परमानन्द को उत्पन्न करनेवाला है। इसलिये यहां सबसे पहले सिद्धों को नमस्कार किया गया है।

यह आत्मा स्वयम्भू कैसे बनता है, सो दिखाते हैं।

सत्वन्तर्बाह्यहेतुप्रभवविमलसद्दर्शनज्ञानचर्या।
संपद्धे तिप्रघातक्षतदुरिततयाव्यंजिताचिन्त्यसारः॥
कैवल्यज्ञानदृष्टिप्रवरसुखमहावीर्यसम्यक्त्वलब्धिः।
ज्योतिर्वातायनादिस्थिरपरमगुणैरद्भुतैर्भासमानः॥

आत्मा दर्शन मोहनीय आदि कर्मोंके क्षयोपशमादि-रूप अन्तरङ्ग कारण और गुरूपदेश आदि बहिरङ्ग कारणों से उत्पन्न होनेवाले तथा निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र संपत्ति-रूपी शस्त्र के प्रघात से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय आदि कर्मों के नाश होने से निज का अचिन्त्य माहात्म्य प्रगट होता है, ऐसा आत्मा का विशेष गुण है।

कुछ लोग कहते हैं कि ऊपर बताये गये आत्मा के जो विशेष गुण हैं उनका नाश होना ही मोक्ष है। परन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि योगों के द्वारा माना हुआ यह मोक्ष का लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्ष का स्वरूप आत्मा के गुणों का नाश होने रूप नहीं है। इसका भी कारण यह है कि यदि आत्मा के गुणों का नाश होना मोक्ष माना जाय तो उनका तपश्चरण करना, व्रत पालना आदि कुछ भी नहीं बन सकेगा। क्योंकि अपने आत्मा के गुणों का नाश करने के लिये कौन तप करेगा, कौन व्रत करेगा, कौन संयम धारण करेगा और कौन शरीर आदि इन्द्रियों को कष्ट देगा? संसार में जो तप और व्रतों का पालन किया जाता है वह आत्मा को दुर्गति से बचाने के लिये और आत्मा के गुणों की वृद्धि कराने के लिये ही किया जाता है। अतः मानना चाहिये कि आत्मा के गुणों का नाश होना मोक्ष नहीं है।

चार्वाक् कहता है कि आत्मा कोई पदार्थ ही नहीं है। आत्मा का सदा सर्वथा अभाव है; फिर मोक्ष किसकी? किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। इसका समाधान जैनाचार्य ने किया है कि आत्मा अनादि-निधन है और वह अनादि काल से चला आ रहा है।

यदि आत्मा का नाश होगा तो स्वर्ग मोक्ष तथा आत्मा का पुनर्जन्म आदि सभी का नाश मानना पड़ेगा। किन्तु शास्त्रकारों ने जो पाप-पुण्य आदि करने के लिये बताया है, सो सब निष्फल हो जायगा। अच्छा-बुरा, पुण्य-पाप, परोपकार तथा दया आदि जो भी क्रियायें हैं और पाप-पुण्य के अनुसार जो शुभाशुभ गतियां हैं उन सबका अभाव मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। आत्मा अनादि निधन तथा तीनों काल में एवं तीनों लोकों में सदा रहनेवाला है, रहता आया है और आगे भी रहेगा। इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये मानव-प्राणी सदा तप, संयम, दान पूजा, दया-धर्म, परोपकार आदि व्यावहारिक क्रिया-काण्ड यत्नके साथ करके अपने स्व-स्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं।

कुछ लोग आत्मा का अस्तित्व तो मानते हैं, परन्तु भूत और भविष्य काल में उसका अस्तित्व नहीं मानते। इसी बात का समाधान करने के लिये जैनाचार्य ने कहा है कि यह आत्मा अनादि काल से चला आ रहा है। अथवा यों कहना चाहिये कि आत्मा अनादि काल से कर्मों से बद्ध होता हुआ चला आ रहा है। इस कथन से आचार्य ने सांख्य मतवालों का समाधान किया है।

सांख्य मतवाला मानता है कि आत्मा तो सदा मुक्त ही रहता है। वह कभी कर्मबद्ध या पापों में लिप्त नहीं होता। प्रकृति ही कर्मों से बद्ध या पापों में लिप्त होती है; और वही प्रकृति उन कर्मों से छूटती रहती है, परन्तु इसका समाधान करते हुये जैनाचार्य कहते हैं, कि आत्मा सदा से मुक्त नहीं है किन्तु अनादि काल से कर्म बन्धन से बद्ध हो रही है। इसके सिवाय सांख्य मतवाला यह भी मानता है कि यह आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है, किन्तु उन कर्मों के फलों का भोक्ता अवश्य है। परन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि सांख्य मतवालों का यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि जो कर्ता होता है वह उन शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता भी है। कहा भी है कि :—

> जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
> भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्स सोड्ढगई॥

जीव—अनन्त धर्मों से युक्त तथा इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्‌वास प्राणों से जो जीता है सो जीव है। उवओगमओ—दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोगवाला है। अमुत्ति—निश्चय नयसे अमूर्तिक है, स्पर्श रस, गन्धादि से रहित है। कत्ता—शुभाशुभ भाव और द्रव्य धर्म का कर्ता है। सदेहपरिमाणो—यह आत्मा, सन्तान अपेक्षा से अनादि सम्बन्ध के कर्माधीन होकर नाम कर्म के द्वारा प्राप्त किये हुये छोटे बड़े शरीर का प्रमाणवाला है। भोक्ता—अपने द्वारा किये हुये शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता है। संसारत्थो—कर्मोदय के कारण चारों गतियों में भ्रमण करनेवाला होने के कारण संसार अवस्थावाला कहलाता है। सिद्धो—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रों से सम्पूर्ण कर्म-मल से रहित अचल और स्थिर होने के कारण सिद्ध कहा है। विस्सो—स्वभाव से। उड्ढगई—ऊर्ध्वगमन करनेवाला है।

अब आचार्य यह दिखलाते हैं कि जब मोक्ष का स्वरूप ऊपर लिखे अनुसार नहीं है तो फिर कैसा है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि इस आत्मा ने जो कर्म स्वयं किये हैं उनका पूर्णतया नाश हो जाने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। उन कर्मों का नाश उन कर्मों का फल भोग लेने पर भी होता है और बिना फल भोगे भी होता है—दोनों प्रकार से होता है। परन्तु उन कर्मों का नाश हुये बिना कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

इसके सिवाय वह आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव सहित है। अनेक लोग आत्मा का स्वरूप जड़—अचेतन मानते हैं। अथवा केवल चैतन्य मात्र मानते हैं। इसका खण्डन करने के लिये आचार्य कहते हैं कि आत्मा जड़ नहीं और न ज्ञानशून्य है ; केवल चैतन्य मात्र है ; किन्तु आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है—जानना और देखना उसका स्वभाव है। ज्ञान और दर्शन स्वभाव को ही चैतन्य कहते हैं।

आत्मा का परिमाण अपने शरीर प्रमाण रहता है, सांख्य-मीमांसक और योग मत वाले आत्मा को व्यापक मानते हैं परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। यदि सबकी आत्मा व्यापक है और वह समस्त शरीरों में रहती है तो फिर सब जीवों को एक-सा ज्ञान होना चाहिये ; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। अतः सिद्ध होता है कि आत्मा व्यापक नहीं है किन्तु शरीर के बराबर ही रहता है। कदाचित् कोई यहां पर यह शंका करे कि यदि आत्मा अपने शरीर के ही बराबर है तो फिर जो आत्मा हाथी के शरीर में है वह हाथी के शरीर के बराबर है ; फिर वह मर कर यदि चींटी के शरीर में जन्म ले, अथवा कोई चींटी का जीव हाथी के शरीर में जन्मे तो वह अपना परिमाण कैसे बदल सकता है ? इसके उत्तर में आचाय कहते हैं कि जिस प्रकार किसी दीपक को छोटे घर में रख दें तो उतने ही घर में वह प्रकाश फैल जाता है और यदि उस दीपक को बड़े घर में रख दें तो उसका प्रकाश फैल कर सब घर में हो जाता है। यदि उसी दीपक को घड़े में रख दें तो उसका प्रकाश उतना ही रह जाता है और मैदान में टांग दें तो दूर तक फैल जाता है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में संकोच होने और फैलने की शक्ति है उसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों में भी संकोच और विस्तार होने की शक्ति है। अपने-अपने कर्मों के उदय से यह जीव जब जैसा छोटा या बड़ा शरीर पाता है तब उसी के परिमाण हो जाता है। जब छोटा शरीर पाता है तब आत्मा के प्रदेश संकुचित होकर उसी छोटे शरीर रूप हो जाते हैं। और जब बड़ा शरीर पाता है तब वे ही प्रदेश विकसित होकर उस बड़े शरीर रूप हो जाते हैं। बच्चे के शरीर में आत्मा उतने ही परिणाम रूप है फिर शरीर बड़ा होने पर वे ही आत्मा के प्रदेश फैल कर उस बड़े शरीर रूप हो जाते हैं। यही कारण है कि शरीर के बढ़ जाने पर भी शरीर का कोई भी भाग ऐसा नहीं रहता जिसमें आत्मा न हो। इससे सिद्ध हो जाता है कि आत्मा के प्रदेशों में संकोच विस्तार होने की शक्ति है। जब यह आत्मा कर्मों के उदय से छोटा शरीर पाता है तब उसके आत्मा के प्रदेश संकुचित होकर

उसी शरीर के परिमाण हो जाते हैं तथा जब बड़ा शरीर पाता है तब वे ही आत्म प्रदेश विस्तृत होकर उस बड़े शरीर रूप हो जाते हैं।

इसके सिवाय वह आत्मा उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। सांख्य-मीमांसक और योग कहते हैं कि आत्मा सर्वथा नित्य है। सर्वथा नित्य होने के कारण उसमें उत्पाद-व्यय नहीं हो सकता परन्तु इन लोगों का यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि एक आत्मा जो आज सुखी है वही कल दुःखी हो जाता है तथा जो आज दुःखी है वह कल सुखी है। इस प्रकार आत्मा में उत्पाद और विनाश स्पष्ट रीति से प्रतीत होता रहता है। अतः आत्मा सर्वथा नित्य नहीं है किन्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। बौद्ध मत वाला मानता है कि आत्मा का स्वभाव ज्ञान रूप है तथा ज्ञान में सदा उत्पाद-विनाश होता रहता है। कभी ज्ञान बढ़ता है कभी ज्ञान घटता है अतः सर्वथा नित्य नहीं है किन्तु उत्पाद-व्यय स्वरूप है। बौद्ध मत वाला आत्मा को ध्रौव्य स्वरूप नहीं मानता परन्तु उसका यह मानना भी ठीक नहीं है—क्योंकि यदि आत्मा में ध्रौव्यपना न माना जायगा तो मैं वही हूं जो बालक अवस्था में ऐसा था और कुमार अवस्था में ऐसा था। यह जो प्रत्येक जीव को प्रत्यक्ष विज्ञान होता है सो नहीं होना चाहिये। यदि आत्मा को सर्वथा उत्पाद-व्यय स्वरूप ही माना जायगा ध्रौव्य रूप न माना जायेगा तो फिर लेन-देन का व्यवहार व धरोहर रखने और लेने का व्यवहार कभी नहीं हो सकेगा परन्तु यह सब व्यवहार होते हैं और मैं वही हूं। यह प्रत्यभिज्ञान सबको होता है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा ध्रौव्य स्वरूप है। इस प्रकार आत्मा का स्वरूप उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वरूप बतला कर आचार्य ने सांख्य-मीमांसक योग और बौद्ध का खण्डन कर दिया है।

इसके सिवाय आत्मा अपने ज्ञानादि गुणों से सुशोभित होने के कारण ही उसके निज स्वरूप की प्राप्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। यदि आत्मा को ज्ञानादिक गुण विशिष्ट न माना जायेगा तो फिर उसके निज स्वरूप की प्राप्ति व मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। ज्ञानावरणादिक कर्म आत्मा के ज्ञानादिक गुणों को ढक लेते हैं—उन कर्मों के नाश होने से वे ज्ञानादिक गुण प्रगट हो जाते हैं। इसी को निज स्वरूप अथवा मोक्ष की प्राप्ति कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा को ज्ञानादिक गुण विशिष्ट मानने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा कभी नहीं हो सकती।

अर्हन्त का स्वरूप

स्थान :—   तिथि :—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर बेलगछिया, कलकत्ता।   ता० १०-५-५८

संसार में अनेक प्रकार के देव है, फिर जैनाचार्यों ने केवल अर्हन्त देव को ही क्यों नमस्कार किया तथा उनका स्वरूप क्या है?

सर्वज्ञः सर्वतो भद्रः सर्वदिग्वदनो विभुः।
सर्व भाषः सदा वन्द्यः सर्वसौख्यात्मको जिनः॥

सर्व पदार्थों को जाननेवाला सब तरह से कल्याण रूप चारों दिशाओं में जिसका मुख दिखाई देता तथा ज्ञान की अपेक्षा जो सर्व व्यापक है और जिसकी वाणी का परिणमन सर्व भाषाओं में हो जाता है सभी जीवों को सुखदायी ऐसा जिनेन्द्र देव ही वन्दन योग्य हैं। इसी प्रकार और भी कहा गया है :—

अर्हन् त्रैलोक्यसाम्राज्यं अर्हन् पूजां सुरेशिनाम्।
हतवान् कर्ममम्पूतं अर्हन्नामा ततः स्मृतः॥

तीन लोक के राज्य करने को योग्य, इन्द्रों द्वारा पूजा करने के योग्य, चार घातिया कर्म समूह को जिनने नाश कर दिया है। इस कारण से अरहन्त का नाम कहा है।

भावार्थ—प्रभु अनन्त गुणों के स्वामी हैं, जितने गुण हैं उतने ही उन गुणों की अपेक्षा से प्रभु के नाम हैं जिनको कि वचनों के द्वारा कहने को जिह्वा असमथ है आचार्य प्रभु का स्मरण कुछ गुणों के द्वारा कर रहे है।

सर्वज्ञः—प्रभु सार्थक सर्वज्ञ है, वे अपने केवलज्ञान द्वारा बिना इन्द्रियादिक के सहारे जगत के समस्त पदार्थों के गुण पर्यायों को क्रमरहित एक ही समय में प्रत्यक्ष जानते हैं, इसीलिये सर्व हैं (सर्वतो भद्रः) भद्र का अर्थ है मंगल, कल्याण, श्रेष्ठ, दयावान आदि यह समस्त ही गुण प्रभु में पूर्ण रूप से पाये जाते हैं। प्रभु में अन्तिम सीमा को लिये हुये विराजमान हैं, प्रभु का नाम मात्र पापों का नाश करनेवाला है, आनन्द लानेवाला है, इसलिये प्रभु मंगल स्वरूप है। प्रभु के समवशरण में समस्त जाति-विरोधी जीवों का वैर भाव दूर हो जाता है। सिंह और हाथी, व्याघ्र और गाय, बिलाव और हंस इत्यादिक जाति विरोधी जीव बैर बुद्धि छोड़कर आपस में मित्रता को प्राप्त होते हैं। वास्तव में वीतरागता की अद्भुत महिमा है। केवलज्ञान के प्रकाशमान होने पर जिस स्थान पर स्वामी विराजमान होते हैं वहां से सौ-सौ योजन तक दुर्भिक्ष नहीं रहता, सुभिक्ष होता है। समवशरण में किसी प्राणी का वध

नहीं होता चेतन या अचेतन कृत सब उपसर्ग का अभाव होता है, समस्त ऋतु के फल-फूल पत्रादिक वृक्षों पर खिल उठते हैं, भूमि दर्पण के समान शुद्ध और निर्मल हो जाती है, शीतल मन्द सुगन्ध पवन चलती है, समस्त जीवों के आनन्द प्रगट होता है, चारों प्रकार के देव जय जयकार करते हैं इत्यादि अतिशय प्रकट होते हैं, प्रभु की दिव्य-ध्वनि को सुनकर सभी जीव प्रभु के हितोपदेश-रूप अमृत का पान कर हर्षायमान होते हैं। इस प्रकार परम प्रभु सर्व ही ओर से समस्त जीवों के लिये परम मंगल-स्वरूप हैं और साक्षात उनके कल्याण कर्त्ता हैं।

सर्व दिग्वदन :—प्रभु की ऐसी अतिशय होती है कि जब केवली अरहन्त समवशरण में विराजमान होते हैं तो उनके चार मुख चारों दिशाओं में दिखाई पड़ते हैं, इसलिये प्रभु समस्त दिशाओं में दर्शन देनेवाले हैं।

विभु :—ज्ञान की अपेक्षा सर्व व्यापक हैं, प्रभु का ज्ञान सर्व ज्ञेयों में व्यापक है, अन्य मतवाले कहते हैं कि सब पदार्थों में ब्रह्म व्यापक है ऐसा नहीं है। जैसे दर्पण में पदार्थ झलकते हैं ऐसे ही जगत के समस्त पदार्थ प्रभु के ज्ञान में झलकते हैं, दर्पण जुदा है, पदार्थ जुदा है वैसे ही ज्ञान जुदा है, पदार्थ जुदे हैं।

सर्व भाष :—प्रभु की दिव्य-ध्वनि की अद्भुत महिमा है। यह त्रैलोक्यवर्ती जीवों का परम उपकार करनेवाली है, मोहान्धकार को विध्वंस करनेवाली है, सभी जीव अपनी-अपनी भाषा में शब्द अर्थ को ग्रहण कर लेते हैं, निरक्षरी होते हुये भी यह भिन्न-भिन्न जीवों की भिन्न-भिन्न भाषारूप परिणमन कर जाती है, इसको सुनकर समस्त जीवों के कोई संशय नहीं रहता, यह स्वर्ग मोक्षके मार्गको साक्षात् प्रगट करनेवाली है, इस दिव्य-ध्वनि की महिमा वचनों द्वारा प्रगट करने के लिये गणधर इन्द्रादिक भी समर्थ नहीं हैं।

सर्व सौख्यात्मक :—जगत के सब जीवों को परम सुख को देनेवाले हैं। प्रभु स्वयं अनन्त सुख के धारक हैं, जो उनको ध्येय मानकर उनकी उपासना करता है, उनका ध्यान तथा स्मरण करता है, उनको कोई पाप छू नहीं पाता उनके सब पातक दूर भाग जाते हैं, वे स्वयं अपने आत्म बल को प्रकाश में लाते हुये कर्मों का क्षय करके पूजक से पूज्य बन जाते है और अपने अनन्त सुख का आस्वादन आप ही लिया करते हैं।

जिन :—प्रभुने कर्म-रूपी महान शत्रुओंको जीता, इसलिये 'जिन' (विजेता) ऐसा नाम पाया।

सदावन्द्य :—सदैव वन्दने योग्य हैं, प्रभु सौ इन्द्रों द्वारा सदा नमस्कार किये जाते हैं भवनवासी देवों के ४० इन्द्र होते हैं, व्यन्तर देवों के ३२ होते है, कल्पवासियों के २४ इन्द्र होते हैं, चन्द्रमा और सूर्य दो ज्योतिष देवों के इन्द्र हैं, मनुष्यों का इन्द्र चक्रवर्ती, तिर्यञ्चों का इन्द्र अष्टापद होता है, जब इन सभी महान पुरुष प्रभु के चरणों में मस्तक झुकाते हैं तो अन्य जीवों की क्या बात है?

अरहन्त प्रभु ही तीन लोक के साम्राज्य के योग्य हैं। प्रभु को लौकिक राज्य ऐश्वर्य विभूति की आवश्यकता नहीं, वे वीतराग हैं। उनका शासन समस्त जीवों का कल्याण करनेवाला है, जगतोद्धारक है, स्वाधीनता और निरावलम्बता का पाठ पढ़ानेवाला है, जो प्रभु के परम अहिंसा-रूप उपदेश को सुनता है, उसी का चित्त प्रभु के शासन की ओर आकर्षित होता है। प्रभु द्वारा प्रतिपादित मोक्ष-मार्ग सर्वोत्कृष्ट है। अपनी उदारता तथा महिमा मिथ्या-मार्ग को हटानेवाला है, जो भव्य-जीव आपके शासन का आश्रय लेते हैं उनके राग-द्वेष-मोह-रूपी संसार का अभाव हो जाता है। मोक्ष-लक्ष्मी की, जो अक्षय है व अनन्त है, इसलिये जगत के जीवों के ऊपर आपका ही परम कल्याणमय, मंगल स्वरूप सुखदायक शासन है, आप उनके सच्चे स्वामी हैं।

पहले कहे हुये सौ इन्द्रों द्वारा आप पूजनीय हैं—"अमर समूह आन अवनि सों घस-घस शीस प्रणाम करे हैं।" इन्द्र आपकी पूजा रचता, भक्ति-भाव से आपके दर्शन करता-करता थकता नहीं। स्वामी ने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों को नष्ट कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बल को प्राप्त किया है, अतः वे जीवन्मुक्त, साकार परमात्मा कहलाये, जगत् के जीवों द्वारा पूज्य हुये, इसी वास्ते "अर्हन्त" ऐसा सार्थक नाम पाया, परम विभूति सहित होने से परमेश्वर हैं। मोक्ष-मार्ग के विधायक होने से विधाता हैं। ये ही सच्चे आप्त है, देव हैं और परम पूज्य अर्हन्त हैं।

इस प्रकार अभी तक देव का स्वरूप निरूपण करते आये है। किन्तु अब आगे अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार माने गये देव का स्वरूप लिखाते हैं :—

मनुष्य अपनी कल्पना के अनुसार अपने मन से माने हुये कल्पित देवोंके पास जाकर अनेक प्रकार की सांसारिक ऐहिक वस्तुओं की कामना किया करते हैं। किन्तु कपोल-कल्पित देवों से याचना करने पर मन-कामना कभी पूर्ण नहीं हो सकती। मान लीजिये कि हमारे मन्तव्यानुसार किसी ईंट या पत्थर को रखकर देव की आराधना आरम्भ की गई; किन्तु उसमें आगमानुकूल देवत्व गुण न होने के कारण भला वह कैसे किसी की इच्छा पूर्ण कर सकते हैं ?

काल्पनिक देव का इतिहास

एक बार की बात है कि किसी शहर का विद्यार्थी विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिये जा रहा था। मार्ग में उसे एक सभा-मण्डप मिला जिसमें कि कथा हो रही थी। उसने सोचा कि चलो इस मंडप में कुछ देर तक बैठकर कथा श्रवण करें। कथा सुनने की तो भावना उसके मन में जागृत हो गई, किन्तु वहां से कई जोड़े जूते चोरों ने चुरा लिये थे, अतः उसने रास्ते में एक जगह में एक छोटा-सा गड्ढा तैयार किया और उसमें जूते रखकर बाहर से ढक दिया तथा पहिचानके लिये ऊपरसे एक पत्थर लगा दिया।

उसके चले जानेके उपरान्त कुछ औरतोंने उसे देव समझकर सिन्दूर और तेलसे टीका दिया और द्रव्याक्षत चढ़ा कर नमस्कार किया। फिर क्या था ? उसी समयसे लेकर तमाम दर्शनार्थियों की भीड़ एकत्रित हो गई और सभी फल-फूल चढ़ा-चढ़ाकर नमस्कार करने लगे। उस विद्यार्थी को संयोगवश कई दिनों तक उस कथा मण्डप में ठहरना पड़ा। इतने में इस देव की बहुत बड़ी प्रतिष्ठा बढ़ गई। अन्त में उस ग्राम के मुखिया ने सोचा कि अच्छा अब यहां पर एक देवालय बन जाना चाहिये, क्योंकि यहां पर भगवान् स्वयं प्रकट हुये हैं। फिर क्या कहना ? थोड़े ही समय में ईंटा पत्थर इकट्ठा हो गया और जुड़ाई भी प्रारम्भ हो गई। तत्पश्चात् जब वह छात्र वापिस आकर अपना जूता तलाश करने के लिये लोगोंसे पूछा तो सभी ने कहा कि यहां तो भगवान् स्वयं प्रकट हुये हैं यहां पर जूता-सूता कहां से आया ? किन्तु जब किसी तरह लोगों ने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया तब उस छात्र ने कहा कि अच्छा यदि ऐसा है तो हमारी और आप लोगों की सौ-सौ रुपये की बाजी लगाई जाय। यदि इसके नीचे से जूता नहीं निकला तो हम आप लोगों को सौ रुपया जुर्माना देंगे, पर यदि निकल गया तो आप लोगों को देना होगा। निदान में यह शर्त लोगों ने स्वीकार कर ली और नींव को खोदकर जैसे ही देखा गया कि सच-मुच में सुरक्षित जूता निकल आया और लोग अपनी मूर्खता पर बारम्बार धिक्कार करने लगे।

जैन-धर्म परीक्षा-प्रधानी है। वह परीक्षा किये बिना किसी को भी न तो नमस्कार ही करता है और न किसी अन्य कुगुरु कुदेव की पूजा-आराधना ही करता है।

मोहनीय-कर्म बड़ा प्रबल है

राजा यशोधर ने रात्रि में जब अपनी रानी का दुश्चरित्र स्वयं अपनी आंखों से देखा तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। पहले तो उन्होंने सोचा कि रानी को तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर दूं, पर पुनः तत्क्षण ही उनका भाव परिवर्तित हो गया। उन्होंने सोचा कि जब हमें अपना आत्म-कल्याण करना है तो व्यर्थ में इसे मारकर क्यों पाप की गठरी सिर पर धरें ? अतः चुप-चाप प्रातःकाल उठकर जंगल की ओर चलने के लिये प्रस्तुत हो गये। रानी ने सोचा कि राजा ने हमारा दुष्कर्म अपनी आंखों से देख लिया है। तभी तो अकारण जंगल में चलने के लिये तैयार हुये हैं। यदि ये जीवित रहे तो कभी न कभी हमारी खबर अवश्य लेंगे। इसलिये इन्हें किसी प्रकार मारकर निष्कंटक आराम भोगना चाहिये। ऐसा सोच कर उसने अपने त्रियाचरित्र का षड्यन्त्र इस प्रकार रचना प्रारम्भ किया :—हे नाथ ! यदि आप जंगल को जाना चाहते हैं तो मैं यहां पर अकेली क्या करूंगी ? अतः मुझे भी अपनी सेवामें साथ ले चलिये। लेकिन हमारी माता ने कुछ लड्डू खाने के लिये भेजा है। उसे आप थोड़ा-सा खा लें और हम भी खा लें, फिर बाद में चलें। राजा यशोधर ने सोचा कि जब हमें आत्म-कल्याण करने के लिये चलना है तो व्यर्थ में राग-द्वेष क्यों करें ? ऐसा सोचकर वे लड्डू खाने के लिये तैयार हो गये। रानी ने एक लड्डू में

विष मिला रक्खा था, जिसे कि राजा को खाने के लिये दे दिया। राजा उसे खाते ही मूर्च्छित हो गया। कुछ लोग जो राजा के हितैषी थे वे वैद्य को बुलाने के लिये गये, किन्तु रानी ने झूठा प्रेम प्रदर्शित करके राजा के गले में चिपटकर उन्हें मार डाला। यह मोह का ज्वलन्त उदाहरण मौजूद है, किंतु फिर भी लोगों की आंखें नहीं खुलतीं। लोग सांसारिक झंझटों में इतने अधिक उलझे हुये हैं कि उन्हें क्षण मात्र भी धर्माराधन के लिये समय नहीं मिल पाता।

सांसारिक जीवों की उपमा लड्डू तथा रेश के घोड़े से उपमा दी गई है। जिस प्रकार धोबी का गदहा केवल घाट और धोबी के घर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानता। वह रात-दिन बोझा ही ढोता रहता है उसी प्रकार घरेलू प्रपंचों में आसक्त हुआ जीव रात-दिन पुत्र, पौत्रादिक का भार वहन करता हुआ नमक, मिर्च आदि की सामग्री संचित करता रहता है। और रेश का घोड़ा जैसे लाखों रुपयों को कमाने के लिये खूब लम्बी दौड़ लगाता रहता है उसी प्रकार ऐहिक सुखों का लोलुपी मनुष्य बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली आदि में अनेक दूकानों को खोलता रहता है। पर जैसे रेश का घोड़ा कदाचित् ठोकर खाकर गिर पड़े तो उसकी हड्डी चूर-चूर हो जाती है उसी प्रकार प्रचुर धनों का संचय करनेवाला मनुष्य यदि दिवाला निकाल लेता है तो उसका कहीं ठिकाना नहीं लगता।

अतः आचार्य कहते हैं कि हे जीवात्मन्! तुम यदि अपना कल्याण करना चाहते हो तो सच्चे देव गुरु शास्त्र की पहचान करके संसार से अनासक्त होकर उन्हीं की उपासना करो।

स्थान :— तिथि : जेष्ठ बदी ८ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर बेलगछिया, कलकत्ता। ता० ११-५-५८

अरहन्त भगवान् को नमस्कार

घाइचउक्कह किउ विलउ अणंतचउक्कपदिट्ठु।
तहिं जिणइन्दहं पय णविवि अक्खमि कव्वु सुइट्ठु ॥ १ ॥

यहां सबसे पहले सिद्ध भगवान् को नमस्कार करने के बाद में अरहन्त देवको नमस्कार किया। सिद्ध भगवान् को नमस्कार करने का हेतु यह है कि :—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोस्तु परमात्मने ॥

सिद्ध भगवान् ने सर्व कर्मों का क्षय करके स्वयं अपने स्वभाव का प्रकाश किया है। उस परमात्मा को नमस्कार किया है। क्योंकि यह सिद्ध भगवान् सम्पूर्ण आठों कर्मों का नाश करके निर्लेप, निरञ्जन अर्थात् कर्म अञ्जन से रहित हैं और पुनः कर्म- मल में लिप्त न होनेवाले हैं तथा सम्पूर्ण कार्यों से कृत-कृत्य हैं। इसलिये सिद्ध भगवान् इन सांसारिक प्राणियों को उपदेश देकर सन्मार्ग प्रदर्शित नहीं कर सकते हैं, किन्तु समस्त संसारी मानव प्राणी सिद्ध भगवान् के सुख की ही कामना करते हैं और उन्हीं के समान अजरामर बनना चाहते हैं तथा संसार बन्धन से छूटना चाहते हैं। सिद्ध भगवान पूर्ण-रूप से छूटे हुये हैं वे पुनः बन्धन में बंधनेवाले नहीं हैं इसलिये उनको नमस्कार किया है।

अरहन्त भगवान् आठों कर्मों में से चार घाति कर्म को नष्ट कर चुके हैं और चार अघाति कर्म अभी शेष हैं। अरहन्त भगवान् में तीनों योग में से उपाचार से काययोग शेष है। इसलिये इनको सयोगी अरहन्त केवली भगवान् कहते हैं और भव्य जीवों को अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा कल्याणकारी उपदेश देते हैं। इनके द्वारा भव्य संसारी जीवको सच्चा आत्म-कल्याणका मार्गको प्राप्त करके शुद्धात्मा की प्राप्ति सुलभता से होती है वे भी एक सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं।

भावार्थ—अरहन्त पदधारी भगवान् तेरहवें गुणस्थान में सयोगी जिनेन्द्र कहलाते हैं। जब ये अज्ञानी संसारी जीव केवली भगवान के पास जाकर के उनके द्वारा कहे हुये तत्व को मनन कर मिथ्यात्व कर्म को, जो अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ है, उसका उपशम, क्षय, या क्षयोपशम करके सम्यक्त्व को प्राप्त कर मोक्षगामी बन जाता है।

तात्पर्य यह है कि दर्शन मोहनीय के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व इन तीन, तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार चारित्र मोहनीयके कुल मिलाकर सातों प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। उक्त सातों प्रकृतियों के क्षय से होनेवाले सम्यक्त्व को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। तथा उक्त सातों प्रकृतियों से सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय बिना फल दिये झड़ जाना और उन्हीं का सद्वस्थारूप उपशम और देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षयोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसके होने पर चल मल और अगाढ़ ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं जो सम्यक्त्व में निर्मलता नहीं आने देते। इन तीनों प्रकार के सम्यक्त्वों में से कोई भी सम्यक्त्व जब यह जीव अपने पुरुषार्थ से केवली जैसे महान् परमात्मा के दिव्य-ध्वनि रूप निमित्त को प्राप्त कर अपनी आत्मा में प्रगट कर लेता है तब यह जीव मोक्षमार्गी कहलाने लगता है। बिना सम्यक्त्व के यह जीव अनन्त संसारी ही बना रहता है। अतः सम्यक्त्व को प्राप्त करना ही प्रत्येक मानव का परम कर्तव्य है। यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति तथा स्थिति और वृद्धि एवं अविनश्वर मोक्षरूप फल की प्राप्ति सर्वथा असम्भव ही है। जैसे बिना बीज के वृक्ष की उत्पत्ति, मौजूदगी और उसकी वृद्धि तथा फल की प्राप्ति होना किसी प्रकार से सम्भव नहीं है

वैसे ही सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति भी दुर्लभ ही है। अतः मोक्ष की प्राप्ति होना बिलकुल ही असम्भव है। इसलिये जो मनुष्य संसार चक्र से निकलना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सबसे पहले अपनी आत्मा में आत्म-श्रद्धा को आत्म-विश्वास को जागृत करें, क्योंकि बिना आत्म-श्रद्धान के दुःखों से छूटना किसी प्रकार से नहीं हो सकता। इसलिये हे भव्यात्माओ! तुम अपने को पहचानो! बिना अपनी पहचान के तुम्हें अपने में स्थिति किसी भी तरह से नहीं हो सकती। इसके लिये तुम्हें प्रारम्भ में सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु का श्रद्धान करना चाहिये। उनकी भक्ति करनी चाहिये और उनका ही नाम जपना चाहिये।

क्योंकि जीव चौथे अविरत गुणस्थान में जब आता है तब वह जिन कहलाने लगता है। क्योंकि उसने अनन्त संसार का कारण जो दर्शन-मोह एवं चारित्र-मोह की प्रथम चौकड़ी अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि को जीत लिया है उसका उद्देश्य पलट गया है। उसके भीतर निर्वाण पद प्राप्त करने की तीव्र रुचि पैदा हो गई है। क्षायिक सम्यक्त्वी जीव श्रावक या मुनि होकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक धर्म-ध्यान का अभ्यास पूर्ण रूपसे करता है। फिर क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर दशवें सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थान के अन्त में चारित्र मोहनीय को सर्व प्रकार के क्षय करके बारहवें गुणस्थान में क्षीण-मोह जिन होता है।

चौथेमें बारहवें गुणस्थान तक जिन संज्ञा है। फिर बारहवें के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों शेष घाति कर्मों का क्षय करके तेरहवें सयोगी गुणस्थान में केवली जिनेन्द्र कहलाता है। इस गुणस्थान में चारों घातिया कर्मों का सर्वथा अभाव है। उनके अभाव से क्रमशः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग और अनन्त वीर्य क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक चारित्र ये नव लब्धियां प्राप्त होती हैं। सम्यक्त्व और चारित्र को अनन्त सुख में गर्भित किया है। इस प्रकार अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय में शेष क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग का अनन्त वीर्य में और क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र का अनन्त सुख में अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र के बिना अनन्त सुख नहीं मिल सकता।

अरहन्त भगवान् सयोग केवली अवस्थामें धर्मोपदेश करते हैं। उनकी दिव्य-वाणी का अद्भुत प्रकाश पड़ता है। जिसका भाव समवशरण में उपस्थित सभी देव मनुष्य और तिर्यञ्च अपनी-अपनी भाषाओं में समझ लेते हैं। सबका भाव उनकी दिव्य-वाणी को सुनकर अत्यन्त ही निर्मल हो जाता है। जिस समय भगवान् अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा वस्तु-तत्व का उपदेश करते हैं उस समय उसी वाणी को धारणा में रखकर चार ज्ञान के धारक गणधर देव द्वादशांग श्रुत की रचना करते हैं। क्योंकि भगवान् अपनी आत्माके अनादि काल से निज स्वरूप को घात करनेवाले चारों घातिया कर्मों को नाशकर अनन्त चतुष्टय से मण्डित हैं और साक्षात् सम्पूर्ण चराचर वस्तु को अवलोकन कर एवं जानकर भव्य जीवों

को समझाते हैं। इसलिये उनके वचन में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। इसी बात को समन्तभद्र स्वामी ने स्पष्ट करते हुये कहा है कि :—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥

अर्थात् जो राग-द्वेष काम क्रोधादि महान् दोषों से रहित हो, सर्वज्ञ हो तथा आगम का ईश हो वही आप्त हो सकता है। बिना इनके आप्तता अर्थात् सच्चा देवपना सम्भव नहीं है। इसलिये इन वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी प्रभु की वाणी में जो द्वादशांग श्रुत की रचना गणधर देव के द्वारा की जाती है वह पूर्णतः सत्य है, यथार्थ है। और उसी के आधार से आगे-आगे के आचार्यों द्वारा जो शास्त्र की रचना की जाती है वह अक्षरशः सर्वज्ञ वाणी को लिये हुये रहती है। अतः वह भी पूर्वापर विरोध रहित होने से पूर्ण तरह से वस्तु तत्व का स्वरूप यथार्थ ही कहती है। इस प्रकार आचार्य परम्परा से जगत में सम्यग्ज्ञान का प्रचार और प्रसार होता है। इसके मूल वक्ता अर्हन्त भगवान् ही हैं। अतः यह सब तरह से जीव मात्र का कल्याण करता है। अतएव परमोपकारी अर्हन्त परमेष्ठी को अनादि महा-मूल मन्त्रमें सबसे पहले नमस्कार किया गया है। फिर सिद्धोंको नमस्कार किया गया है। अरहन्त पदधारी तीर्थङ्कर पदधारी, केवली और सामान्य केवली दोनों होते हैं। तीर्थङ्कर नाम-कर्म की एक विशेष पुण्य प्रकृति है। जिसे दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं को भानेवाले महा पुरुष ही बांधते हैं और वे ही तीर्थङ्कर पदको प्राप्त करते हैं। ऐसे तीर्थङ्कर परिमित होते है। भरत और ऐरावत क्षेत्रमें हरेक उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल में चौबीस-चौबीस ही होते हैं। कम बढ़ती नहीं। विदेह क्षेत्र में ही निरन्तर बीस तीर्थङ्कर विद्यमान रहते हैं। हां, वहा विदेह क्षेत्र में अधिक से अधिक १६० तीर्थङ्कर हो सकते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र के तीर्थङ्कर पांच कल्याणकों के धारक होते हैं, क्योंकि वे तीर्थङ्कर प्रकृति को बांधकर ही माता के गर्भ में आते हैं। विदेह क्षेत्र में कोई श्रावक, श्रावक अवस्था में तीर्थङ्कर प्रकृति को बांधते हैं। उनके तीन कल्याणक तप, ज्ञान और निर्वाण होते हैं। किन्हीं के मुनि अवस्था में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है। वे ज्ञान और निर्वाण इन दो कल्याणकों को धारण करते है। तीर्थङ्कर प्रकृति के कारण ही समवशरण की रचना होती है।

समवशरण

समवशरण स्तोत्र में कहा है कि :—

ऋषिकल्पजवनितार्या ज्योतिर्वनभवनयुवतिभावनजाः।
ज्योतिष्ककल्पदेवा तिर्यञ्चो वसन्ति तेष्वनुपूर्वम् ॥

अर्थात् उन बारह सभाओं में क्रम से ऋषि गण, स्वर्गवासी देवियां, आर्यिका, साध्वी, ज्योतिषियों की देवियां, व्यन्तर देवियां, भवनवासी देवियां, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिषी देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यञ्च बैठते हैं। इससे सिद्ध है कि आर्यिकाओं की सभा श्राविकाओं से भिन्न होती है। उनकी मुद्रा श्वेत वस्त्र पीछी और कमण्डलु सहित निराली ही होती है। शेष श्राविकायें और अन्य स्त्रियां मनुष्य के ११ वें कोठे में बैठती हैं और तिर्यञ्च तथा तिर्यञ्चिनी अपने बारहवें कोठे में बैठती हैं।

सामान्य केवली

सामान्य केवली की सिर्फ गन्ध कुटी होती है। उनका शरीर परमौदारिक होता है। सप्त धातुओं से रहित स्फटिक मणि के समान स्वच्छ होता है। जिसकी स्थिति कवलाहार के बिना स्वतः आनेवाले अनन्तानन्त पुद्‌गल परिमाणों से होती है। जैसे वृक्षों की पुष्टि लेपाहार से होती है वैसे ही अर्हन्त परमेष्ठी के परम औदारिक शरीर की भी पुष्टि नौ कर्माहार से अलग ही पुद्‌गल परमाणुओं से होती रहती है। इसके शरीर की छाया नहीं पड़ती नख केश नहीं बढ़ते। जैसा कि आप्त स्वरूपमें कहा है :—

नष्टं छद्‌मस्थ विज्ञानं, नष्टं केशादिवर्द्धनम्।
नष्ट देहमलं कृत्स्नं नष्टे घातिचतुष्टये ॥

अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों के नाश होने पर क्षायोपशमिक ज्ञान का अभाव हो जाता है, क्योंकि क्षायिक ज्ञान (केवलज्ञान) के रहते हुये उक्त प्रकार के ज्ञान नहीं रहते। केवलज्ञान के होते ही केवली भगवान् के नख केशों का बढ़ना बन्द हो जाता है और शरीरके सारे मल भी निर्मूल (सर्वथा) नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् उनका शरीर परम औदारिक हो जाता है। जिसमें निगोद जीव भी नहीं रहते।

नष्टं मर्यादविज्ञानं, नष्ट मानसगोचरम्।
नष्टं कर्ममलं दुष्टं नष्टो वर्णात्मको ध्वनिः ॥

अर्थात् केवली भगवान् के मर्यादित-द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा सीमा की अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उनका ज्ञान अनन्त और असीमित है। मन की अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान (मानसिक ज्ञान) भी उनके सर्वथा असम्भव है। घातिया कर्म रूप मल भी पूर्णतया निर्मूल हो जाने से नहीं रहता। उनके अक्षरात्मक ध्वनि भी नहीं होती, क्योंकि अक्षरात्मक-ध्वनि नियत कण्ठतालु आदि स्थानों से ही होती है जब कि भगवान् केवली की ध्वनि सर्वाङ्ग से होती है।

नष्टाः क्षुत्तृट्भयस्वेदाः नष्टं प्रत्येकबोधनम् ।
नष्टं भूमिगतं स्पर्शं नष्टं चेन्द्रियजं सुखम् ॥
नष्टा सदेहजा छाया नष्टा चेन्द्रियजा प्रभा ।
नष्टा सूर्यप्रभा तत्र सूतेऽनन्तचतुष्टये ॥

अर्थात् अर्हन्त प्रभु के क्षुधा (भूख) तृट् (प्यास) भय, स्वेद (पसीना) नाश को प्राप्त हो चुके हैं। उनके क्रमिक (क्रम-क्रम से होनेवाला) ज्ञान भी नाश को प्राप्त हो चुका है। अब वे भूमि का स्पर्श भी नहीं करते हैं। उनके इन्द्रियों से पैदा होनेवाला ज्ञान भी अब नहीं रहा, क्योंकि उनका ज्ञान आत्म सापेक्ष (निरावरण) है। जिसमें इन्द्रिय जन्य आदि किसी भी बाह्य पदार्थ की सहायता की अपेक्षा नहीं होती है। श्री अरहन्त प्रभु के शरीर की छाया नहीं पड़ती और इन्द्रियोंसे पैदा होनेवाली कान्ति भी नहीं होती। उनके शरीर के तेज के समक्ष सूर्य का तेज भी फीका पड़ जाता है। अर्थात् उनके शरीर का तेज सूर्य के तेज से भी अधिक हो जाता है। क्योंकि उनके अनन्त चतुष्टय प्रकट हो चुके हैं।

सदा स्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयम्वपुः ।
जायते क्षीणदेहस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥
सकलग्राहकं ज्ञानं युगपद्दर्शनं सदा ।
अव्याबाधसुखं वीर्यं तदाप्तस्य लक्षणम् ॥

अर्थात् केवली भगवान का शरीर सर्वदा स्फटिक मणि के समान स्वच्छ और सूर्य से भी अधिक तेजोमय होता है। उनके शरीर में सप्त धातुओं का भी बिलकुल अभाव हो जाता है। उनका ज्ञान एक साथ सभी पदार्थों को जानता है अर्थात् तीन लोक और तीन काल के अनन्तानन्त पदार्थों के अनन्तानन्त गुण और उनकी भूत भविष्यत् तथा वर्तमान काल सम्बन्धी अनन्तानन्त पर्यायों को वे भगवान अपने अनन्त क्षायिक ज्ञान से युगपत् जानते है। इसी प्रकार उनका अनन्त दर्शन क्षायिक दर्शन भी युगपत् सभी पदार्थों को देखता है। उनका सुख निराकुल है और बाधा रहित तथा अनन्त है। इसी प्रकार उनका बल भी अनन्त अविनाशी है। अतएव वे अरहन्त प्रभु आप्त कहे जाते हैं। उनमें आप्तता के उक्त लक्षण स्पष्ट रूप से पाये जाते है।

क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहस्य चिन्तनम् ।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदो खेदो मदो रतिः ॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादशध्रुवाः ।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।
विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः ॥

तात्पर्य यह है कि तीन जगत के सभी प्राणियों के साधारण रूप से क्षुधा (भूख) तृषा (प्यास) भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मरण, स्वेद (पसीना) खेद मद (अहंकार) रति (प्रेम) विस्मय (आश्चर्य) जन्म निद्रा विषाद ये अठारह दोष पाये जाते हैं। उक्त दोषों से जो सर्वथा रहित हैं। इसके विपरीत जिनके उक्त दोष पाये जाते हैं—वे संसारी कहे जाते हैं—यह निर्विवाद है।

पुव्वण्हे मज्झण्हे अव्वण्हे मज्झिमायरत्तीए।
छह छह घड़िया णिग्गयदिदिवज्झुण्णी कहइ सुत्तथं ॥

अर्थात् भगवान अरहन्त सर्वज्ञ देव की वाणी पूर्वाह्न, प्रातःकाल, मध्याह्न, दोपहर अपराह्न और अर्ध रात्रि के समय छह-छह घड़ी तक खिरती है; ऐसा सिद्धान्त का सूत्र है। तात्पर्य यह है कि तेरहवें गुण स्थानवर्ती केवली तीर्थङ्कर प्रभु की दिव्य-ध्वनि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को दिन में तीन बार और रात्रि में एक बार कुल चार बार छह-छह घड़ी के हिसाब से कुल २४ घड़ी तक खिरती है। तेरहवें गुणस्थान को सयोगी केवली गुणस्थान कहा गया है। उसका कारण योग का सद्भाव है। इसलिये वहां दिव्यध्वनि होती है और जो कर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता रहता है, जिससे आत्मा के प्रदेशों में चंचलता होती है; इसका कारण सात प्रकार का योग होता है। वे सात योग निम्न प्रकार के हैं। सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचन योग, अनुभय वचन योग, औदारिक काय योग और केवली समुद्घात में होनेवाला औदारिक मिश्र काय योग और कार्माण काय योग। इस गुणस्थान में भाव मन का योग नहीं होता है। क्योंकि यहां श्रुत ज्ञान चिन्ता तर्क का कोई काम नहीं होता है।

मनोवर्गणा का ग्रहण होने पर द्रव्य मन में परिणमन होता है इसी अपेक्षासे मनो योग कहा है। इस गुणस्थान का काल आयु कर्म के बराबर है; हां, यह अवश्य है कि अ इ उ ऋ ऌ इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण का काल इसमें नहीं जोड़ा जाता है। क्योंकि वह अयोगी चौदहवें गुणस्थान का काल माना गया है। अन्त के दो समयों में अघातिया कर्मों की ८५ प्रकृतियों का नाश करके अयोगी जिन सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से अष्ट कर्मों को नष्ट करके अरहन्त परमेष्ठी ही सिद्ध परमेष्ठी हो जाते हैं। जो अनन्त काल तक निरञ्जन अवस्था में ही विराजमान रहते हैं। यह निरञ्जन अवस्था ही परमात्म अवस्था है और इसी का ध्यान करके ही भव्य प्राणी संसार समुद्र से पार हो जाते हैं। अतः ऐसे अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान प्रत्येक संसारी प्राणी को संसार समुद्र से पार होने के लिये करते रहना चाहिये। यह परमात्म अवस्था प्रत्येक प्राणी के सामान्य रूप से शक्ति की अपेक्षा सम्भव है। उसकी व्यक्तता उक्त प्रकार से ही हो सकती है। ऐसा समझकर हर एक को उनके ध्यान में लगना चाहिये। यही परमात्मा संसारी भव्य जीवों को अपने सदुपदेश द्वारा निरपेक्ष रूप से उपदेश देकर संसार से मुक्त कर सकते हैं। इसलिये सच्चे आप्त श्री भगवान महावीर ने सन्मार्ग बतलाने के लिये समस्त विश्व में अपनी वाणी का प्रचार कर जगत् का कल्याण किया, तथा सच्चा सुख का मार्ग बतलाया। इसलिये उन्हीं का सहारा भव्य जीवों को लेना ही आत्म-कल्याण का मार्ग है।

स्थान :—
श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : जेष्ठ बदी ९ सं० २०१५
ता० १२-५-५८

क्या मनुष्य पर्याय इन्द्रिय भोगों के लिये है ?

संसारी मानव की आत्मा इन्द्रिय के भोगों में फँसकर अनेक भांति के दुःख उठा रही है। इतने दुःख होने पर भी वह जानता है कि इसके अलावा इस आत्मा को सुख देनेवाला कोई नहीं है। अगर सुख है तो एक मात्र इन्द्रियों के विषयों में ही है। इसी मान्यता या धारणा के कारण ही यह मानव विषयानुरागी होकर आत्म स्वरूप से विमुख हो रहा है। इसकी दशा चूहे के समान हो रही है जो निरन्तर प्रातः से सायं तक लगातार अन्न के दानों के संग्रह (जोड़ने) में ही लगा रहता है। वैसे ही यह मानव एक मात्र रुपया पैसा आदि के जोड़ने के लिये देश-देशान्तरों में घूमता फिरता है। उसे तो रुपया पेसा कमाने की धुन सवार रहती है। न्याय, अन्याय, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, भक्ष्य, अभक्ष्य, हित, अहित, भलाई, बुराई, नीच, ऊंच व्यवहार आदि का कोई विचार नहीं रहता। ऐसी स्थिति में आत्म-स्वरूपके विचारके लिये तो उसे समय ही नहीं मिलता; तब बताइये आत्म-कल्याण हो तो कैसे हो ? अपनी ख्याति पूजा तथा प्रतिष्ठा पाने के लिये सभी तरह की कामनाएं करता है। किन्तु पुरुषार्थ करना नहीं जानता। जैसे एक सेठ के यहां एक नौकर को नौकरी तो मिल गयी, परन्तु उसकी नौकरी में उसे बड़ी ही परतन्त्रता का सामना करना पड़ता था। वह अपनी इच्छानुसार खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना, चलना, फिरना, सोना, उठना, बैठना आदि कुछ भी नहीं कर सकता था। इस तरह से वह उस दासता से घबड़ा उठा, बेचैन हो गया। अतः वह स्वयं जागीरदार बनने की चाह करने लगा। उस समय उसके पास जो कुछ भी रुपये पैसे थे उन्हें लेकर वह राजस्थान में गया। वहां का नियम बड़ा विचित्र था। जो जितना दौड़ ले उतनी जमीन उसकी हो जाती। उसने भी आधी रात से लेकर दौड़ना प्रारम्भ कर दिया और सारा दिन बिना भोजन-पान के ही बिता दिया। साम को वह खूब थक कर गिरा और मर गया। अन्त में १५ हजार रुपये में उसे केवल साढ़े तीन हाथ जमीन हाथ लगी। यही हाल संसारी मानवों का हो रहा है कि वह धन के कमाने में अपना सारा जीवन लगा देते हैं। और मरते समय जो कुछ कमा कर छोड़ जाते हैं वह उनके साथ नहीं जाता है। हां, उस धन के कमाने में जो कुछ भी पाप करने पड़े वे जरूर ही उसके साथ जाते हैं जो दूसरे जन्म में भी तरह-तरह के दुःख देते हैं। अतः जो मानव सुखी होना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अपने इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को धर्म कार्यों में लगाकर सफल करें। धर्म ही आत्मा का रक्षक है अन्य कोई नहीं।

मनुष्य जीवन की सफलता

मनुष्य जीवन की सफलताके सम्बन्धमें श्री रत्नाकरजी कवि क्या कहते हैं; जरा ध्यानसे सुनिये :—

कानड़ी रत्नाकर शतक

तनुवं संघद सेवे योळ् मनममात्म ध्यानदभ्यास दोळ् ।
धनमं दान सुपूजेयोळ्दिनमनर्हद्धर्म कार्यप्रव- ॥
र्तनेयोळ्पर्ववनोल्दु नोंपिंगळोळ्चिदायुष्यगं मोक्षचिं- ।
तने योळ्तीर्चुव सद्गृहस्थ न नघं रत्नाकरा धीश्वरा !

अपने शरीर को मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका— इस चतुर्विध संघ की सेवा में लगाना मन को ध्यान के अभ्यास में, भगवान् की स्तुति में, उनके गुणानुवाद में लगानेवाला, द्रव्य को जिन बिम्ब की प्रतिष्ठा में जिनालय बनाने में, जीर्णोद्धार कराने में, शास्त्र लेखन में, तीर्थ क्षेत्र पूजा में खर्च करने में, दिन को जैन-धर्म के प्रचार कार्य के प्रवर्त्तन में, शेष समय को प्रेमपूर्वक पर्व तिथि अष्टमी, चतुर्दशी व्रत नियम इत्यादि में बितानेवाला, बची हुई आयु को मोक्ष की चिन्ता में समय व्यतीत करनेवाला सद्गृहस्थ पाप से रहित होता है।

शरीर का सदुपयोग

यह शरीर समय-समय पर निर्बल और सबल, निरोग और सरोग, सुरूप और कुरूप होता रहता है। साथ ही साथ किसी रोगादिक की अधिकता होने पर इसका असमय में वियोग भी हो जाता है। जो यथा समय देखने में आता रहता है। अतः ऐसे नश्वर शरीर को यदि मनुष्य किसी भी प्राणी की रक्षा में, उसकी भलाई में अथवा व्रती पुरुषों की वैय्यावृत्य में उनकी सेवा-टहल में लगा दे तो उसका शरीर पाना सफल होगा।

भगवान् उमा स्वामी ने जहां साता वेदनीय के आस्रव का वर्णन किया है वहां चतुर्गतियों के जीवों पर अनुकम्पा (दया) करना व्रतियों पर भी उनके अनुकूल दयाका बर्ताव करना व्रतियोंमें देश व्रती और महा व्रती श्रावक और मुनि, श्राविका और आर्यिका सभी आ जाते हैं। उन पर यदि किसी प्रकार का मानसिक वाचनिक आकस्मिक या दैविक कोई कष्ट या उपसर्ग उपस्थित हो तो उसे दूर करने के लिये किसी भी धर्मपरायण श्रावक को अपना शरीर ही नहीं बल्कि मन, वचन, धन आदि सभी का सदुपयोग करना नितान्त आवश्यक है, ऐसा करने से उसे साता वेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों का आस्रव अवश्य ही होता है।

विवेचन :—जिस प्रकार दिनकर के बिना दिन, शशि बिना शर्वरी, रस बिना कविता, जल बिना नदी, पति बिना स्त्री, आजीविका बिना जीवन और लवण बिना भोजन एवं गन्ध बिना पुष्प सारहीन प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार बिना धर्म धारण किये यह मनुष्य जीवन निरर्थक प्रतीत होता है। जो गृहस्थ धर्मपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता है वह सहज ही कुछ समय के उपरान्त निर्वाण लाभ कर लेता है।

परम पद प्राप्ति के दो मार्ग है—कठिन, किन्तु जल्द पहुंचानेवाला और सहज, पर देर में पहुंचानेवाला। प्रथम मार्ग का नाम त्याग है, अर्थात् जब मनुष्य संसार के समस्त पदार्थों से मोह ममत्व त्याग कर आत्म चिन्तन के लिये अरण्यवास स्वीकार कर लेता है तथा इन्द्रियां और मन को अपने आधीन कर अपने आत्म-स्वरूप में रमण करने लगता है तो यह त्याग मार्ग माना जाता है। यह मार्ग सब किसी के लिये सुलभ नहीं, यह जल्द निर्वाण को प्राप्त कराता है, पर है कांटों का। परन्तु इतना सुनिश्चित है कि इस मार्ग से परम पद की उपलब्धि जल्द हो जाती है, यह निकट का मार्ग है। इसमें भय, आशंकायें, पतन के कारण आदि सर्वत्र विद्यमान है। अतएव उपयुक्त मार्ग सन्यासियों के लिये ही ग्राह्य हो सकता है, अतः इसका नाम मुनि-धर्म कहना अधिक उपयुक्त है।

दूसरा मार्ग सरल है, पर है दूरवर्ती। इसके द्वारा रास्ता तय करने में बहुत समय लगता है। परन्तु रास्ते में किसी प्रकार का भय नहीं है। यह फूलों का रास्ता है। कोई भी इसका अवलम्बन कर अपने साध्य को प्राप्त कर सकता है। इस मार्ग का अन्य नाम गृहस्थ धर्म है। गृहस्थ अपने मार्ग का पालन करता हुआ कुछ समय में परम पद का अधिकारी बन सकता है। आसक्ति भाव से रहित होकर कर्म करता हुआ गृहस्थ भरत महाराज के समान घर छोड़ने के लिये तत्पर होता है और एक क्षण के उपरान्त ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। गृहस्थ धर्म का विशेष रूप तो प्रसंगवश आगे लिखा जायेगा, पर सामान्यतया देव पूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय संयम तप और दान इन षट् कर्मोंको गृहस्थ को अवश्य करना चाहिये। जो गृहस्थ अपने शरीर को सदा मुनि आर्यिका, श्रावक और श्राविका इस चतुर्विध संघ की सेवा में लगाता है; अर्थात् जो सतत् अपने शरीर द्वारा गुरु सेवा करता रहता है, साधर्मी भाइयों की सहायता करता है, विपत्तिके समय इनकी संकट से रक्षा करता है वह अपने शरीर को सार्थक करता है। गृहस्थ का परोपकार करना, दूसरों को दुःख में सहायता करना प्रमुख व्यवहार धर्म है। इस शरीर द्वारा भगवान की पूजन करना, वचन द्वारा भगवान् के गुणों का वर्णन करना, उनके स्वरूप का कीर्त्तन करना तथा मन को कुछ क्षणों के लिये संसार के विषयों से हटाकर आत्म-ध्यान में लगाना, स्व-स्वरूप का चिन्तन करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है। उसे अपने धन को मन्दिर बनाने में, मूर्तियों के निर्माण तथा प्रतिष्ठा में, जीर्णोद्धार में, गरीब एवं अनाथों के दुःख को दूर करने में, शास्त्र छपवाने में, धर्म के प्रचार के अन्य कार्यों में खर्च करना चाहिये। यह धन किसी के साथ नहीं जायगा, यहीं रहनेवाला है;

अत: इसका सदुपयोग करना परम आवश्यक है। जो गृहस्थ अपने समय को धर्म सेवन आत्म चिन्तन परोपकार शास्त्राभ्यास में व्यतीत करता है, वही धन्य है।

परन्तु मनुष्य के लिये इतना ही पुण्य कर्म करने से मनुष्य जन्म की सफलता नहीं समझना चाहिये। इसी तरह मानव ने अनादि काल से इस मनुष्य पर्याय को अनेक बार प्राप्त करके दान, पूजा, व्रत, नियम, गुरु की सेवा, परोपकार की भावना, जीव, दया, पालन इत्यादि अनेक प्रकार के धर्म कार्यों को करते हुये पुण्य का बन्ध तो अनेक बार किया है; परन्तु यह पुण्य बन्ध मोक्ष का कारण न होकर अनेक बार इन्द्रिय सुख के भोगने योग्य देव गति, चक्रवर्ती इत्यादि पद को प्राप्त करने के लिये हुआ। परन्तु वहां भी वह सुख क्षणिक होने के कारण सच्चे सुख के लिये न होकर केवल संसार सुख के लिये कारण बन गया। जबतक इस शरीर के द्वारा किया हुआ ज्ञान, पूजा, संयम, व्रत इसके द्वारा होनेवाले जो-जो पुण्य कार्य हैं वे निदान रहित हों, अर्थात् सांसारिक वासनाओं के निदान का कारण न हों, तब यह पुण्यानुबन्धी पुण्य होकर कर्म क्षय करने के लिये निमित्त कारण बन जाता है। वह पुण्य जैसे किसी सोने में अन्य मिश्रित धातु को कसने के लिये या सोने की परीक्षा करने के लिये कसौटी-रूप होकर घिसा जाता है तो उसकी भीतरी चमक निकल आती है। तब यह कसौटी ठीक प्रतीत होती है, यदि ऐसा न हो तो वह कसौटी ठीक प्रतीत नहीं होती है। इसी तरह पुण्यानुबन्धी पुण्य सांसारिक या अन्य देवों की विभूति इत्यादि को प्राप्त कराने का उसमें निदान न हो तो वह पुण्यानुबन्धी पुण्य अनादि काल से आत्मा के साथ दूध और पानी के समान एक क्षेत्र अवगाह रूप अर्थात इस शरीर के साथ मिलकर रहनेवाली आत्मा और शरीर भेद-रूप से कस करके भेद विज्ञान को प्राप्त कर शुद्धात्मा की प्राप्ति करा देनेवाला यह पुण्यानुबन्धी पुण्य इस मनुष्य पर्याय के द्वारा प्राप्त करना इस ज्ञानी मनुष्य का कर्त्तव्य है। यही एक पुण्य शुद्धात्मा की प्राप्ति के निमित्त साधन माना गया है। इसलिये मनुष्य पर्याय को महत्व दिया गया है। अगर मानव ऐसे उत्कृष्ट मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके अपने शरीर, अपने मन और वचन की प्रवृत्ति और आयु, धन, कितने ही शरीर के व्यापार है, जब यह अपने आत्म-साधन में या शुद्धात्मा की प्राप्ति का कारण हो जाता है; इस तरह से मनुष्य यदि अपने मनुष्य पर्याय का मूल नहीं समझता है तो जैसे पशु सड़क पर पड़ा घास आदि खाकर अपना पेट भर लेता है और सड़क पर ही पेशाब आदि करता है, अपनी मनमानी बोलता है; इसी तरह से यदि मानव पशु के समान ही जो मिले खा-पी ले, जहां पाये वहीं पाखाना, पेशाब कर दे, जो मन में आये बोले, इस तरह से पशु के समान आयु को पूर्ण कर देता है; तब वह मनुष्य अपने पर्याय का मूल्य नहीं समझता। इसलिये आचार्य कहते हैं कि—हे संसारी मानव प्राणी! अनादि कालसे तेरे अन्दर पड़ा हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र, रूपी अखण्ड निधि को प्राप्त कर हमेशा सुखी होना चाहते हों तो अनादि काल से पर वस्तु में रमण करते हुये जो पर को अपना मान करके और आप को पर मान करके जो मूढ़ात्मा हो रहे हो

उसी मूढ़ता को त्याग करके तुम अपने स्वरूप की प्राप्ति कर अखण्ड सुख के धनी बन जाना—यही तुम्हें श्रेष्ठ है।

संसार से भयभीत प्राणियों को उपदेश

संसरणमिति संसारः— जिसमें इस जीवको द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव इन पांचोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है, उसे संसार कहते हैं। दूसरे शब्दों में अगर यह कहा जाय कि यह जीव चतुर्गति में चक्कर काटता हुआ नाना प्रकार के कष्ट भोगता रहता है, यही इस जीव का संसार है· तो भी कोई अनुचितता न होगी। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य महाराज निम्न प्रकार से उपदेश कर रहे है कि मैं ससार में डरे हुए और मोक्ष की अभिलाषा रखनेवाले पुरुषों को आत्म-स्वरूप का बोध कराने के लिये एकाग्र मन हो दोहा कहता हूं :—

संसारहं भयभीयाहं मोक्खहं लालसियाहं।
अप्पासंम्मोहणकयइ कयदोहा एक्कमणाहं ॥ ३ ॥

इस तरह से यहां योगीन्द्र देव ने भव्य जीवों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि हे मानव प्राणियों ! चारों गतियों में क्लेश और चिन्ता ही चारों ओर घेरे हुए है। शारीरिक और मानसिक दुःख जीव मात्र को भोगने पड़ते है। जन्म और मरण का महान् क्लेश तो जीवों को चारों गतियों में है। इसके सिवाय नरक में आगम के अनुसार तीव्र मानसिक एवं शारीरिक दुःख इस जीव को भोगने पड़ते हैं। वहा रात-दिन मार-काट के सिवाय और कुछ भी कार्य नहीं है। नारकी परस्पर अपृथक् विक्रिया से क्रूर पशुओं के और नाना तरह के तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों के रूप बनाकर आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं। तीसरे नरक तक तो अम्बावरीष जातिके असुर कुमार देव अपने कुअवधि ज्ञान से नारकियोंके पूर्व जन्म के बैर-भावों को जानकर उन्हें सुझाते रहते हैं। और लड़ाते भी रहते है। इस तरह से अनेक प्रकार के कष्ट वहां सहने पड़ते हैं। इसलिये उस स्थान को नरक कहते हैं। अतएव उसमें रहनेवाले जीवों को नारकी जीव कहते हैं।

तिर्यञ्च गति में तथा अन्य एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय जीवों को भी अपनी-अपनी पर्याय के अनुसार कष्टों को सहना पड़ता है। इसलिये मानव और पशुओं को भी सभी प्रकार के सम्भव दुःख सहने पड़ते हैं। जो हमारे अनुभव में नित्य प्रति देखने में भी आते रहते हैं। यह है नरक पशु और मनुष्य गति के दुखों की कथा। इसी प्रकार से देव गति में रहने वाले जीव भी इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के कारण तरह-तरह के दुःखों से दुःखी रहते हैं। हां यह ठीक है कि देवगति के जीव पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के फलों को भोगते हैं, जो दूसरी गतियों में दुर्लभ है।

परन्तु वे ही भोगासक्त देव जब धर्मसे विमुख हो मरण करते हैं तब वे ही एकेन्द्रिय पर्याय में आकर नाना कष्टों को सहन करते हैं। जिनका वर्णन करना अल्पज्ञानी मनुष्य की शक्ति से बाहर की चीज है। तात्पर्य यह है कि भोग पाप के कारण नहीं है, किन्तु इनमें आसक्ति के परिणाम ही विशेष रूप से पाप के कारण हैं। जैसा कि भगवान समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है। यहां धर्म शब्द से सम्यग्दर्शन और पाप शब्द से मिथ्या दर्शन ऐसा ही अर्थ करना आचार्य को अभीष्ट है। यद्यपि सम्यकदृष्टि भी चारित्र मोह के उदय की प्रेरणा से भोग भोगता है। परन्तु वह उनमें आसक्त या तन्मय नहीं होता किन्तु रोग के प्रतिकार के लिये जैसे रोगी कड़वी से कड़वी औषधि को भी अपनाता है किन्तु भीतर से उसकी इच्छा उस ओषधि को तभी तक लेने की होती है जब तक कि वह उस रोग से मुक्ति नहीं पा लेता, ठीक इसी प्रकार से सम्यग्दृष्टि भी भोगों को मोहोदय की प्रेरणा से अनिच्छापूर्वक ही भोगता है, किन्तु उन्हें उपादेय (ग्रहण करने योग्य) नहीं मानता, किन्तु उन्हें तो वह बन्धन का ही कारण समझता है। अतएव वह भोग भोगते हुए भी स्वपर भेद विज्ञान के बल से उनमें आसक्त नहीं होता है। वह तो उन्हें बन्ध का कारण समझकर हेय ही समझता है। परन्तु मोहोदय की प्रबलतावश वह उनको भोगता भी है, लेकिन स्वरूप से च्युत नहीं होता है। यही मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के भोग भोगने में अन्तर है। जो एक के लिये अनन्त संसार का कारण है, और एक के लिये संवर एवं निर्जरा का कारण है। इसका एकमात्र कारण मिथ्यादर्शन और सम्यकदर्शन ही है। वस्तुतः आत्म श्रद्धा व आत्मज्ञान ही संसार बन्धन से छुड़ाने में समर्थ कारण है। बिना इनके संसार से मुक्ति होना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। अतः जो संसार से छूटना चाहते हैं उन्हें सब से पहले आत्म-श्रद्धान को एवं आत्मज्ञान को अपने में प्रकट करना चाहिये। ऐसा ही आचार्य श्री का उपदेश है।

हे मानव प्राणी! इस गति में इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग रोग दरिद्रता अपमानादि के घोर तथा शारीरिक व मानसिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। यह सभी मानवों को प्रतीत है। देवियों की आयु थोड़ी होती है। देवों की आयु बड़ी होती है। इसलिये देवियों के वियोग का बड़ा कष्ट होता है। मरण निकट आने पर अज्ञानी देवों को भारी दुःख होता है। इस तरह चारों गतियों में दुःख ही दुःख है। संसार में सब से बड़ा दुःख तृष्णा का है। इन्द्रियों के भोगों की लालसा भोगों के मिलने पर ही बढ़ जाती है। इस चाह की दाह से सर्व अज्ञानी जीव या संसारी प्राणी रात-दिन जलते रहते हैं। जब शरीर जरा ग्रस्त व असमर्थ हो जाता है तब भोगोंको भोगने की इच्छा समाप्त हो जाती है। किन्तु तृष्णा बढ़ी हुई ही रहती है। इच्छित भोगों के न मिलने से घोर कष्ट होता है। इष्ट पदार्थों के छूटने से महती वेदना होती है। मिथ्यादृष्टि संसारासक्त प्राणियों को संसार भ्रमण में दुःख ही दुःख है। जब कोई इच्छा पुण्य के उदय से तृप्त हो जाती है, तब कुछ देर सुख-सा प्रतीत होता है। फिर तृष्णा का दुःख अधिक ही हो जाता है। संसार भ्रमण से उदासीन मोक्ष प्रेमी सम्यक्दृष्टि जीवों को संसार में क्लेश कम हो जाता है। क्योंकि वे तृष्णा को जीत लेते हैं। तृष्णा के तीव्र रोग से पीड़ित सर्व ही अज्ञानी प्राणियों को घोर

कष्ट होता है, इसलिये विचारवान भव्य प्राणियों को अपनी आत्मा पर करुणा भाव लाना चाहिये और यह भय करना चाहिये कि हमारी आत्मा संसार के क्लेश को न सहन करे। यह आत्मा भव भव में न भ्रमें। संसार में न पड़े। जन्म जरा-मरण के घोर क्लेश सहन न करे। अगर हे मानव प्राणी! इस तरह अपनी भावना में या अपने भीतर में कही हुई उपयुक्त बातें न उतरे तो जैनाचार्य कहते हैं कि—

एवं अणाइ काले जीवा संसार सागरे घोरे।
परि हिंडए अरहन्तो धम्मं सव्वण्हुपण्णचं॥

ये मानव प्राणी इसी तरह अनादि काल से भगवान् के कहे हुये धर्म को न पाकर के भयानक संसार सागरमें गोते लगाया करता है। श्री अमितगति आचार्यने अपने सामायिक पाठमें कहा है कि—

श्वभ्राणामविसह्यमंतरहितं दुर्ज्यल्पमन्योन्यजं।
दाहच्छेद विभेदनादि जनितं दुःखं तिरश्चां परं॥
नृष्णा रोग वियोग जन्म-मरणं स्वर्गौकसां मानसं।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये॥

भावार्थ :—नारकियों को असहनीय परस्पर कृत अनन्त दु:ख ऐसा होता है कि जिसका पार नहीं। तिर्यञ्चों को जलने का, छिदने का, भिदने का आदि महान दुःख होता है। मानवों को रोग-वियोग जन्म-मरण का घोर कष्ट होता है। देवों को मानसिक कष्ट रहता है। इस तरह सारे जगत के प्राणियों को सदा ही कष्ट से पीड़ित देख कर बुद्धिमान को उचित है कि—इस संसार से मुक्ति पाने की बुद्धि रखना चाहिये।

संसार में तृष्णा महान रोग है। बड़े-बड़े सम्राट् चक्रवर्ती राजे महाराजे भी इच्छित भोगों को भोगते हैं। परन्तु तृष्णा को मिटाने की अपेक्षा उसे अधिकाधिक बढ़ाते जाते हैं। यह दुर्गति में जन्म करा देती है।

इसलिये समन्त भद्रं आचार्य ने अपने स्वयम्भू स्तोत्र में कहा भी है कि :—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिक मेष पुंसां।
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा॥
तृषोऽनुषंगान्न च ताप शान्ति।
रितीद माख्यद् भगवान सुपार्श्वः॥

हे सुपार्श्व भगवान्, आपने यही उपदेश दिया है कि प्राणियों को उत्तम हित अपनी आत्मा को भोग करना है; जो अनन्त काल तक बना रहता है। इन्द्रियों का भोग सच्चा हित नहीं है। क्योंकि

४

वे भोग क्षणभंगुर तथा नाशवन्त हैं; तथा तृष्णा के रोग को बढ़ानेवाले हैं। इनको चाहे कितना भी भोगो लेकिन चाह की दाह शान्त नहीं होती है।

इसलिये संसारी भव्य मानव प्राणियों को इस कष्टमय संसार-रूपी समुद्र से भयभीत होकर मोक्ष पद पाने की लालसा या उत्कण्ठा रखना चाहिये। मोक्ष में सर्व सांसारिक कष्टों का अभाव है। इसलिये उनको निर्वाण कहते हैं। वहां सर्व पर की शून्यता है। परन्तु अपनी आत्मा के द्रव्य के गुण पर्यायों की न्यूनता नहीं हैं। मोक्षमें यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव का सदा काल प्रकाश करता है। अपनी सत्ता हमेशा बनाये रखता है। संसार दशा में शरीर सहित, मोक्ष पद में शरीर रहित हो जाता है। निरन्तर स्वाभाविक आनन्द का पान करता है; और जन्म-मरण से रहित होता है।

जैसे पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में कहा भी है कि :—

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूप समवस्थितो निरुप घातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥ २२३ ॥
कृत कृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयात्मा।
परमानन्द निमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥ २२४ ॥

परम पुरुष मोक्ष के परम पद में सदा ही कर्मों का निर्लेप व निर्बाध व स्व-स्वरूप में स्थिर होकर आकाश के समान प्रकाशमान रहते है। वे परमात्मा अपने पद मे कृत-कृत्य सर्व जानने योग्य विषयों को जानकर सदा परमानन्द में मग्न रहते हैं। अर्थात् वे सर्वदा सर्व दुःखोंसे रहित सभी बाधाओं से रहित सुखमय निराकुल अवस्था में मग्न रहते हैं। परन्तु जबतक मानव का दृष्टिकोण आत्मा के हित के लिये नहीं है तबतक केवल इस जड़ शरीर की इच्छानुसार यत्र-तत्र परिभ्रमण करता चला आ रहा है। कहा भी गया है कि :—

चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।

मानव जीवन में सुख और दुःख गाड़ी के पहिये के समान सदा घूमते रहते हैं। कभी दुःख आ जाता है तो कभी सुख भी आ जाता है, यही जीवन का माधुर्य है। इससे सुख दुःख को समझने की प्रेरणा मिलती है। जब सुख और दुःख दोनों मिलकर हमारे जीवन को बनाने के लिये तैयार हो जाते हैं तो जीवन की श्रेष्ठता हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती है। उदाहरणार्थ—आकाश काले-काले मेघों से आच्छादित हो और सूर्य-चन्द्र छिपे हों यानी एक क्षण भी बाहर न निकलकर सारी रात उसी में छिपा रहना पड़े तो वह चाँद सुन्दर नहीं मालूम होता। इसके अलावा जब आकाश परम निर्मल हो जाता है तब हमारे मन में किसी भी पर-पदार्थ की प्रेरणा नहीं मिलती। किन्तु जब आकाश में मेघ की घटायें थोड़ी रहतीं हैं तब सूर्य-चाँद लुक-छिप कर दिखाई देता है। तब वह दृश्य बड़ा ही

मनोहर प्रतीत होता है। उसको देखने के लिये मनुष्य घण्टों टकटकी लगाये रहता है; और मनुष्य को प्रकृति की ओर से एक अद्‌भुत प्रेरणा प्राप्त होती है।

इसी तरह यही बात हम मनुष्य के जीवन में भी देखते हैं। मनुष्य का जीवन भी सुख और दुःख के साथ इधर-उधर लुका-छिपी करता रहता है। वह कभी सुख में आता है तो सुख में आने के लिये प्रयत्न करता है। पर सुख में आते ही देखते ही देखते सुख पुनः काली घटा के समान विलीन हो जाता है।

इस प्रकार का क्रम जीवन में निरन्तर चलता रहता है। लाखों प्रयत्न करने पर भी इस सुख दुःख के अनिवार्य चक्र से नहीं बच सकता, जब यह प्राणी अपने सुख दुःख-रूपी रहट से हटकर अपनी ओर आता है; तो अपने-आप बाहरी दृष्टि को बन्द करके अपनी निजात्मा की ओर रमण करने लगता है। यही ज्ञानी जीवों का स्वरूप है।

श्री समन्त भद्राचार्य ने भी कहा है कि :—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशंकं।
काष्ठागतसुखविद्या विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः॥

सम्यग्दृष्टि महात्मा परमानन्द व परम ज्ञान की विभूति से पूर्ण आनन्द को प्राप्त करते हैं। जहां जरा नहीं, वृद्ध अवस्था नहीं, चिन्ता नहीं, क्षय नहीं, बाधा नहीं, शोक नहीं तथा भय नहीं वहां किसी प्रकार का दुःख नहीं होता। यही शुद्धात्मा का स्वरूप है।

विशेष विवेचन :—जब यह आत्मा अपने सत्पुरुषार्थ से परोन्मुखी दृष्टि का परित्याग कर स्वोन्मुखी दृष्टि को अपनाता है तब यह आत्मदृष्टि बन जाता है। आत्मदृष्टि बनना ही संसार संतति का समूल विनाश करने का साधन है। बिना सम्यक्‌दृष्टि या आत्म-दृष्टि के सम्यक्‌ज्ञान रूप महा विद्या की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। इन सबका मूल बीज सम्यग्दर्शन ही है। जैसे बीज के बिना वृक्ष का पैदा होना सर्वथा असम्भव है और जब वृक्ष ही नहीं तब उसकी बढ़ती होना उसमें शाखाओं प्रशाखाओं पत्र पुष्प फल आदि का होना कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। वैसे ही सम्यक्‌दर्शन के बिना, अर्थात् आत्म-श्रद्धान या आत्म-दर्शन के बिना आत्म-ज्ञान और आत्म-आचरण भी नहीं हो सकता है। यह तो सभी जानते हैं कि संसार का मूल जैसे मिथ्यात्व विपरीत श्रद्धान शरीर में ही आत्मपन का विश्वास होता है; वैसे ही मोक्ष का मूल उसके मिथ्यात्व के विरुद्ध सम्यक्त्व है।

यह बात कोई नवीन नहीं है; बल्कि सिद्धान्त-सम्मत अनादि कालिक है। अनादि काल से जैसे

संसार है वैसे ही मोक्ष भी। अगर संसार का प्रधान कारण स्वपर-भेद-विज्ञान का न होना ही है तो मोक्ष का मुख्य कारण उसके विपरीत स्वपर-भेद-विज्ञान ही है; ऐसा कहना न्यायसंगत प्रतीत होता है।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्राचार्य महाराज ने कितने सुन्दर ढङ्ग से स्फुट किया है, वे कहते हैं कि :—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किलकेचन।
तस्यैवाभावतो वद्धा वद्धा ये किलकेचन॥

तात्पर्य यह है कि आज तक जितने भी सिद्ध हुये हैं अर्थात् संसार की परिपाटी के मूल भूत मिथ्यात्व (शरीर में और आत्मा में एकत्वाध्यवसाय—दोनों) को एक रूप मानने के विपरीत बुद्धि का कारण संहार कर उसके सह भावी अन्य कर्म समुदाय को भी सर्वथा विनाश कर परमात्म पद सिद्ध पद को प्राप्त हुये हैं। वे सब एक मात्र भेद विज्ञान स्व और पर आत्मा, जड़, चेतन और अचेतन के स्वरूप निर्णयपूर्वक ही हुये हैं। जब आत्मा में अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव का पूर्ण प्रत्यय—सच्चा विश्वास हुआ। और पुद्गल अन्य शरीर में स्वभावतः जड़ता अचेतनता मूर्तिकता-स्पर्शगन्धरसवर्णवत्ता का दृढ़ मजबूत अभेद भेद कर परिज्ञान हुआ तब ही आत्मा संसार की सन्तति का उच्छेद कर मुक्त हुये और विदेह आदि से मुक्त हो रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। यह अबाध नियत नियम है। इसमें कोई फेरफार-रद्दोबदल नहीं हो सकता है।

ठीक इसके विपरीत जो अनन्तानन्त जीव संसार में बंधे हुये है-वे सब सिर्फ भेद; विज्ञान, (आत्मा और जड़ शरीर में जुदाई का ज्ञान) न होने से ही वद्ध (बंधे हुये) हैं।

यह सिद्ध युक्त और वद्ध युक्त का सयुक्तिक और स्वानुभवगम्य—अन्तस्तल स्पर्शी मन की गहराई को पा जानेवाला वास्तविक असली वस्तु स्वरूप गत वर्णन है। जो आत्म-दृष्टि को प्राप्त कराने में निमित्त साधन है। यदि उक्त प्रकार के साधन से साध्य आत्म-स्वरूप का दर्शन सिद्ध हो जाय तो संसार से बेड़ा पार हो जाय। अतः जो संसार से पार होना ही चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सर्व प्रथम आत्म-विश्वास को प्रकट करें। बिना इसके संसार से पार होना नितान्त असम्भव है।

जिन आत्माओं ने इसे प्राप्त किया वे सब नित्य निरञ्जन निराकार ज्योति-स्वरूप शिव पद को प्राप्त हुये।

वह शिव पद ही आत्मा का पद है। बाकी के जितने पद हैं वह सब अपद हैं। इस पद में जरा (बुढ़ापा) आता ही नहीं; जो शरीर का धर्म है; जिसकी शरीर में ही पैदाइस होती है। रोग तो इस पद में आ ही कैसे सकता है ? क्योंकि जो जिसका धर्म नहीं है वह उसमें कैसे सम्भव हो सकता है ? रोग तो शरीर का धर्म है; अतः वह शरीर में ही हो सकेगा अन्यत्र नहीं।

क्षय होना भी शरीर में ही सम्भव है। अशरीरी आत्मा में नहीं। अतः यह शिव-पद आत्म-पद होने में समर्थ है।

व्याधि—विविध प्रकार की पीड़ा का होना भी शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है क्योंकि वह सब शरीर का स्वभाव है। अतएव शिव-पद में व्याधि का होना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। शोक, इष्ट (प्रिय पदार्थ) का वियोग होने पर पुनः उसकी प्राप्ति के लिये जो सन्ताप आदि होता रहता है वह मोह की एक दशा है; जो शरीरधारी के ही बन सकती है; अशरीरी के नहीं। भय भी दुदर्शनीय पदार्थ के देखने से होता है। जो यहां शिव-पद में कदाचित् भी नहीं हो सकता है। शंका भी शरीर के साथ ही बन सकती है। क्योंकि शरीर के रहते ही मरने की शंका, रोगादि की शंका आदि तरह-तरह की शंकायें होती रहती हैं। लेकिन यहां तो अशरीर दशा है। अतएव यहां शंका को कोई स्थान ही नहीं मिलता।

यह शिव-पद वह पद है—जिसको सुख की पराकाष्ठा (अन्तिम सीमा) अर्थात् जिसमें अनन्तता पाई जाती है। विद्या—केवल ज्ञान—अनन्त ज्ञान—भी अनन्त काल तक ज्योंका त्यों बना रहता है। ऐसा यह शिव-पद है। ऐसे शिव-पद की प्राप्ति भी एक मात्र सम्यक्दर्शन की ही प्राप्ति से करना चाहिये। इसी में सुखार्थी का अनन्त सुख भी अन्तर्भूत हो अन्तर्हित हो शक्ति-रूप से विद्यमान रहता है—जो आत्मिक है, स्वाभाविक है; और है साहजिक।

मिथ्यादर्शन संसार का कारण है।

कालु अणाइ-अणाइ जीउ भव सायरु जिअणंतु।
मिच्छा दंसण मोहियउ ण वि सुहदुक्ख जिपन्तु॥

काल द्रव्य अनादि से है, जीव द्रव्य भी अनादि से है। संसार-सागर में जीव अनन्त हैं। वे मिथ्यादर्शन के कारण अपने स्वरूप से विमुख हैं। संसार सम्बन्धी सुख दुःख जीव का स्वभाव नहीं है, किन्तु विभाव है।

यह लोक अनादि निधन है, इसका बनाने और बिगाड़नेवाला कोई दूसरा नहीं है; यह स्वतः ही बनता और बिगड़ता है। क्योंकि जो अनादि और अनन्त होता है उसका बनाना और बिगाड़ना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। लोक का अर्थ है जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन ६ द्रव्यों का समूह। इनमें आकाश द्रव्य एक है—अखण्ड है, अनन्त प्रदेशी है और अक्रिय है। इस आकाश के ठीक मध्य में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल आदि पांचों द्रव्यें पायी जाती हैं। जिनमें धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य ये दो द्रव्यें असंख्यात प्रदेशी और निष्क्रिय हैं। ये दोनों आकाश के प्रदेशों में, तिल में तेल के समान व्याप्त (भरी हुई) हैं। यह अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगी। इसी प्रकार काल द्रव्य भी आकाश के एक-एक प्रदेश पर इस तरह से स्थित है जिस तरह से मणियों की माला में मणि स्थित रहते हैं। तात्पर्य यह है कि काल द्रव्य अणु-रूप है और वह अणु संख्या में, गिनने में, नहीं आते; अतएव असंख्यात हैं। इस तरह से अनन्त प्रदेशी आकाशके असंख्यात प्रदेश, असंख्यात

प्रदेशी आकाश उपाधि भेद से भेद को प्राप्त होकर दो विभागों में विभक्त हो जाता है। एक लोकाकाश और दूसरा आलोकाकाश। लोकाकाश का स्वरूप कहा जा चुका है। उससे भिन्न अलोकाकाश है जो सिर्फ आकाश ही आकाश है। अन्य कोई भी द्रव्य उसमें नहीं पाया जाता है।

जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल जीवों से अनन्त गुणे हैं; अर्थात् अनन्तानन्त हैं। एक जीव प्रदेशों की अपेक्षा लोकाकाश के बराबर है अर्थात् असंख्यात प्रदेशी है, अखण्ड है अविनाशी है, ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववाला है; अनादि है। पुद्गल द्रव्य अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार का है। अणु अविभागी प्रतिच्छेद स्वरूप है। अर्थात् अणु की उत्पत्ति स्कन्ध के भेद से ही होती है। वह स्कन्ध का भेद होते-होते जब अन्तिम अभेद्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब परमाणु कहा जाता है; वह परमाणु आदि, मध्य एवं अन्त रहित है और इन्द्रियों से उसका ग्रहण नहीं होता है। दो या दो से अधिक परमाणु के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं। यह स्कन्ध भेदसे अर्थात् स्कन्ध के टुकड़े होने पर ही बनता है और संघात से अर्थात् एक स्कन्ध का दूसरे स्कन्ध से मेल हो जाने पर भी स्कन्ध बन जाता है। कभी भेद और संघात दोनों से मिल कर भी स्कन्ध बन जाता है।

यह सारा विश्व इस जीव के इन्द्रियों द्वारा जानने और देखने में आता है। वह बहुधा इसी पुद्गल द्रव्य का परिणमन विशेष है। प्रत्येक जीवधारी का शरीर इसी पुद्गल द्रव्य से बना हुआ है। इस पुद्गल का शरीर स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाला है। उसमें स्पर्श, शीत—उष्ण, कोमल, कठोर, हलका, भारी, रूखा और चिकना के भेद से—आठ प्रकार है। रस—खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला और चरपरा के भेद से—५ प्रकार है। गन्ध—सुगन्ध और दुर्गन्धके भेद से—दो प्रकार है। वर्ण—श्वेत, कृष्ण, नील, पीत और लाल के भेद से—५ प्रकार का है। इस प्रकार सब मिलकर २० गुण पुद्गल के अन्दर पाये जाते हैं। हां, परमाणु में सिर्फ आठ स्पर्शों में से, कोई दो स्पर्श पांच रसों में से, कोई एक रस दो गन्धों में से, कोई एक गन्ध और पांच वर्णों में से, कोई एक वर्ण—इस प्रकार कुल मिलाकर ५ ही गुण होते हैं। शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान भेदतम, छाया, आतप और उद्योत ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। अर्थात् पुद्गल द्रव्य ही इन रूप परिणमता है। शब्द, ध्वनि-विशेषका नाम है: शब्द वह भाषात्मक और अभाषात्मक के भेद से दो प्रकार का होता है। भाषा-रूप शब्द भी अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक के भेद से दो प्रकार का है। अक्षरात्मक शब्द वे हैं जो शास्त्रों के अर्थ को व्यक्त करते हैं। वे संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक रूप के होते हैं। अनक्षरात्मक शब्द दो इन्द्रिय आदि के ज्ञान अतिशय विशेष को दिखाने में कारण होते हैं। ये सब प्रयोग-विशेष से पैदा होते हैं। हां, अभाषात्मक शब्द प्रायोगिक और वैस्रसिक दोनों प्रकार के होते हैं। प्रायोगिक शब्द तो चार प्रकार के होते हैं—तत, वितत, धन, सौषिर। उनमें तत शब्द चमड़े के तानने से उत्पन्न होते हैं। जैसे भेरी, मृदङ्ग आदि के शब्द हैं। वितत शब्द वे हैं जो तन्त्री, वीणा आदि से पैदा होते हैं; घन शब्द वे हैं जो घण्टा, मंजीरा आदि के निमित्त से पैदा होते हैं। बांसुरी और शंख आदि के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले शब्दों को सौषिर कहते हैं।

बन्ध दो पृथक-पृथक पदार्थों का मिलकर एक पिण्ड-रूप हो जाना है। वह बन्ध भी वैस्रसिक और प्रायोगिक के भेद से दो प्रकार का है। वैस्रसिक बन्ध वह बन्ध है जिसमें किसी पुरुष विशेष के प्रयोग की आवश्यकता नहीं किन्तु स्वतः ही अपनी खुद की योग्यता से हो जाता है। जैसे—चिकनाहट और रूक्षता (रूखापन) रूप निमित्त से बननेवाले जल, अग्नि आदि: और प्रायोगिक बन्ध वह है जो किसी पुरुष विशेष के प्रयोग की अपेक्षा रखता हो अर्थात् उसके प्रयोग को निमित्त-रूप से प्राप्त कर बनता हो। वह भी दो प्रकार का है। एक अजीव विषयक, दूसरा जीव विषयक। अजीव विषयक बन्ध जैसे—कर्म और नो कर्म का बन्ध जो जीव के प्रदेशों में एकमेक हो रहता है।

सूक्ष्मता भी दो तरह की होती है। एक अन्तिम, दूसरी आपेक्षिक। अन्तिम सूक्ष्मता एक मात्र परमाणुओं में ही होती है। क्योंकि परमाणु से सूक्ष्म अन्य कोई भी पुद्गल सम्भव नहीं है। आपेक्षिक, अपेक्षा विशेष से होनेवाली सूक्ष्मता, विल्व, आमलक, बदरी फल आदि में तरतमता के साथ उपलब्ध (पायी जाती) है।

स्थौल्य-स्थूलता भी दो प्रकार की होती है। एक अन्तिम और दूसरी आपेक्षिक। अन्तिम स्थूलता त्रिलोक-व्यापक महा स्कन्ध में ही सुलभ है। क्योंकि उससे बढ़कर स्थूलता रखनेवाला कोई दूसरा स्कन्ध जगत में है ही नहीं। आपेक्षिक स्थूलता बदरी फल, आमलक, विल्व आदि में प्राप्त होती है। संस्थान आकार विशेष का नाम है; वह कई प्रकार का होता है। जैसे - गोल, त्रिकोण, चौकोण आदि। मूल में इसके इत्थंलक्षण संस्थान और अनित्थं लक्षण संस्थान ये दो भेद होते हैं। इत्थं लक्षण संस्थान तो कहा जा चुका है। उससे भिन्न मेघ आदि का जो आकार विशेष होता है, वह अनेक प्रकार का होता है। पर उसका, यह ऐसा है, इस प्रकार का कथन सम्भव नहीं है। अतः वह सब अनित्थं लक्षण संस्थान है।

भेद :—एक वस्तु के टुकड़े आदि करना भेद है। वह भेद उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर, अणुचटन के भेद से छह प्रकार है। उनमें करोंत आदि से काष्ठ आदि का छिन्न-भिन्न करना उत्कर है। गेहूं आदि को पीसकर आटा बना देना चूर्ण है। घड़े के टुकड़े करना खण्ड है। मूंग, ऊर्द, चना आदि का दलना चूर्णिका है। मेघ आदि का आकाश में फैलना प्रतर है। तपे हुये लोहे आदि का घन आदि से कूटने पर चिनगारियों का निकलना अणुचटन है। दृष्टि का रोकना अर्थात् पदार्थ का दर्शन नहीं होने देने में जो कारण हो उसे तम कहते हैं जो प्रकाश का विरोधी होता है।

छाया—प्रकाश को आच्छादित करने में जो कारण है, आतप सन्ताप को पैदा करने में जो कारण हो—जैसे—सूर्य विमान की किरणें।

उद्योत—जो सन्ताप को दूर करने में कारणभूत शीतल प्रकाश हो उसे उद्योत कहते हैं। वह बहुधा चन्द्रमा के विमान की किरणों में अथवा चन्द्रकान्त मणि में उपलब्ध होता है, यह सब पुद्गल

द्रव्य की पर्यायें हैं। जो पुद्गल में ही होती हैं। अन्य किसी द्रव्य में इनकी उपलब्धि नहीं होती है। इनके अतिरिक्त पुद्गल के निम्न प्रकार के भी परिणमन पाये जाते हैं :—

(१) स्थूल-स्थूल, (२) स्थूल, (३) स्थूल-सूक्ष्म, (४) सूक्ष्म-स्थूल, (५) सूक्ष्म, (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म। पत्थर के छिन्न-भिन्न करने पर जो खण्ड हो जाते हैं, वे पुनः नहीं मिलते हैं; अतः उन्हें स्थूल-स्थूल कहते हैं। जल में अथवा दुग्ध आदि पदार्थ में लकीर आदि करते ही वे पुनः नहीं मिलते, उसी में विलीन हो जाते हैं; अतः वे स्थूल हैं। प्रताप प्रकाश अन्धकार छाया आदि जो देखने में तो आते हैं; परन्तु पकड़ में नहीं आते वे स्थूल सूक्ष्म हैं। शब्द, गन्ध आदिके परमाणु कर्ण एवं नासिका इन्द्रिय से जाने जाते हैं। पर देखने में नहीं आते वे सूक्ष्म-स्थूल हैं, कर्म-वर्गणा एवं नोकर्म-वर्गणा के परमाणुओं को सूक्ष्म कहते हैं, परमाणु को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं; इस तरह से सारा विश्व जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह सब पुद्गल द्रव्य का ही परिणमन विशेष है।

जीव और पुद्गल द्रव्यों की गति में जो सहायक होता है वह धर्म द्रव्य है। वह एक है, अखण्ड है, क्रिया रहित है और असंख्यात प्रदेशी अमूर्तिक पदार्थ है। सारे लोक में, तिल में तेल की तरह भरा हुआ है; लोकाकाश का कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जिसमें धर्म द्रव्य का प्रदेश न हो। अधर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होता है। अर्थात् कोई भी जीव या पुद्गल स्थित होने की दशा में आने के लिये उद्यत हो तो अधर्म द्रव्य उसे उदासीन-रूप से सहायता करेगा, प्रेरणा नहीं, यह भी असंख्यात प्रदेशी एक अखण्ड, लोक, व्यापक और अमूर्तिक पदार्थ है।

सभी द्रव्यों को अवकाश (रहने के लिये स्थान) प्रदान करना ही जिसका मुख्य कार्य है, वह आकाश द्रव्य है, यह भी अखण्ड है एक है, निष्क्रिय है और अनन्त प्रदेशी है और अमूर्तिक पदार्थ है। प्रदेशों की अपेक्षा इससे बृहत्तर बहुत बड़ा दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, काल द्रव्य वर्तना-रूप है; जो निश्चय काल शब्द से भी कहा जाता है। उसी का परिणमन व्यवहार काल है, जो समय आवली आदि-रूप है; समय काल द्रव्य की एक समय की एक पर्याय है। भूत और भविष्यत् की अपेक्षा वह काल अनन्त समयवाला है। पर्याय पर्यायी के बिना नहीं हो सकता; अतः काल एक स्वतन्त्र सत्तात्मक पदार्थ है। जो तमाम द्रव्यों की हालतों को बदलने में निमित्त कारण है, बिना काल द्रव्य के द्रव्यों का समय-समय पर होनेवाला परिणमन सर्वथा असम्भव है। यह ठीक है कि प्रत्येक परिणमन हर एक द्रव्य में स्वयं ही कारण है; जिसे दूसरे शब्दों मे उपादान कारण भी कहते हैं; परन्तु उपादान का कार्य-रूप परिणमन बिना निमित्त के किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। अतः उसके परिणमन में कारणभूत काल द्रव्य का निषेध किसी भी विचारक को इष्ट नहीं हो सकता; इस तरह से तर्क सिद्ध और आगम प्रसिद्ध काल द्रव्य के २ भेद आगम में पढ़ने को मिलते हैं। पहला निश्चय काल है, दूसरा व्यवहार काल। निश्चय काल तो वह काल है जो स्वयं ही वर्तनाशील है, जिसे आर्षप्रणीत आगम में कुम्हार के चाक के नीचे रहनेवाली कील की उपमा दी है, अर्थात् जैसे चाक के नीचे की कील स्वयं ही गतिशील होकर

चाक की गति में कारण होता है वैसे ही निश्चय काल स्वयं ही वर्तन स्वरूप होता हुआ अन्य द्रव्यों को परिवर्तन में निमित्त होता है वह व्यवहार काल है; जो उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल के भेद से दो २ प्रकार का है। उनमें से जिस काल में जीवों की आयु काय आदि उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं; वह उत्सर्पिणी काल कहा जाता है और जिसमें जीवों की आयु, शरीर आदि आगे-आगे घटते रहते हैं; वह अवसर्पिणी काल कहा जाता है। उत्सर्पिणी काल—दुःषमा-दुःषमा, दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, सुषमा-दुःषमा, सुषमा, सुषमा-सुषमा,— के भेद से ६ प्रकार का है। इनमें से प्रथम दुःषमा-दुःषमा काल २१ हजार वर्ष तक रहता है; इसमें जन्म लेनेवाले मनुष्य आदि जीव धारियों को दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है। इस काल में अग्नि के न होने से बड़ा दुःख उठाना पड़ता है; सब खाने-पीने की वस्तुएँ बहुधा नहीं ही प्राप्त होती है। मनुष्य, मनुष्य का भक्षक हो जाता है, रहने आदि की बड़ी ही दुरव्यवस्था होती है; मकान आदि के बनाने का ज्ञान नहीं रहता है। जमीन में ही गर्त (गड्ढे) बनाकर लोग रहते हैं; धर्म-कर्म का तो लोप ही सा हो जाता है। वर्ण व्यवस्था, सामाजिक रीति-रिवाज आदि सब लुप्त हो जाते हैं; लोग पूर्णतया स्वच्छन्दचारी, अनुशासन विहीन-निरङ्कुश, हीनाचारी, पाप-प्रवृत्तिवाले हो जाते हैं। इनके स्वभाव में बड़ी ही क्रूरता (नृशंसता) स्थान पा जाती है, जो इन्हें नरक आदि दुर्गतियों में ले जाती है; अतः यह काल दुःषमा-दुःषमा कहलाता है। दूसरा दुःषमा काल भी २१ हजार वर्ष का होता है, इसमें रहनेवाले मानव आदि देह धारियों को दुःख की प्राप्ति अधिक और सुख की प्राप्ति नहीं के समान होती है। अर्थात् इस काल में जन्म लेनेवाले जीवों को दुःख तो सुमेरू के और सुख सरसों के दाने के समान नसीब होता है; परन्तु वह सुख वास्तविक आत्मिक सुख न होकर इन्द्रियाधीन पराश्रित है, जो पर-वस्तु की अपेक्षा से होता है; वह सुख उस वस्तु के पृथक हो जाने पर स्वयमेव ही नष्ट हो जाता है। अन्ततोगत्वा वही दुःखद दशा पुनः आकर प्राप्त हो जाती है, जो यथार्थ संसार है; अतः यह दुःषमा काल भी दुःखों से भरा हुआ है; इसमें भी सुख की प्राप्ति प्रायः दुर्लभ ही है।

स्थान :— तिथि : ज्येष्ठ बदी १० सं० २०१५

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० १२-५-५८

इसके बाद जो काल आता है वह दुःषमा सुषमा नाम का तीसरा काल है, यह ४२ हजार वर्ष कम एक कोटाकोटी सागर तक रहता है; इसमें ही ६३ सलाका के महापुरुष जन्म धारण करते हैं। जो निम्न प्रकार हैं :—

२४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण ९ बलभद्र। इसी काल में ही मोक्ष का मार्ग तीर्थङ्कर परम देवों के द्वारा प्रकट एवं प्रचलित होता है। इसी काल में ही सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त करानेवाला पुण्य एवं सप्तम नरक को ले जानेवाला पाप जीवों के द्वारा उपार्जित होता है; साथ ही दोनों प्रकार के कर्मों का संहार भी इसी काल के पुरुषार्थ-प्रधान जीवों से होता है। अतः यह काल दुःषमा-सुषमा कहा जाता है, उक्त तीनों काल कर्म प्रमुख होते हैं। अतः कर्मभूमि के काल कहे जाते हैं। इसके पश्चात् जो काल आता है। उसका अब संक्षेप में वर्णन किया जाता है। जो नीचे लिखे अनुसार हैं :—

सुषमा-दुःषमा नाम का चौथा काल जब प्रारम्भ होता है तब यहां भोगों की भरमार रहती है। वह भोग इस काल में जन्मे हुये जीवों को उनके पुण्य के प्रभाव से उत्पन्न हुये १० प्रकार के कल्प वृक्षों के द्वारा प्राप्त होते रहते हैं। यह जीव युगल (जोड़ा) स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी के रूप में अपना सारा जीवन बिताते हैं; अन्त में पुरुष को छींक और स्त्री को जंभाई के आते ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं और दोनों मरकर कल्पवासी देवों में जन्म लेते हैं। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इनका शरीर मरने के पश्चात् कर्पूर की तरह उड़ जाता है। इस काल में जघन्य भोगभूमि की प्रवृत्ति रहती है; यह दो कोटाकोटी सागर तक रहता है; इसके बीत जाने के पश्चात् सुषमा नामक पांचवां काल आता है; जिसमें मध्यम भोगभूमि रहती है। इस काल के जीव उक्त काल के जीवों से कई गुने सुखी होते हैं, उनकी आयु, शरीर की ऊंचाई और भोगोपभोग की सामग्री आदि सब अधिक-अधिक होती है। ये सब भी माता-पिता से पैदा तो होते ही है, पर माता-पिता के मुख को नहीं देख पाते हैं, इनके पैदा होते ही इनके माता-पिता तत्काल मर के स्वर्गवासी देव हो जाते हैं। फिर यह ४२ दिन में पूर्ण युवक और युवती होकर स्त्री-पुरुषों जैसी भोग-क्रियाओं में संलग्न हो जाते हैं और उसी रूप में अपनी सारी जिन्दगी वैषयिक सुख में मग्न हो व्यतीत कर देते हैं; यह काल तीन कोटाकोटी सागर तक रहता है। इसमें भी सारी सामग्री, जो जीवन के लिये आवश्यक होती है, वह कल्पवृक्षों से ही प्राप्त होती ही रहती है।

इस पांचवें काल के बीत जाने पर सुषमा-सुषमा नामक छट्ठा काल प्रारम्भ होता है। इसमें उत्तम भोगभूमि की रचना होती है, इसमें जन्म लेनेवाले जीव सुख ही सुख का अनुभव करते हैं और

वह सुख एक मात्र विषयों से पैदा होनेवाला सुख है। जो कल्पवृक्षों से पैदा होनेवाले भोग उपभोग सम्बन्धी सारे पदार्थों के ऊपर अवलम्बित है; यह काल चार कोटाकोटी सागर तक रहता है। इस प्रकार से यह उत्सर्पिणी काल १० कोटाकोटी सागर का होता है। इसी प्रकार से इसके पश्चात् आनेवाला अवसर्पिणी काल भी १० कोटाकोटी सागर का होता है। दोनों के मिलाने पर २० कोटाकोटी सागर का एक कल्प काल होता है।

यह अवसर्पिणी काल चल रहा है। इसके भी सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, दुःषमा, दुःषमा-दुःषमा—ये छह भेद हैं। इसके प्रथम और द्वितीय एवं तृतीय काल में तो उत्तम, मध्यम एवं जघन्य भोग-भूमि की रचना होती है। उसका वर्णन उत्सर्पिणी काल की तरह जानना चाहिये। इस काल के चौथे आरे में तिरेसठ सलाका के महापुरुष जन्मे थे। उनमें सर्वप्रथम आदि ब्रह्मा श्री ऋषभदेव भगवान् ने श्री नाभिराज महाराज की महारानी श्री मरू देवी के गर्भ से जन्म लिया था। उन्हीं भगवान् ने भोग-भूमि के बीत जाने पर कर्म-भूमि में कर्म करने का उपदेश दिया था। असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य—ये षट् कर्म प्रजाजनों के जीवन निर्वाहार्थ उन्हें समझाये। उन्हीं भगवान् ऋषभदेव ने अपने अवधि-ज्ञान के द्वारा विदेहक्षेत्र की शाश्वतिक वर्ण-व्यवस्था को जो वहां अनादि से अनन्त काल तक बराबर विद्यमान रहती है; यहां भी चालू की थी। उनमें क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र यह तीन ही वर्ण यहां व्यवस्थापित किये थे और इनकी पृथक-पृथक वृत्तियां भी निश्चित कर दी थीं; जो उन वर्णों के लिये आपस में किसी भी प्रकार की वाधा नहीं पहुंचाती थीं। हां, यह बात जरूर है कि कुछ समय पश्चात् जब उनके ज्येष्ठ पुत्र और इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती राजा महाराज भरत सारे भरत क्षेत्र के ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त कर अखण्ड साम्राज्य-पद से विभूषित हुये तब उन्होंने अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करने के लिये सत्पात्रों को प्राप्त करना चाहा; किन्तु उनमें से जो सत्पात्र उन्हें उस समय उपलब्ध हुये थे वे एक मात्र मुनिजन ही थे। जो एकमात्र शरीर की स्थिति के ही लिये ४६ दोष और ३२ अन्तराय से वर्जित शुद्ध प्रासुक आहार लेते थे। इनके सिवा अन्य किसी भी वस्तु की ओर उनका ध्यान नहीं रहता था। लेकिन महाराज भरत स्वामी तो यह चाहते थे कि जो गृहस्थावस्था में रहकर व्रताचरण द्वारा अपना जीवन सफल बनायें ऐसे श्रावक हमें चाहिये। अतः उन्होंने अपने आधीन रहनेवाले राजाओं को अपने किसी धार्मिक उत्सव में आमन्त्रित किया। उन्होंने राजाओं के पास यह सन्देश भेजा कि आप लोग अपने इष्ट मित्रों और सेवकों को साथ लेकर हमारे उत्सव में सम्मिलित हों। उन्होंने आमन्त्रित पुरुषोंमेंसे व्रती पुरुषों की परीक्षा करने के हेतु अपने राजमहलके सामने के मैदान में चारों तरफ हरियाली लगवा रखी थी। जो उस हरियाली की रक्षा के कारण महल के अन्दर नहीं गये किन्तु वहां के वहां खड़े रहे। उन्हें महाराज ने कहलवाया—आप लोग क्यों नहीं आते हैं ? तब उन लोगों ने जवाब दिया कि हम लोग कैसे आयें; यहां तो चारों तरफ हरियाली ही हरियाली छाई हुई है। इसमें अनन्त जीवों का निवास है; यह सब अनन्त काय साधारण वनस्पति हैं। इनके ऊपर चलने से इन

अनन्त काय जीवों के घात का महा पाप हम लोगों को मिलेगा। जिसका फल भविष्य में हम लोगों को नरक निगोद में जाकर भोगना पड़ेगा। यह जानकर महाराज भरत ने उन्हें प्रासुक मार्ग से बुलाकर श्रावकों के व्रतों का उपदेश दिया। अध्ययन और अध्यापन यह दो मुख्य कार्य इनके निश्चित किये। साथ ही इनके व्रतों के चिह्न स्वरूप १ से ११ तक यज्ञोपवीत भी इन्हें योग्यतानुसार दिये। ऐसे व्रतियों को इन्होंने (महाराज भरत चक्रवर्ती ने) ब्राह्मण संज्ञा दी। अर्थात् उक्त तीन वर्णों के सिवा एक चौथा वर्ण ब्राह्मण वर्ण महाराज भरत चक्रवर्ती ने स्थापित किया। किसी समय महाराज भरत भगवान् ऋषभदेव के समवशरण में गये और उन्होंने भगवान से कहा कि मैंने एक ब्राह्मण वर्ण भी स्थापित किया है जो व्रत प्रधान है; यह वर्ण भविष्य में कैसा सिद्ध होगा ? तब भगवान् ने कहा कि यह चौथे काल में तो कोई विशेष हानिकर सिद्ध न होगा; परन्तु आनेवाले पञ्चम काल में इसके द्वारा जैन-धर्म का उच्छेद होगा। अर्थात् पञ्चम काल के ब्राह्मण बहुधा जैन-धर्म के कट्टर विद्वेषी और विरोधी होंगे। यह जानकर महाराज भरत को भी दिल में बड़ा सन्ताप हुआ और वह मन ही मन यह सोचने लगे कि हाय मैंने भगवान् की आज्ञा के बिना यह वर्ण स्थापित कर अच्छा नहीं किया—इत्यादि।

भगवान् आदिनाथ के अतिरिक्त अजितनाथ जी आदि २३ तीर्थङ्कर और हुये। जिन्होंने धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति की। उन्हीं के समय में १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र यह सब ६३ महापुरुष, ६३ सलाका के महापुरुष कहे जाते हैं; यह सब क्षत्रिय वर्णके ही होते हैं। इनसे उस समय की जनता का बड़ा हित होता था इस प्रकारसे यह चौथा काल, ४२ हजार वर्ष कम १ कोटाकोटी सागर तक रहता है; इसमें सुख अधिक और दुःख कम होता है। अर्थात् इस काल के जीव बहुधा सुखी होते ही हैं और सुख के मार्ग पर चलकर अपना भविष्य भी सुखमय बनाते हैं, यही इस काल की खास विशेषता है। इस काल के जीव ही मोक्ष प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं और सर्वार्थ सिद्धि जैसे महान् पुण्य को भी इसी काल के जीव अर्जन करते हैं और सप्तम नरक ले जानेवाला पाप भी इसी काल के जीवों द्वारा हो सकता है—इत्यादि।

इसके बाद पञ्चम दुःषमा काल आता है। जो अभी चल रहा है, इसमें दुःखों की बहुलता है; इसमें जन्म लेनेवाले प्राणी भी बहुधा पाप की प्रचुरता वाले ही होते हैं। कुछ पुण्यात्मा भी होते हैं, परन्तु वे दाल में नमक के बराबर ही होते हैं; यह काल २१ हजार वर्ष तक रहता है। इसमें १ हजार वर्ष बीतने के बाद एक कलंकी राजा होता है; जो धर्म-कर्म से सर्वथा शून्य अर्थात् कुमार्गगामी होता है। उसके बीच में एक अर्ध-कलंकी राजा भी होता है; उसकी प्रवृत्ति भी वैसी ही होती है जैसी कलंकी की बताई गई है। इसके अन्त में जो कलंकी होगा वह जैन साधुओं से भी टैक्स के रूप में प्रथम ग्रास को लेगा। इस प्रथम ग्रास के लेते ही साधु अन्तराय मानकर सन्यास धारण करके मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव होंगे, अर्थात् इस कलंकी के राज्य में चतुर्विध संघ का अभाव हो जायगा। इन्द्र राजा नाम के

आचार्य, और उनके वीरांगद नाम के शिष्य मुनि, सर्वश्री नाम की आर्यिका, अग्निल नाम के श्रावक एवं पंगुसेना नाम की श्राविका यह सब सन्यासपूर्वक मरण कर प्रथम सौधर्म स्वर्ग में देव होंगे। उस कलंकी के उक्त प्रकार के अन्याय और अधर्म-पूर्ण कार्य से असन्तुष्ट हुआ, चमरेन्द्र उसे मारेगा और वह मरकर नरक जायेगा। उसका पुत्र राजगद्दी पर बैठेगा। वह अपने पिता के कुकृत्य से भयभीत हो जैन-धर्म का पूर्ण श्रद्धानी हो सम्यग्यदृष्टि होगा।

इस प्रकार पञ्चम काल के बीतने के समय में राजा धर्म-कर्म और अग्नि के नाश हो जाने से उस समय के लोग मांस, मछली आदि को खाकर अपना जीवन व्यतीत करेंगे।

इसके पश्चात् २१ हजार वर्ष का छट्टा दुःषमा-दुःषमा काल आयेगा इसमें जन्म धारियों की स्थिति बड़ी ही दुःखमय होगी। इनके रहने आदि के लिये मकान आदि कुछ नहीं होंगे; ये तो कुत्ते की तरह जमीन में गड्ढे बनाकर रहेंगे। इस काल में जन्म लेनेवाले जीव नरक और पशुगतिवाले होंगे और इस काल के जीव मरकर भी नरक एवं पशु गति में ही जायेंगे। ऐसा आगम का वचन है। इस काल के अन्तिम ४६ दिनों में क्रम से सात-सात दिन तक बड़े ही उत्पात होंगे, जिनसे प्राणियों का संहार होगा।

उनमें सबसे पहले सात दिवस तक संवर्तक नाम की महा भयंकर हवा चलेगी। जिससे पहाड़, वृक्ष आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे, उसके पश्चात सात दिन तक महा शीत पड़ेगी, उसके पश्चात् सात दिन तक क्षार वस्तुओं की वर्षा होगी, उसके बाद सात दिन तक विष की वृष्टि होगी, उसके बाद सात दिन तक कठोर अग्नि की वर्षा होगी, उसके बाद सात दिन तक धूलि की वर्षा होगी, उसके बाद सात दिन तक धुवां की वर्षा होगी; उक्त उत्पातों के कारण वहांके जीवों का मरण होगा। कोई पुण्यात्मा जीव विजयार्द्ध की गुफाओं में कोई गङ्गा और सिन्धु नदियों के तटवर्ती सुरक्षित स्थानों में पहुंच कर बच जायेंगे। किन्हीं जीवों को दयावान देव और विद्याधर लोग उठा ले जायेंगे और उन्हें सुन्दर एवं सुरक्षित स्थानों में पहुंचा देंगे। इस तरह से इस छठवें काल के बीत जानेपर जब उत्सर्पिणी काल का पहला काल प्रारम्भ होगा तब प्रारम्भमें सात दिन तक जल की वृष्टि होगी, उसके पश्चात् सात दिन तक दूध की वर्षा होगी, उसके पश्चात् सात दिन तक घृत की वर्षा होगी, उसके पश्चात् सात दिन तक अमृत की वर्षा होगी। इस प्रकार से प्रलय के कारण सन्तप्त और विनष्ट पृथ्वी पुनः स्वच्छता और स्निग्धता को प्राप्त होगी। अन्नादिक की उत्पत्ति के योग्य हो जाने पर उस कालके प्राणियों को सुख और शान्ति के साधन सुलभ हो जायेंगे। इत्यादि उक्त प्रकार से व्यवहार काल के ऊपर निर्भर रहनेवाले (अनन्तानन्त कल्प काल) बीत चुके और भविष्य में भी उससे अनन्त गुणे कल्प काल व्यतीत होंगे; यह सब काल द्रव्य के आश्रित होनेवाले व्यवहार का वर्णन हुआ। अब हम उक्त षट् द्रव्यों में से अस्तिकाय और अनस्तिकाय की चर्चा करना उपयुक्त समझते हैं।

अस्तिकाय और अनस्तिकाय की चर्चा

जिन द्रव्यों में प्रदेशों की अधिकता होती है, वे द्रव्य अस्तिकाय द्रव्य कहलाते हैं; ऐसे द्रव्य पांच ही हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और जीव। अनस्तिकाय में सिर्फ एक काल द्रव्य ही है। क्योंकि वह अणु-रूप है और संख्या से रहित अर्थात् असंख्यात कालाणु-रूप है; कालाणु अनादि काल से पृथक-पृथक रूप हैं। एक दूसरे से मिलते-जुलते नहीं हैं; अतएव अनस्तिकाय हैं। उक्त द्रव्यों में से जीव और पुद्गल यह दो द्रव्य अनादि काल से सम्बद्ध हैं; एक दूसरे से दूध और पानी की तरह मिले हुये चले आते हैं; इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों का सम्बन्ध किसी कारण विशेष से नहीं हुआ है, बल्कि साहजिक है। हां, यह बात अवश्य है कि इन दोनों द्रव्यों में वैभाविकी शक्ति को आगम में बताया गया है और यह भी कहा गया है कि वैभाविकी शक्ति के परिणमन दो हैं। एक स्वभावरूप और दूसरा विभाव रूप। जब दोनों द्रव्य एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं तब तक उनका विभाव परिणमन ही माना जायेगा। हां, जब वे दोनों पृथक-पृथक हो जाते हैं तब उनका परिणमन स्वभाव-रूप हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब तक कर्म पुद्गलों से सम्बन्ध रहता है तब तक ही उसमें या उन दोनों में विभाव परिणमन होता है। पृथक होने पर तो उन दोनों में स्वभाव परिणमन ही होता है प्रत्येक द्रव्य में भाववती शक्ति तो होती ही है; किन्तु जीवों और पुद्गलों में भाववती शक्ति के अतिरिक्त एक क्रियावती शक्ति भी पाई जाती है। जिसके कारण यह दोनों द्रव्य एक क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होती रहती है और नाना प्रकार के परिणमन भी उनके दृष्टिगोचर होते रहते हैं। इनमें जीव ही एक ऐसा द्रव्य है जो स्वयं को जानता है; एवं अन्य तमाम द्रव्यों को जानने और देखने की स्वाभाविकी शक्ति रखता है; यह एक स्वतन्त्र चेतनात्मक द्रव्य है। बहुत से जड़वादी इस चेतनात्मक जीव द्रव्य को न मानकर यह मानते है कि पृथ्वी, अप् तेज और वायु इन चारो के मिलने पर एक चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है और उनकी उक्त प्रकार की शक्ति के क्षीण हो जाने वह चैतन्य शक्ति भी सर्वथा नष्ट हो जाती है; इसी को मरण भी कहते हैं। इत्यादि प्रकार से उनकी मान्यता के अनुसार जीव कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है और जब जीव ही नहीं है तब पुर्नजन्म आदि का कथन करना आदि भी बेकार ही है। लेकिन उनकी उक्त प्रकार की कल्पना वस्तुतः जड़ता को सूचित करती है; क्योंकि जड़ के संयोग से चैतन्य शक्ति की उत्पत्ति आगम और युक्ति दोनों से बाधित तो है ही साथ ही अनुभव और दृष्ट व्यवहार से भी उक्त प्रकार की मान्यता टिकती हुई नजर नहीं आती, यह तो प्रायः मूर्ख से भी मूर्ख लोग जानते और मानते हैं कि गेहूं से गेहूं और चने से चना ही पैदा होता है गेहूं से चना और चने से गेहूं कभी नहीं पैदा होता; जड़ के संयोग से जड़ ही पैदा होगा चेतन नहीं। यदि यह कहा जाय कि मादक वस्तुयें परस्पर में सड़-गल कर मदिरा का रूप धारण कर पीनेवाले के नशा पैदा कर देती है। इसी प्रकार से इन भूत चतुष्टयों के मिलने पर एक चेतना शक्ति पैदा हो जाती है तो प्रायः प्रत्येक गृहस्थ के

घर में भोजन तैयार करते समय पृथ्वी, (चूल्हा), जल अग्नि और पंखे की हवा यह चारों उपयोग में आते ही हैं; फिर वहां जीव की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है। दूसरी बात हम यह भी देखते और सुनते रहते हैं कि अमुक ग्राम या नगर में एक बच्चा या बच्ची ऐसी पैदा हुई है कि जो चार या पांच वर्ष की उम्र में पूर्वजन्म की तमाम बातें बतलाती है। बहुत-से जड़वादी अपनी गलत धारणा को दूर करने के हेतु वहां पहुंचे और उन्होंने भी अपने सन्देह को दूर करने के लिये उससे तरह-तरह के प्रश्न किये जो उनकी भ्रान्त धारणाओं के दूर होने में कुछ सहायक सिद्ध हुये।

यह भी एक बात विचारणीय है कि जीव या आत्मा आदि जितने शब्द हैं उनका कोई न कोई वाच्यार्थ होना ही चाहिये; क्योंकि जितने शब्द व्यवहार में आते हैं वे किसी न किसी अर्थ को लेकर ही प्रयुक्त होते हैं। अतः जीव का अर्थ है जो द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के प्राणों से जीवित था; जीवित है और जीवित रहेगा। इसके अनुसार जीव की सत्ता तीनों कालों में सिद्ध है; अतः जीव एक स्वतन्त्र सत्तात्मक द्रव्य है। जो तीन लोकों के, तमाम पदार्थों के, तीन काल सम्बन्धी अनन्तानन्त पदार्थों के अनन्तानन्त गुण और उनके अनन्तानन्त पर्यायों को युगपत एक-साथ एक ही समय में जानने की शक्ति रखता है; ऐसी शक्ति जिन आत्माओं के पूर्ण-रूप से विकसित हो गई है। वे ही परमात्मा, परमेश्वर या परमेष्ठी आदि नामों से कहे जाते हैं; वे ही सर्वज्ञ या सर्वविद् कहलाते हैं।

यह अज्ञानी संसारी जीव अपने इन्द्रिय जन्य सुख के आधीन होकर इस संसार में अपने द्वारा किया गया, पाप और पुण्य को भोगता हुआ भ्रमण कर रहा है। कभी यह जीव शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ हो ऐसा नहीं है; कार्मण और तैजस शरीरों का संयोग अनादि से है। यद्यपि उनमें नये स्कन्ध मिलते हैं और पुराने छूटते है; इसलिये संसारी जीवों का भ्रमण-रूप संसार भी अनादि है। यदि इसी तरह यह जीव कर्म बन्ध करता हुआ भ्रमण करता रहा तो यह संसार उस मोही अज्ञानी जीव के लिये अनन्त काल तक रहेगा। मिथ्यादर्शन नामक कर्म के उदय से यह संसारी जीव अपने आत्मा के सच्चे सुख को भूल रहा है; इसलिये कभी सच्चे सुख को नहीं पहिचाना। केवल इन्द्रियों के द्वारा वर्तता हुआ कभी सुख व कभी दुःख उठा रहा है; इन्द्रिय सुख भी आकुलता का कारण है और तृष्णा वर्धक है यानी दुःख-रूप है सुख-रूप नहीं।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय। दर्शन-मोहनीय का एक भेद मिथ्यात्व कर्म है और चारित्र-मोहनीयके भेदोंमें चार अनन्तानुबन्धी कषाय है। इन पांच प्रकृतियों के उदय या फल के कारण यह संसारी जीव मूढ़ अज्ञानी वहिरात्मा, संसारासक्त, पर्यायरत, उन्मत्त, अपने स्व-स्वरूपी ब्रह्म से विपरीत मिथ्यादृष्टि हो रहा है। इसके भीतर भी मिथ्यात्वभाव अंधेरा किये हुये हैं। वहां स्व-पर का ज्ञान तथा असली सुख की पहिचान नहीं है; इसलिये सम्यग्दर्शन गुण का प्रकाश रुक रहा है।

मिथ्यात्वभाव दो प्रकार है—एक अगृहीत और दूसरा गृहीत। अगृहीत मिथ्यात्व वह है कि जो प्रमाद से विभाव-रूप चला आ रहा है; जिसके कारण यह जीव जिस शरीर को पाता है उसे ही अपना मान लेता है। शरीरके जन्म को अपना जन्म और शरीरके मरण को अपना मरण, शरीर की स्थिति को अपनी स्थिति मान रहा है। पर वस्तु के बिगाड़ को अपना बिगाड़ मान रहा है; इसलिये अपने आत्मा का बिगाड़ सदा होता जा रहा है। शरीर से भिन्न मैं चेतन प्रभु हूं, यह खबर इसे बिलकुल ही नहीं है। यह आत्मा इन्द्रिय जन्य पर पदार्थ में रत होकर बिलकुल उन्मत्त हो रहा है। इसे आपा-पर की कुछ भी खबर नहीं है। कर्म के उदय से जो भावों में क्रोध, मान, माया, लोभ या राग-द्वेष होते हैं उन भावों को यह मोही जीव अपना मानता है। मैं क्रोधी हूं, मैं मायावी हूं, मैं लोभी हूं, मैं रागी हूं, मैं द्वेषी हूं, मैं मोही हूं। इस प्रकार पाप-पुण्य कर्म के उदय से संसार में सर्वदा चक्कर काट रहा है। जब यह आत्मा अच्छे और बुरे पुण्य तथा पाप के उदय से प्राप्त फल को मान लेता है तब वह समझ लेता है कि धन कुटुम्ब आदि ऐहिक सुख पर पदार्थ हैं तथा आत्मा को सदा रुलानेवाले हैं। ऐसा ज्ञान होते ही उसे असली की प्रतीति होने लगती है तब वह इससे भिन्न अपने निज स्वरूप की ओर रुचि रखने लगता है। अपने स्वभाव में अहंबुद्धि तथा अपने गुणों में ममता भाव जब बिलकुल नहीं होता है तब जैसे कोई मदिरा पीकर बावला हो जावे तथा अपना नाम एवं निवास स्थान भूल जावे वैसे ही यह मोही प्राणी अपने सच्चे स्वभाव को भूलकर पर को अपना माने हुये बैठा है।

इसलिये वह चारों गतियों में जहां भी जन्म लेता है वहीं अपने को नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य अथवा देव मान लेता है; जो पर्याय छूटनेवाली है उसको वह स्थिर मान लेता है। यह अगृहीत या निसर्ग मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के कारण तत्व की श्रद्धा नहीं होती। इस प्रकार अपने शरीरों से किये हुये शुभाशुभ कर्म फलों को यह अज्ञानी मोही जीव स्वयमेव भोगता रहता है। कहा भी है कि :—

एको नरके याति वराकः स्वर्गे गच्छति शुभसविवेकः।
राजाप्येकः स्याच्च धनेशः एकः स्यादविवेको दासः॥

बेचारा एक जीव अपने दुष्कर्मों के फलानुसार नरक में जाकर वहां के दारुण दुःखों को भोगता है, तो दूसरा विवेक सहित शुभ कर्मों के फलानुसार स्वर्ग में जाकर सुख भोगता है। कहीं एक राजा अथवा धन का स्वामी है तो दूसरा व्यक्ति खाने का मुहताज होकर रात-दिन चाकरी (दासता) की चक्की में पिसता रहता है।

एको रोगी शोकी एको दुःखविहीनो दुःखी एकः।
व्यवहारी च दरिद्री एक एकाकी भ्रमतीह वराकः॥

कोई रोगी है, कोई शोकी है, कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई व्यवहारी है, कोई दरिद्री है। इस प्रकार बेचारा जीव इस संसार में सदा से परिभ्रमण करता चला आ रहा है।

अथिरं परिजनपुत्रकलत्रं सर्वं मिलितं दुःखमत्रम् ।
चेतसि चिन्तय नियतं भ्रातः ! का ते जननी कस्तव तातः ॥

सांसारिक परिवार पुत्र, स्त्री आदि सभी मिलकर घोर दुःख को देते रहते हैं—हे भाई ! अपने मन में तुम इस बात का विचार करो कि यहां पर कौन तुम्हारी माता है और कौन तुम्हारा पिता है ? अर्थात् कोई नहीं; सभी केवल स्वार्थ के साथी हैं ।

भ्रातर्भूतगृहीतोऽसि त्वं दारनिमित्तं हिंससि सत्वं ।
तेनाघेन च यास्यसि नरकं तत्र सहिष्यसि घोरातंकं ॥

हे भाई ! कुटुम्बियों के बन्धन से तू बंधा हुआ है और स्त्री के पालन-पोषण करने के लिये धनोपार्जनार्थ तू ने विविध जीवों की हिंसा की और उसी पाप के कारण नरक में जाकर तू घोर पीड़ा को सहेगा ।

विषयपिशाचासंगं मुंच क्रोधकषायौ मूलाल्लुंच ।
कन्दर्पप्रभोर्मानं कुञ्च त्वं लुंपेन्द्रियचौरान् पञ्च ॥

विषयवासना-रूपी पिशाचों का संग तू त्याग दे और क्रोध तथा कषाय को विनाश करके काम राजा के मान को मर्दन करके इन्द्रिय-रूपी पांचों चोरों को तू दमन कर ले ।

कुत्सितकुथितशरीरकुटीरंस्तननाभीमांसादिविकारं ।
रेतः शोणितपूयापूरं जघनच्छिद्रं त्यज रे ! तूर्णं ॥

यह शरीर-रूपी घर अत्यन्त निन्द्य है । इसमें स्तन तथा नाभि जिसे देखकर कुटिल कामी मनुष्य मुग्ध होते हैं वह केवल मांस का लोथड़ा है । स्त्रियों के गुप्तांगों में से केवल मल-मूत्रादिक घृणित पदार्थ निकलते रहते हैं । अतः हे जीवात्मन ! तू उसे शीघ्र ही त्याग दे ।

संसाराब्धौ कालमनन्तं त्वं वसितोसि वराक ! नितान्तं ।
अद्यापि त्वं विषयासक्तः भव तेषु त्वं मूढ ! विरक्तः ॥

हे जीवात्मन् ! तू संसार सागरमें अनन्तकाल से परिभ्रमण करता हुआ चला आ रहा है । किन्तु फिर भी आज तू उन्हीं विषयों में आसक्त हो रहा है ! अरे, ये विषय तुझे पुनः घोर दुःख देंगे, अतः तू इनसे विरक्त हो जा ।

दुर्गतिदुःखसमूहैर्भग्नस्तेषां पृष्ठे पुनरपि लग्नः ।
विकलो मत्तो भूताविष्टः पापाचरणे जन्तो ! दुष्टः ॥

हे जीवात्मन् ! दुर्गतिदायक दुःखों में मग्न होने के कारण तुझे अत्यन्त दुःख उठाने पड़े, पर तू उन्हीं के पीछे लगा हुआ है। अरे, तू विकल, मतवाला तथा भूतों से संयुक्त पापाचरण में क्यों प्रवृत्त हो रहा है ?

मा कुरु यौवनधनगृहगर्वं तव कालस्तु हरिष्यति सर्वं ।
इन्द्रजालमिदमफलं हित्वा मोक्षपदं च गवेषय मत्वा ॥

तुम जवानी, धन तथा मकान आदि का किंचित् मात्र भी अहंकार मत करो, क्योंकि काल (मृत्यु) एक दिन तुम्हारा सब कुछ अपहरण कर लेगा। ये संसार के समस्त नाटक केवल इन्द्र-धनुष के समान क्षणभंगुर हैं। अतः तुम अविनाशी मोक्ष पद की तलाश करो।

नीलोत्पलदलगतजलचपलं इन्द्रचापविद्युत्समतरलं ।
किं न वेत्सि संसारमसारं भ्रान्त्या जानासि त्वं सारं ॥

नील कमल-दल के अन्दर गये हुये चंचल जल तथा इन्द्र-धनुष व विजली के समान अत्यन्त चंचल संसार की असारता को क्या तू नहीं जानता ? अरे, इसे तू भ्रान्ति में पड़कर सार समझ रहा है, यह कितनी मूर्खता है।

शोकवियोगभयैःसंभरितं संसारारण्यं त्यज दुरितं ।
कस्त्वां हस्ते दृढमिव धृत्वा बोधिष्यति कारुण्यं कृत्वा ॥

शोक, वियोग आदि भय से भरे हुये संसार-रूपी वन को तुम शीघ्र ही छोड़ दो। अन्यथा तुम्हारे ऊपर करुणा करके तुम्हारा हाथ पकड़कर तुम्हें कौन उपदेश देगा ?

मुंच परिग्रहवृन्दमशेषं चारित्रं पालय सविशेषं ।
कामक्रोधनिपीड़नयन्त्रं ध्यानं कुरु रे जीव पवित्रं ॥

हे जीवात्मन् ! नाना प्रकार के परिग्रहों को तू छोड़कर विशेषता के साथ उत्तम चारित्र का पालन कर तथा काम और क्रोध को विनष्ट करनेवाले पवित्र ध्यान को तू श्रद्धापूर्वक कर।

मुंच विनोदं कामोत्पन्नं पश्य शिवं त्वं शिवसंपन्नं ।
यास्यसि मोक्षं प्राप्स्यसि सौख्यं कृत्वा शुक्लं ध्यानं सरव्यम् ॥

हे जीव ! तू कामोत्पादक विनोद को छोड़कर कल्याणकारक शिव-पद को देख और शुक्ल-ध्यान को कर, जिससे कि तू मोक्षपद को प्राप्त कर लेगा।

स्थान :—
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : ज्येष्ठ बदी ११ सं० २०१५
ता० १४-५-५८

परमें अहंबुद्धि ही दुःख का कारण है।

इस जीव का अपने स्वभाव में अहंबुद्धि व अपने गुणों में ममता भाव बिलकुल नहीं होता। जैसे कोई मदिरा पीकर बावला हो जावे व अपना नाम व घर ही भूल जावे, वैसे यह मोही प्राणी अपने सच्चे स्वभाव को भूला हुआ है। यह चारों गतियों में जहां भी जन्मता है वहीं अपने को नारकी तिर्यञ्च, मनुष्य या देव मान लेता है। जो पर्याय छूटनेवाली है उसको स्थिर मान लेता है। यह अगृहीत या निसर्ग मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के कारण तत्व का श्रद्धान नहीं होता है।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है :—

मिथ्यादर्शनं द्विविधं नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशात् आविर्भवति तत्वार्थश्रद्धानलक्षणं नैसर्गिकं।

भावार्थ :—मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है। एक नैसर्गिक या अगृहीत, दूसरा अधिगमज या परोपदेशपूर्वक। जो पर के उपदेश के बिना ही, मिथ्यात्व कर्म के उदय के वश से, जीव अजीव इत्यादि तत्वों का अश्रद्धान प्रकट होता है वह नैसर्गिक है। यह साधारणता से सर्व एकेन्द्रिय से पंचेन्द्री पर्यन्त जीवों में पाया जाता है। जब तक इस मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं मिटेगा तब तक मिथ्यात्व भाव होता ही रहेगा, दूसरा परोपदेशपूर्वक पांच प्रकार है - एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक तथा अज्ञान मिथ्यादर्शन। ये पांच प्रकार सैनी जीवों को पर के उपदेश से होते हैं। तब संस्कार वश असैनी के भी बना रहता है। इसका स्वरूप यहीं कहा है।

(१) तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः पुरुषएवेदं सर्वमिति व नित्यमेवेति।

भावार्थ :—धर्मी जो द्रव्य वा धर्म जो उसके स्वभाव उनको ठीक न समझकर यह हठ करता कि वह वस्तु यही है व ऐसी ही है। वस्तु अनेक स्वभाव रूप व अनेकान्त होते हुये भी उसे एक धर्म रूप या एकान्त मानना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे जगत् ६ द्रव्य का समुदाय है। ऐसा न मानकर यह जगत् एक ब्रह्म स्वरूप ही है ऐसा मानना या वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है व पर्याय की अपेक्षा अनित्य है, ऐसा न मानकर सर्वथानित्य ही मानना या सर्वथा अनित्य ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

सग्रंथो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः॥

भावार्थ :—जो बात सम्भव न हो विपरीत हो उसको ठीक मानना विपरीत मिथ्यात्व है। जैसे परिग्रह धारी साधु को निर्ग्रन्थ मानना, केवली अरहन्त भगवान को ग्रास लेकर भोजन करना

मानना, स्त्री के शरीर से सिद्धगति मानना, हिंसा में धर्म मानना इत्यादि विपरीत मिथ्यात्व है। वस्त्रादि बाहरी व क्रोधादि अन्तरंग परिग्रह रहित ही निर्ग्रन्थ साधु हो सकता है। केवली अनन्तबली परमौदारिक सात धातु रहित शरीर रखते हैं वे मोह कर्म को क्षय कर चुके हैं। उनको भूख की बाधा होना, भोजन की इच्छा होना, भिक्षार्थ भ्रमण करना व भोजन का खाना सम्भव नहीं है। वे परमात्म पद में निरन्तर आत्मानन्दामृत का स्वाद लेते हैं। वे इन्द्रियों के द्वारा स्वाद नहीं लेते। उनके मतिज्ञान व श्रुतज्ञान नहीं है।

कर्म भूमि की स्त्रीका शरीर वज्र वृषभनाराच संहनन बिना हीनसंहनन का होता है इसी से न तो वह भारी पुण्य कर सकती है, न भारी पाप कर सकती है और न मोक्ष के लायक ऊँचा ध्यान ही कर सकती है; इसलिये वह मरकर सोलह स्वर्ग के ऊपर ऊर्ध्वलोक में व छट्टे नरक से नीचे अधोलोक में नहीं जाती; हिंसा या पीड़ा से पाप का बन्ध होगा; उससे कभी पुण्य बन्ध नहीं हो सकता। उल्टी प्रतीति को ही विपरीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणिकिं मोक्षमार्गः स्याद्वानवेत्यन्यतरपक्षापेक्षा परिग्रहः संशयः" सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रत्नात्रय धर्म मोक्षमार्ग है कि नहीं है; ऐसा विकल्प करके किसी एक पक्ष को नहीं ग्रहण करना संशय मिथ्यादर्शन है।

"सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्" सभी देवताओं को, सभी दर्शनों को या आगमों को (बिना स्वरूप विचार किये) एक समान श्रद्धान करना वैनयिक मिथ्यादर्शन है।

"हिताहित परीक्षाविरह आज्ञानिकत्वं" हित अहित की परीक्षा न करना देखा-देखी धर्म को मान लेना, अज्ञान मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन वास्तव में अपने शुद्धात्मा के स्वरूप की प्रतीति है। उसका न होना ही मिथ्यादर्शन है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों में श्रद्धान न होना तथा वीतराग सर्वज्ञ देव में सत्यार्थ आगम व सत्य गुरू में श्रद्धान का न होना व्यवहार मिथ्यादर्शन है; यह सब गृहीत, अधिगमज या परोपदेशपूर्वक मिथ्यादर्शन है।

अपने को और का शरीर मानना अगृहीत या नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है; मिथ्यादर्शन के कारण इस जीव को सच्चे आत्मिक सुख तथा सच्चे शुद्धात्मा के स्वभाव की प्रतीति नहीं होती; इसकी बुद्धि मोह से आच्छादित रहती है। यह विषय भोग के सुख को ही सुख समझकर प्रतिदिन उसके उद्योग में लगा रहता है। पर को पीड़ा पहुंचाकर भी स्वार्थ-साधन करता है। पापों को बांधता है, भव-भव में दुःख उठाता फिरता है। मिथ्यादर्शन के समान इस जीव का कोई बैरी नहीं और मिथ्यादर्शन से बढ़कर कोई पाप नहीं है। देह को अपना मानना ही देह धारण करने का बीज है।

समाधिशतक में श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है :—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमंकरमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥

भावार्थ :—इन्द्रिय के भोगों के भीतर आत्मा का हित नहीं है तो भी मिथ्यादृष्टी अज्ञान की भावना से उन्हीं में रमण करता रहता है।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ ५६ ॥

भावार्थ :—अनादिकाल से मूढ़ आत्मायें अपने स्वरूप में सोई हुई हैं; खोटी योनियों में भ्रमण करती हुई स्त्री पुत्रादि पर-पदार्थों को व अपने शरीर व रागादि विभावों को अपना मानकर इसी विभाव में जाग रही हैं।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

भावार्थ :—इस शरीर में आपा मानना ही पुनः पुनः देह ग्रहण का बीज है; जब कि अपनी आत्मा ही में आपा मिलना देहसे छूट जाने का बीज है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं :—

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मनः।
तस्मात्तदेव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ॥ ५२ ॥

भावार्थ :—इस दुष्ट शरीर का परम बीज एक मिथ्यादर्शन है; इसलिये मोक्ष सुख की प्राप्ति के चाहनेवालों को मिथ्यादर्शन का त्याग करना उचित है।

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाण संगमः।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥ ४१ ॥

भावार्थ :—सम्यग्दृष्टी जीव के अवश्य निर्वाण का लाभ होगा; किन्तु मिथ्यादृष्टी जीव का सदा ही संसार में भ्रमण रहेगा।

अनादिकालीन संसार में यह संसारी जीव अनादिकाल से ही मिथ्यादर्शन से अन्धा होकर भटक रहा है; इसलिये इस मिथ्यात्व का त्याग करना परमावश्यक है।

वपुर्गृहं धनं दारा पुत्र मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानिप्रपद्यते ॥

यह अज्ञानी—आत्म ज्ञान शून्य, जिसे अपने आत्मा के स्वरूप का जरा भी ज्ञान नहीं है जो बाह्य, शरीर, घर, धन, रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, रत्न, जवाहरात आदि अचेतन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि चेतन, जो आत्मा से सर्वथा भिन्न जुदा हैं, उन्हें ही अपने मानता है और अपने-आप को सर्वथा भूला हुआ है; यही इस जीवात्मा मिथ्यादृष्टि की पर पदार्थों में आत्मत्व बुद्धि है जिसके कारण यह इस संसार का पात्र बना हुआ है। जब तक इसकी उक्त प्रकार की वासना बनी रहेगी तब तक इसका इस संसार से उद्धार होना बड़ा ही कठिन है; यह मोही जीव पञ्चेन्द्रियों के विषयों में ही सुख मान रहा है; इसी सुखानुभूति के कारण ही यह उनको अच्छा मान रहा है; उन्हें ही सब कुछ समझता है और उन्हीं के प्राप्त करने में अपना सारा जीवन समाप्त कर देता है; उसे यह खबर नहीं है कि ये विषय ही मेरे पतन के मुख्य कारण हैं; इनके वशीभूत हुआ मैं नाना योनियों में जन्म-मरण धारण कर तरह-तरह के कष्टों को भोग रहा हूं, यह तो उनमें इतना निमग्न (डूबा हुआ) है कि इसे धर्म-कर्म की कोई चिन्ता ही नहीं रहती। इसकी विषयों की चाह ही इसे निरन्तर जलाती रहती है। इसकी वजह से इसे क्षण भर भी आत्मिक सुख की प्राप्ति नहीं होती। वास्तव में ये विषयेच्छाएं ही इसे नाना प्रकार के नाच नचाती हैं, इनमें फँसकर यह जीव निरन्तर तड़फता रहता है। ये विषय ही एक तरह के भयानक विषधर सर्प हैं। जैसे विषधर सर्प से डसा हुआ जीव मृत्यु को प्राप्त करता है वैसे ही इन विषयों से व्याप्त (घिरा हुआ) यह प्राणी भी अपने आत्मिक सुखमय जीवन से निरन्तर बेसुध रहता है। अगर हम आत्मिक दृष्टिसे देखें तो हमें विषधर सर्प से भी अधिक भयङ्कर विषयरूप विषधर मालूम होंगे; क्योंकि विषधर सर्प से डसा हुआ जीव तो सिर्फ उसी शरीर से ही छूटता है, किन्तु विषयरूप विषधरों से डसा हुआ जीव तो अनेक जन्म जन्मान्तरों तक असह्य दुःखों को भोगता है। ये विषय विविध प्रकार के रोगों को पैदा करनेवाले हैं; इष्ट-वियोग-जनित शोकरूप महान वन को बढ़ाने के लिये ये विषय महान मेघ के समान हैं। जैसे मेघों से बड़े-बड़े जंगल हरे-भरे बने रहते हैं वैसे ही रोग, वियोग, और शोक आदि भी विषयों की चाह से ही पनपते रहते हैं। ये विषय समतारूप लता के उखाड़ने में महान तूफान के समान हैं; या उसे काटने के लिये तीव्र धारवाले कुठार के तुल्य हैं। ये विषय जितने भयङ्कर हैं उतने भयङ्कर सिंह, व्याघ्र, करी और अरि भी नहीं हैं। इन विषयों में आसक्त रहने के कारण ही बड़े-बड़े ऋद्धिधारी देव भी मरकर एकेन्द्रिय जैसी महान कष्ट प्रदान करनेवाली पर्याय में जा गिरते हैं। तीन खण्ड भरतक्षेत्र पर अखण्ड राज्य करनेवाले नारायण और प्रति नारायण भी इन्हीं विषयों में आसक्त रहने से नरक धरा में जन्म धारण कर वहां की तरह-तरह की यातनाओं को असंख्यात वर्षों तक भोगते रहते हैं; जिनकी स्मृति भी यहां के मानवों को मूर्च्छित कर देती है। ये विषय पराधीन हैं अतएव दुष्प्राप्य हैं; कदाचित् प्रयत्न करने पर प्राप्त भी हो जायं तो उनमें निमग्न होकर यह मानव अपनी रही सही मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा को भी तिलाञ्जलि दे बैठता है। नतीजा यह होता है कि फिर इसका भविष्य जीवन इतना कंटकाकीर्ण बन जाता है कि जिसकी कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो लोग इन विषयों को ही

सुखकारक मानते हैं वे वास्तव में आक में आम की बुद्धि धारण कर व्यर्थ ही दुःखी होते रहते हैं। एक कविने इन विषयों की विषमता का चित्रण करते हुए कितना सुन्दर चित्र खींचा है; जरा देखिये तो सही।

अलि मातंग मृग शल मीन विषय इक-इक में मरते हैं।
नतीजा क्या न पावें वे विषय पांचों जो करते हैं॥

यहां एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त हुए प्राणी किस तरह से अपनी जीवन लीला समाप्त कर देते हैं; फिर जो जीव पञ्चेन्द्रिय पर्याय में रहकर पांचों ही इन्द्रियों के विभिन्न प्रकार के विषयों में आसक्त रहते हैं; उनका तो कहना ही क्या है! जब एक स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में आसक्त हुआ हाथी जैसा बिशालकाय स्वच्छन्द विचरण करनेवाला प्रवल बलवाला प्राणी भी कपट की हस्तिनी को देख राग में मस्त हो अपने अस्तित्व को ही खो बैठता है; एवं रसना इन्द्रिय का लम्पटी अथाह जलाशय में निर्भय हो रहनेवाला महामत्स्य भी जाल में लगे हुये मांस के अंश को भक्षण करने की तीव्र इच्छा से अपने-आपको ही जाल में समर्पण कर मौत के मुख में चला जाता है। तथा घ्राण-नासिका इन्द्रिय के विषय का लोभी, अपनी मधुर गुञ्जार से जो जगत को आनन्दित करता है, वही भ्रमर (भौंरा) सुगन्धित पुष्प की सुगन्ध से अन्धा हो अपने प्राणों को ही न्योछावर कर देता है और जैसे रूप का प्रेमी पतंग रूप को देख चक्षु इन्द्रिय के विषयानुराग से अनुरक्त होकर दीपक की चमकती हुई ज्योति में अपनी चैतन्य (चमत्कारमयी अखण्ड ज्योति) को ही चढ़ा देता है; एवं वायु के तुल्य अतुल-गति शक्ति रखनेवाला हरिण जो जरा-सी आहट या आवाज सुनकर हवा की तरह छू हो जाता है वही जब वीणा की सुरीली और सुन्दर (सुननेवालों को भी अति ही प्रिय) आवाज को सुनता है तब वह भी बहेलिये के द्वारा बिछाई हुई वागुरा में अपने-आप को डालकर अपनी जन्मजात स्वतन्त्रता को हमेशा के लिये खो बैठता है। इस प्रकार से इन्द्रिय विषयों की आसक्ति के परिणाम या फल को जानकर प्रत्येक विवेकी विचारशील मनुष्य को चाहिए कि वह इन विषयों की ओर से अपने आत्मा को दूर रखे अर्थात् उनके सेवन को यदि सर्वथा न छोड़ सके तो उन्हें छोड़ने योग्य तो समझे; इतना समझने से कभी न कभी छोड़ने के लिये भी उद्यत हो सकता है।

ये विषय सेवन करते समय भले ही सुहावने मालूम पड़ते हों;—जैसे कि किंपाक विष फल खाते समय तो बड़ा ही मिष्ट स्वादिष्ट-सा प्रतीत (मालूम) होता है—परन्तु इसका उदर्क (उत्तर फल) बड़ा ही संकटापन्न होता है। ये विषय वस्तुतः उस नीरस हड्डी के समान है; जिसे कुत्ता अपने मुंह में दांतों से दबाकर बार-बार चबाता है और जब चबाते-चबाते जीभ कट जाती है और उससे खून की धार बह निकलती है तो वह समझता है कि यह धार हड्डी में से ही निकल रही है; कुछ समय बाद जब जीभ कट जाने से दुःख होता है, तब समझता है कि यह तो मेरा ही खून है जिसे मैं चाट रहा था और स्वर्गीय सुख से अधिक सुख का भान करता था। यह पूर्वोक्त विवेक कुत्ते को भले हो जाय पर विषयासक्त

मानव को तो होना बड़ा ही कठिन है। इन विषयों से बड़े-बड़े चक्रवर्ती इन्द्र और अहमिन्द्र भी तृप्त नहीं हुए तब ये बेचारे दीन, हीन, दरिद्र, मनुष्य कैसे तृप्त हो सकते है? अतः इनसे विरक्ति का होना ही तृप्ति का एकमात्र अमोघ उपाय है और विरक्ति भी तभी होगी जब इनकी विरसता का इसे अन्तरङ्गतः भान होगा। बिना आन्तरिक विरक्ति के इनका त्याग होना बड़ा ही कठिन है ऐसा समझकर प्रत्येक विवेकी को इनके स्वरूपगत विरूपता का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। विषय के बाद कषाय का नम्बर आता है। यह बहिरात्मा अनन्त संसारी (अनन्त संसार के कारणभूत) कषाय को छोड़ना नहीं चाहता। यह तो शास्त्राधार से जानता है कि कषाय ही वास्तव में इस जीव के वैरी हैं; इनके द्वारा ही जीव संसार में रहता है और ये ही संसार के बढ़ानेवाले हैं, इनके ऊपर विजय करनेवाले महापुरुष ही महात्मा से परमात्मा बने हैं। इनमें मुख्य तो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ हैं; इन्हीं के वश हो यह जीवात्मा अनन्त संसार में रुलता रहता है। इन्हीं के रहते हुए दिगम्बर मुद्राधारी साधु भी संसारी ही हैं क्योंकि जबतक दर्शन मोह का नाश नहीं होता तबतक कोई कितना ही व्रत संयम या तपश्चरण क्यों न करे उससे उसका कुछ भी आत्म-कल्याण होनेवाला नहीं है। हां, अघातिया कर्मों में जो पुण्य प्रकृतियां बताई गई हैं; उनमें से बहुत-सी पुण्य प्रकृतियों का व्रती जीव के शुभ राग से बन्ध हो जाता है जो किसी समय उदय में आकर इस जीव को बहुत-सी सुख साता की सामग्री जुटा देता है; जिससे यह मोही और ज्यादा मुग्ध हो जाता है। नतीजा यह होता है कि यह यहा का यहा ही रह जाता है; आगे नहीं बढ़ पाता; आगे तो तभी बढ़ सकेगा जब संसार की सन्तति के मूल अनन्तानुबन्धी चतुष्टय को नष्ट करेगा। उसके नाश के लिये सर्वप्रथम यह सच्चे देव अर्हन्तदेव में, सच्चे शास्त्र जिनदेव की वाणी में, सच्चे गुरु निर्ग्रन्थ दिगम्बर ज्ञानी ध्यानी और परम तपस्वी साधु में अपनी अति निश्चल श्रद्धा रखेगा। उनके स्वरूप से अपने स्वरूप का मिलान करेगा, उनके बताये मार्ग पर चलेगा, उनके जैसा तपश्चरण, उन्हीं के जैसा ध्यान, उन्हीं के जैसा साम्य बर्ताव करेगा, अन्य कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु में जरा भी श्रद्धा का भाव नहीं लायेगा; क्योंकि जो स्वयं ही रागी है, द्वेषी हैं, दम्भी हैं, कामी हैं, क्रोधी हैं, मानी हैं, लोभी हैं, भयातुर हैं; वे कैसे अन्य अपने अति भक्ति में तत्पर लोगों को वीतरागी या वीतद्वेषी आदि बना सकते हैं। अतः वीतरागी परम हितोपदेशी और सर्वज्ञ परम प्रभु परमात्मा अर्हन्त परमेष्ठी ही परम पद के दाता हो सकते है, अन्य नहीं। उनकी गुण स्तुति ही श्रोताओं की आत्माओं में अभूतपूर्व गुणानुराग के अनन्तर परमोत्कृष्ट वीतरागता को उत्पन्न करने में साधन हो सकती है। ऐसी भक्ति ही मुक्ति में भी, साक्षात् नहीं तो परम्परा से, कारण अवश्य ही होती है, ऐसा समझकर कषाय विजेता बनना ही श्रेयस्कर है।

स्थान :—
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : ज्येष्ठ बदी १२ सं० २०१५
ता० १५-५-५८

आत्म-ध्यान मोक्ष सुख का कारण है

जइ वीहउ चउगइगमणु तउ परभाव चएवि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिवसुक्ख लहेवि ॥ ५ ॥

पहले जो कह चुके हैं कि चारों गतियों में शारीरिक और मानसिक दुःख है। सुखकारी व स्वाभाविक गति एक मोक्ष में है और अन्य किसी स्थान में नहीं; वहां पर आत्मा निश्चल रह कर परमानन्द का भोग निरन्तर करता रहता है और अत्यन्त अनुपम शोभा को पाता है। मन सहित प्राणी को अपना हित विचारना चाहिये कि मैं कहां से आया हूं, मेरा कर्त्तव्य क्या है? क्या मैं मनुष्य भव धारण करके पशुके समान संसार वासनाओं में रत रहकर यों ही आयु को खो रहा हूं या विवेक के साथ इस जीवन का उपयोग आत्म-हित में कर रहा हूं; इस तरह मन सहित प्राणी को अपना हित और अहित का विचार सदा करते रहना चाहिये। यदि आत्माके ऊपर दया भाव है तो इसे अनेक दुःखदायी संसारी संकटों के बीच में नहीं डालना चाहिये। इसे भव भ्रमण से बचाने के लिये निरन्तर रक्षा करते रहना चाहिये और इसे जितना शीघ्र हो सके मोक्ष के निराकुल भाव में पहुंच जाना चाहिये। इसका उपाय श्री गुरू ने बताया है कि अपने ही शुद्धात्मा का ध्यान करो।

ध्यान कई प्रकार के हैं

आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म्य-ध्यान और शुक्ल ध्यान। इन चारों में से आर्त और रौद्र ये दोनों ध्यान सदा संसार भ्रमण कराने में कारण हैं। इसलिये इन्हें सर्वथा त्याग देना आत्म-हितेच्छु प्राणी का कर्त्तव्य है।

आर्त और रौद्र ध्यान को मिटाये बिना आत्मा के अन्दर सुख शान्ति कदापि नहीं हो सकती; इसको मिटाने के लिये सबसे पहले धर्म्य-ध्यान का अवलम्बन लेना चाहिये।

आर्त रौद्र के संयोग से ही यह आत्मा पर-रूप में परिणमन करके पर को प्राप्त हुआ है और अनादिकाल से पर-द्रव्य में परिणमन करता हुआ इन्द्रिय जन्य क्षणिक सुख की पूर्ति करने के लिये अनेक प्रकार की पाप वासनाओं के षड्यन्त्र की रचना करता चला आया है।

इस आर्त और रौद्र ध्यान के उपयोग में रत हुआ जीव स्व-पर हित के लिये क्या कभी अपनी आत्माके ऊपर दया करेगा? कभी भी नहीं। जब तक अपनी आत्माके प्रति दया न हो तब तक वह दूसरे

जीवों के प्रति दया कैसे करेगा ? और इन बुरे ध्यानों के साथ रहकर मन भी इन्हीं के अनुसार पाप या पुण्य का बन्ध बांध लेता है। इस मन ने ही इस संसार में आज पापमय हिंसा के साम्राज्य को बढ़ा दिया है। जहां मन बिगड़ा वहां स्वर्ग मोक्ष, धर्म-कर्म इत्यादि सारी पुण्यरूप क्रियाओं को वह पाप मिश्रित बनाकर इस आत्मा को अशुभ गतियों में ले जाकर रख देता है। मन की विचित्र लीला है; देखिये :—

जब हमारे मन में किसी वस्तु के प्रति प्रेम या इष्ट भाव होता है तब उसके वियोग से दुःख और संयोग से सुख मालूम होता है, यह बात संसार भर में प्रसिद्ध है और उसका संयोग जुटाने में वह जरा भी हिचकता नहीं कि उससे पाप का बन्ध या किसी जीव का घात भी होता है। यानी उस समय हानि लाभ का ख्याल नहीं करता।

इस विषय में एक दृष्टान्त है कि—किसी शहर में एक पंसारी रहता था, उसने मंहगाई के दिनों में कई मन चन्दन की लकड़ी खरीदकर रख ली थी, पर आगे चलकर लकड़ी का भाव गिर गया, जिससे कि पंसारी के मन में अत्यन्त दुःख होने लगा। वह मन में विचार करता है कि इस समय इतनी लकड़ी कौन खरीदेगा और मेरा घाटा कैसे पूरा होगा ? यह शल्य उसके मन में कांटे के समान रात-दिन चुभने लगी। तब उसके मन में यह भाव पैदा हुआ कि अगर इस नगर का राजा मर जाय तो यह सब लकड़ी उनकी दाह-क्रिया में बिक जायगी और मेरा घाटा पूरा हो जायगा। यही बात उसके मन में बैठ गई। कुछ दिन पश्चात् उस नगर के राजा के नगर-निरीक्षण के निमित्त नगर में आने की खबर प्रजा ने सुनी। तब सारी प्रजा ने नगर की सजावट करनी प्रारम्भ कर दी। सभी दूकानदारों ने अपनी-अपनी दूकानों को खूब सज-धज के साथ सुशोभित कर दिया। इसी प्रकार उस पंसारी ने भी अपनी दूकान में सभी दूकानदारों से अधिक सजावट कर दी कि जिससे राजा मेरी दूकान की सजावट को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हों। किन्तु जब राजा नगर के बाजारों में से होकर सभी व्यापारियों की दूकानों का निरीक्षण करते हुये पंसारी की दूकान के सामने खड़े हुये तो पंसारी को देखकर एकदम राजा के मन में क्रोध उत्पन्न हो गया। राजा अपने मन में अनायास क्रोध आते देखकर विचार करने लगा कि मुझे इनको देखकर व्यर्थ में क्रोध क्यों आया है ? ऐसा मन में विचारते हुये राजा आगे बढ़ गये। कुछ दिनों के बाद राजा जब फिर निरीक्षण करने निकले तब भी पूर्ववत् पंसारी अपनी दूकान की सजावट करके खड़ा था; तब फिर उसको देखते ही राजा के मन में क्रोध आया तब राजा ने पंसारी से पूछा कि – अरे पंसारी, तुझे देखकर मेरे मन में क्रोध क्यों पैदा होता है ? तूने मेरा कोई अपराध तो नहीं किया और कोई अनुचित बात नहीं की ? फिर मेरे मन में ऐसा बुरा भाव क्यों पैदा हुआ ? तुम सच-सच कहो कि तुम्हारे मन में मेरे प्रति कुछ बुरे विचार पैदा हुये या नहीं ?

तब पंसारी ने राजा के प्रति जो बुरी भावना की थी; उसको कहा कि—राजन् ! क्षमा करो मेरे मन में कुछ भावना अवश्य ही आपके प्रति बुरी थी; इसका कारण यह था कि कुछ दिन पहले मंहगाई

में साठ-सत्तर मन चन्दन की लकड़ी मैंने खरीदी थी; आजकल उसका दाम गिर गया और उसमें बहुत-सा घाटा होने की सम्भावना मालूम होती है। तब मेरे मन में यह विचार आया कि अगर राजा मर जायगा तो इनकी दाह-क्रिया में सारी लकड़ी बिक जावेगी और मेरा घाटा भी पूरा हो जायगा, इतना विचार मेरे मन में अवश्य आया था; आप मुझे क्षमा करें।

इस बात को सुनकर राजा ने अपने मन्त्री को बुलाकर हुक्म दिया कि इनके पास जितनी भी चन्दन की लकड़ी है वह सब अपने खजाने में रखकर इनका पूरा दाम पहुंचा दो। तब मन्त्री ने सारी लकड़ी ले ली और उसका पूरा दाम भेज के उसके भीतर की बुरी वासना अर्थात् रौद्र परिणाम को दूर कर दिया। कहने का मतलब यह है कि – संसारी आत्मायें अनादिकाल से इस दुर्ध्यानके द्वारा ही अपने उपयोग को मलिन करके संसार में भ्रमण करते हुये आर्त-रौद्र परिणाम को प्राप्त हुये हैं। इसलिये जैनाचार्य कहते हैं कि ये मोक्ष मार्ग की प्राप्ति में रुकावट करनेवाले हैं, इसलिये आर्त और रौद्र दोनों ध्यानों को संसार-भ्रमण के कारण मान इन्हें त्यागना अत्यधिक उचित है।

जैन सिद्धान्त में रौद्र ध्यान का विवेचन इस प्रकार किया है :—

तत्त्वार्थ सार

प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये।
आर्तं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥ ३६ ॥

(१) इष्ट का नाश हो जाने पर वह इष्ट मुझे कैसे प्राप्त हो ऐसी जो चिन्ता शुरू होती है उसे इष्ट वियोगज नाम आर्त-ध्यान कहते हैं। यह प्रथम आर्त-ध्यान का भेद है। (२) अनिष्ट वस्तु का संयोग हो जाने पर उसे दूर हटाने की चिन्ता को अनिष्ट संयोगज आर्त-ध्यान कहते हैं। यह दूसरा भेद है। (३) अप्राप्तपूर्व वस्तुओं के प्राप्त होने की आकांक्षाओं को निदान कहते हैं। यह आर्त-ध्यान का तीसरा भेद है। (४) दुःख की वेदना होने पर अधीर होकर उससे मुक्त होने की चिन्ता करना वेदना-जनित चौथा आर्त-ध्यान है।

आर्त-ध्यान के ये चार भेद हैं। यद्यपि इष्ट वियोग अन्य आर्त-ध्यान में निदान का समावेश करने की इच्छा हो सकती है; परन्तु वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं। प्राप्त हुये इष्ट का वियोग हो जाने पर पुनः प्राप्त करने की चिन्ता में लगने से इष्ट वियोगज आर्त-ध्यान होता है। निदान वहां पर होता है जिसकी प्राप्ति हुई ही नहीं है; केवल उसके संकल्प से जीव लालायित होता है। निदान में ही जो वस्तु चाही जाती है वह इष्ट अवश्य होती है; परन्तु जब वह अभी तक प्राप्त ही नहीं है; तो उसका वियोग कैसा? अथवा पूर्व जन्मादिक में यदि उसकी प्राप्ति हुई भी हो; परन्तु अब प्राप्त होने की-सी समझ कहां है? क्योंकि विस्मरणरूप समारोप द्वारा भूल हो जाने से अब नवीन ही माननी चाहिये; यदि ऐसा न हो तो

संसार में कोई वस्तु नवीन ही न रहे। इसलिये निदान और इष्ट-वियोगज आर्त-ध्यान में परस्पर अन्तर है।

इसी तरह अनिष्ट-संयोगज और वेदना में भी अन्तर है। क्योंकि वेदना स्वयं दुःखरूप है और अनिष्ट-संयोग दुःख का कारण होता है। जैसे—विष या शस्त्र आदि का सम्बन्ध दुख का कारण होने से अनिष्ट माना जाता है।

मनुष्य आगामी दुःखोत्पत्ति की आशंका करते रहते हैं और उसके कारणों के हटाने की चिन्ता में लगे रहते हैं; परन्तु वेदना स्वयं दुःखरूप है। इसलिये इसके होने से मनुष्य स्वस्थ नहीं रह पाता; अतएव इसे हटाने की चिन्ता में लगता है: इसलिये यह अनिष्ट संयोग और वेदना भिन्न-भिन्न हैं।

रौद्र ध्यान के भेद

हिंसायामनृते स्तेये तथा विषयरक्षणे।
रौद्रं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः॥ ३७॥

क्रोधादि कषायपूर्वक हिंसा करने में रत होना, झूठ बोलने में रत होना, चोरी करने में रत होना या विषयों की रक्षा करने में मग्न होना रौद्र-ध्यान है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय संरक्षण ये विषय भिन्न-भिन्न होने से ध्यान भी चार प्रकार के होते है :- हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और विषय-संरक्षणानन्द।

जब यह आत्मा किसी कषाय के उदयवश रुद्र परिणामी किसी भयङ्कर कार्य को करने की ओर प्रवृत्ति करना चाहता है; तब इसके परिणामों में जो एक विलक्षण जाति का स्वपर-अहित-कारक बीभत्स भाव पैदा होता है; उसे रौद्रभाव कहते हैं। ऐसे रौद्रभाव के समय मनमें जो विभिन्न प्रकार के संकल्प विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं; वे सब रौद्र ध्यान के ही रूपक व सूचक हैं। ऐसे भावों का चार वर्गों में (भेदों में) वर्गीकरण करते हुये आचार्य ने उनके चार प्रकार बताये हैं; जो वस्तुतः इस जीव को नरक गति के महान दुःखों का पात्र बना देते हैं। सिद्धान्ततः यह तो सुनिश्चित ही है कि जो व्यक्ति हिंसा कर रहा है वह अपने परिणामों (भावों) के अनुसार कर्म बन्ध करता ही है। क्योंकि जैन सिद्धान्त में भावों को ही कर्म बन्धन एवं कर्म मोचन में प्रधानता दी गई है। जो भाव संसार बन्धन में प्रमुख हैं; उनके बिलकुल विपरीत भाव संवर और निर्जरा के साधक होते हुये मोक्ष के भी साधक होते हैं। अभिप्राय यह है कि कषायजनित भाव बन्ध में कारण हैं और निष्कषाय भाव मुक्ति में। फिर भी यह जीव हिंसक के हिंसा कर्म को देखकर खुशी मनाता है; यह वर्तमान की खुशी उसके भविष्य को दुःखमय बनाती है; इस बात की उस बिचारे को खबर भी नहीं है। कभी-कभी स्वयं भी यह जीव हिंसा करने में एवं कराने में आनन्द का अनुभव करता है; लेकिन यह आनन्द पाप क्रिया होने के कारण पाप का ही

वर्धक तथा बन्धक होता है और अन्ततोगत्वा इस जीव को महान दुःखावर्त में पटक देता है और वहां इसे एक क्षण के लिये भी सुख शान्ति प्राप्त करने का सुअवसर मिलता ही नहीं। हिंसा कर्म के करनेवाले को तत्काल ही दूसरों के द्वारा अनादर, निन्दा, राज-दण्ड, पञ्च-दण्ड, देश-निकाला आदि के कष्टों को भोगना पड़ता है; साथ ही पर-भव में अचिन्त्य दुःख-सामग्री के बीच में रहकर सारा जीवन दुःखों में ही बिताना पड़ता है; यह तो रही हिंसा करनेवाले प्राणी की दशा! लेकिन जो खुद तो दिखावटरूप से हिंसा नहीं कर रहा है; पर हिंसा कराने में जिसका चित्त तरह-तरह के उपायों को सोच विचार करने में लग रहा है; वह भी हिंसा के उतने ही दोष का भागी हो जाता है जितना कि हिंसा करनेवाला। अतः हिंसा करना और कराना एवं दोनों में हर्षित होना यह सब हिंसानन्द रौद्र ध्यान है।

अप्रशस्त वचन :—निन्दा सूचक वचन, मर्म भेदक वचन, अहितकारक वचन, रागोत्पादक वचन, द्वेषवर्धक वचन, विपरीत प्रवृत्ति करानेवाले वचन आदि तरह-तरह के अकल्याणकारक वचनों के बोलने में एवं दूसरों से बुलवाने में भी आनन्द मानना मृषानन्द नामक रौद्र ध्यान है। तात्पर्य यह है कि जिन वचनों के बोलने या बुलवाने से दूसरों की हानि हो, अहित हो, अकल्याण हो वह सबके सब वचन मृषा वचन कहलाते हैं; क्योंकि वह वचन किसी भी प्राणी के हृदय में तत्काल सिवाय दुःख के और कुछ भी पैदा नहीं करते। ऐसे वचन थोड़े समय के लिये कदाचित् बोलनेवाले के मन में भले ही आनन्द के कारण हों; परन्तु यथार्थतः वे बोलनेवाले के लिये भी उतने ही घातक हैं; जितने कि सुननेवाले के लिये। अतः जो वचन दोनों को परिणाम काल में दुःखकारक हों, वे सब मृषा वचन हैं। ऐसे वचनों के बोलने और बुलाने में आनन्द मानना ही मृषानन्द रौद्र-ध्यान है; यह ध्यान भी दुर्गति का कारण है। किसी के धन को चुराने का भाव करना एवं किसी दूसरे के द्वारा किसीके धन को नष्ट-भ्रष्ट करा देने का भाव करना निरन्तर इसी उधेड़-बुन में लगे रहना कि अमुक का मकान कैसे जला दिया जाय, अमुक का सोना, चाँदी, रत्न, जवाहरात आदि कैसे हरा लिये जायँ, अमुक आदमी धनवान अवस्थासे कैसे निर्धन अवस्था को प्राप्त हो जाय, अमुक को व्यापार आदि में कैसे नुकसान पहुंचाया जाय आदि नाना प्रकार के पर-धन नाशक दुर्भावों का मन में होते रहना ही चौर्यानन्द नाम का रौद्र-ध्यान है। यह चौर्यानन्द अविचारित (बिना विचार किये) भले ही आनन्द का कारण हो पर इसकी मूलमें ही धूल पड़ी हुई है। जब यह आत्मा किसी के धनादि को चुराने का विचार करता है तब यह स्वयं ही महान आकुलता का अनुभव करता है और सोचता है कि कहीं ऐसा न हो कि मेरे विचारों का किसी दूसरे को पता लग जावे; यदि कदाचित् मेरे विचार किसी दूसरे को ज्ञात (मालूम) हो जायेंगे तब तो मेरी बड़ी ही दुर्दशा होगी। उस समय तो मेरे चोरी करने एवं कराने के विचारों का मेरे प्रति दूसरों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा। लोग मेरे से घृणा (नफरत) करने लग जायेंगे। मेरे साथ लेन-देन आदि सब तरह का व्यवहार करना छोड़ देंगे तब तो मैं स्वयं ही दर-दर का भिखारी बन जाऊँगा; अतः वह प्रारम्भ से ही दुःखमय जाल में फंसता चला जाता है। भला यह चौर्यानन्द वास्तविक आनन्द कैसे हो सकता है? यह तो

महान् दुःख ही है फिर भी यह मोही अज्ञानी जीव उसी कुकर्म के करने में सदा आनन्द मानता रहता है; यही चौर्यानन्द है।

यह चौर्यानन्द वर्तमान में तो आकुलता पैदा करता है और भविष्य में भी महान् संकट को पैदा करनेवाला है; अतः दुर्गति का ही कारण है; इसीलिये आचार्य ने भी इसे दुःखों का कारण कहा है।

चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह को संग्रह करने की निरन्तर भावना का होना और उसमें आनन्द का अनुभव करना ही परिग्रहानन्द नामक रौद्र-ध्यान है। परिग्रह के कारण ही संसारी आत्मायें संसार में परिभ्रमण कर रही हैं। यह परिग्रह पिशाच जब तक इस जीव के पीछे पड़ा रहेगा तब तक इसे किसी भी प्रकार से सुख शान्ति एवं सन्तोष की प्राप्ति नहीं हो सकती। परिग्रह वह जाल है जिसमें यह संसारी जीव स्वयं ही उलझता जाता है। जैसे कि मकड़ी स्वयं ही जाल बिछाती है और स्वयं उसमें इस तरह से उलझती जाती है कि फिर उसमें से उसका निकलना बड़ा कठिन हो जाता है; वैसे ही यह प्राणी मोहोदय से प्रेरित हो तरह-तरह के चेतन और अचेतन पदार्थों के संग्रह करने में दत्तचित्त (मशगूल) हो जाता है। उसे उस समय उन पदार्थों के सिवा अपनी जरा भी खबर नहीं रहती कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, कहां मुझे जाना है, क्या मेरा स्वरूप है, मुझे क्या करना है; किसमें मेरी भलाई है और किसमें मेरी बुराई है आदि का कुछ भी ख्याल नहीं रहता है। यह सब परिग्रहानन्द नामक रौद्र-ध्यान है; यह भी दुर्गति का ही कारण है।

स्थान :—
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : ज्येष्ठ बदी १३ सं० २०१५
ता० १६-५-५८

भेद-विज्ञान

जब इस ज्ञानी जीव को भेद-विज्ञान होता है तब जो अनादि से स्व और पर को मिलाकर एकरूप माना था और जड़रूप में परिणमन करके एकाकाररूप में विचरण करते हुये अपने को काला, गोरा, सफेद इत्यादि अनेक कल्पना करते हुये रागी, द्वेषी, मोही, क्रोधी इत्यादि कल्पनारूप परिणमन कर मूढ़ता को प्राप्त हुआ था। पर अब इस मूढ़ात्मा को जब सच्चे श्री गुरु के उपदेश का निमित्त मिला तब इसको स्व-पर का ज्ञान हुआ और तभी यह आत्मा सच्चा ज्ञानी बना। तब इसे स्व-स्वरूप में स्व एवं पररूप में पर दृष्टिगोचर हुआ तब यह आत्मा सच्चा स्व-पर का ज्ञानी बनकर हेय को त्यागा और उपादेयरूप निज शुद्धात्मरूप का सच्चा उपासक बना।

इसी तरह संसारी आत्मा यदि सच्चे सुख शान्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति करना चाहता है तो भेद-विज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा के साथ जिन-जिन का संयोग है उन उनके संयोगों को आत्मा से भिन्न विचार करके उनका मोह छोड़ देना चाहिये। मोक्ष अपने ही आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। तब उसका उपाय भी केवल एक अपने ही शुद्ध आत्मा का ध्यान है। उसे जैसा ध्यावे वैसा ही हो जावे। यदि हम सब एक ही मानव की आत्मा का भेद ज्ञान करें तो यह पता चलेगा कि यह तीन प्रकार से शरीर के साथ हैं। वे तीनों शरीर पुद्‌गल द्रव्य के बने हुये हैं; आत्मा के स्वभाव से बिलकुल ही विपरीत हैं।

हमें दीखनेवाला औदारिक शरीर है; यह शरीर माता और पिता के रज वीर्य से बना है। जैसे—बारह भावनाओं में कहा है कि :—

> तू नित पोखे, यह सूखे ज्यों धोवे त्यों मैली।
> निश-दिन करे उपाय देह का रोग-दशा फैली॥
> मात-पिता रज-वीरज मिलकर बनी देह तेरी।
> मांस हाड़ नस लहू राध की, प्रगट व्याधि तेरी॥ १३॥
>
> काना पौंडा पड़ा हाथ यह, चूसे तो रोवै।
> फलै अनन्त जु धर्म ध्यान की, भूमि विषै बोवै॥
> केसर चन्दन पुष्प सुगन्धित, वस्तु देख सारी।
> देह परसते होय अपावन निस-दिन मल जारी॥ १४॥

यह शरीर तीन प्रकारका है और इसमें काय की अपेक्षासे सात काय-योग भी हैं। जैसे कि :—

> औदारिको वैक्रियिकः कायश्चाहारकश्चते।
> मिश्रश्च कार्मणश्चैव काय योगोऽपि सप्तधा॥

औदारिक शरीर, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक मिश्र, आहारक शरीर, आहारक मिश्र, कार्मण शरीर ये सात काय योग हैं; यह सभी आत्मा से भिन्न हैं ये कर्म-कृत हैं। इससे भिन्न स्व शुद्धात्मा का ध्यान करना ही ज्ञानी आत्मा को उचित है।

हे जीव! तुझे हमेशा ऐसा विचार करना चाहिये कि स्थूल दीखनेवाले शरीर कर्म-कृत हैं और वह जड़ माता-पिता के रज-वीर्य से बने हुये हैं और आत्मा इसके साथ मोहित होकर अनादि से इसी के साथ रहकर पर्यायवाला बनकर अनेक शरीरवाला कहलाता है। इस प्रकार जीव और आत्मा के प्रवाहरूप अनादि से चले आ रहे हैं; इसके साथ तैजस और कार्मण शरीर हैं। आठ कर्ममय कार्मण शरीर के विपाक से जो-जो फल व अवस्थायें और विकार आत्मा की परिणति में होते हैं उसी

आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के कारण अज्ञान मोह राग-द्वेष आदि भाव-कर्म उत्पन्न होते हैं और अघाति कर्मों के कारण शरीर, चेतन और अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध होता है; वे सभी इस आत्मा से भिन्न हैं।

जब यह ज्ञानी आत्मा विचारता है कि इन्द्रिय जन्य विषय-वासनाओं के द्वारा उत्पन्न होनेवाले जो विभाव-भाव हैं वे पर-वस्तु हैं, वे मुझसे भिन्न हैं और मुझे सदा दुःख देते आये है। अभी तक मैं इनको अपने अज्ञान से अपना मानकर इन्हीं की संयोग में सुख, और इन्हीं के वियोग में दुःख मानता आया हूं। अभी तक इस विषय के साथ मेरी जो भी क्रिया और मेरा व्यवहार है, उसी के अनुसार मैं व्यवहार करता हुआ जन्म और मरण को प्राप्त हुआ। इस प्रकार ज्ञानी को जब संसार दुःखदायी मालूम होता है तब वह उनसे मुख मोड़ कर अपने स्वरूप की तरफ झुक जाता है।

जब यह आत्मा सांसारिक इन्द्रिय सुख से घृणा करके मुख मोड़ लेता है तब इन्द्रिय-वासनाओं में अनासक्त होकर अपने निज स्वरूप में रत हो जाता है: जब जीव में किसी वस्तु के प्रति घृणा पैदा होती है तो वह उसके प्रति रुचि नहीं रखता। जब किसी कुटुम्बी या पति-पत्नी के बीच आपस में मलिनता होती है तो दोनों के अन्दर विषमता पैदा हो जाती है; वह विषमता मन से मिटनी कठिन हो जाती है। इस तरह जीव के अन्दर पर-वस्तु से जब विषमता होती है तब उसका भी आपस में मिलना मुश्किल हो जाता है; इसी का नाम भेद-विज्ञान है। इसी तरह आत्मा और शरीरके बीच जब विषमता की सृष्टि बन जाती है; फिर वह नहीं मिटती। यही स्व-पर का ज्ञान होना है।

यह आत्मा विभाव को छोड़कर स्वभाव में कब आता है ?

इसके समाधान के लिये श्री गुरू कहते हैं कि—जैसे कोई मनुष्य अपने घर से बाहर जाकर लौटते समय यदि रास्ता भूलकर यत्र-तत्र भ्रमण करने लग जाय और उसको कोई स्थान प्राप्त न हो तो उसे बड़ा दुःख होता है; उस दुःख एवं संकट के समय यदि कोई मनुष्य उसे उचित मार्ग बता दे तो वह उसको अपना उपकारी मानकर अपने नियत स्थान में पहुँच कर अपने घर में सुख से सोता है; उस समय कोई उनको घर से हटा नहीं सकता। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने निजी स्थान को प्राप्त किया। इसी प्रकार यह बहिरात्मा जब अपने निजी स्थान को छोड़कर अन्य पर्याय में भ्रमण करता है तब उनको कोई भी विश्रान्ति का स्थान न मिलने के कारण जहां जाय वहां दुःख ही दुःख पाता है। वहां पर के द्वारा अपमान असह्य, उनके द्वारा किये जानेवाले दुर्व्यवहार, अनेक तिरस्कारयुक्त कठोर विचार, वचन इत्यादि अनेकों कष्टों को सहन करना पड़ता है। अर्थात् इस तरह चारों गतियों में या अनेक पर्यायों में भ्रमण करते-करते असह्य वेदनायें सहनी पड़ती हैं। ऐसे अवसर पर इस अज्ञानी जीव को सच्चा रास्ता बतानेवाले श्री गुरू का कदाचित समागम मिले और उनके द्वारा

अपने इष्ट स्थान को पहुंचने का उपदेश का निमित्त मिले तो यह जीव तुरन्त ही पर से मुख मोड़ के स्व स्थान में अर्थात् अपने निज स्वरूप में पहुंचकर अपने जीवन को हमेशा के लिये सुखी बना ले।

अज्ञानी जीव अपने को और पर को न बचाना ही अपना इष्ट समझता है—

एक दृष्टान्त यहां पर दे रहे हैं :—

किसी धनाढ्य सेठ के घर में आग लग जाती है तब सेठ जल्दी से जल्दी अपने नौकरों से सारे रुपये, जेवर, चाँदी, सोना, कपड़े, बर्तन आदि वस्तुयें बाहर निकालने को कहता है; जब वे सब वस्तुयें बाहर निकल आती हैं तो एक तरफ खड़ा होकर पुनः नौकरों से पूछता है—अरे, नौकरों, कोई चीज भीतर रह तो नहीं गई? एक बार और देख आओ। नौकर कहते हैं—अब कुछ बचा नहीं। परन्तु घर के सेठ के वारिस बननेवाले तुरन्त जन्मा हुआ सन्तान अर्थात् पुत्र दिखाई नहीं पड़ता। तब चारों ओर हाहा-कार मच गया कि, कहां है? कहां है जलते हुये घर के कमरे में लाला सोया हुआ है; कमरे को चारों ओरसे आग ने घेर रक्खा है। तब सेठ हाय-हाय करता हुआ कहता है कि—मेरे असली माल को भूलकर नकली पदार्थ को निकाल लाये; अरे, सभी कामना व्यर्थ हो गई; ऐसा पश्चात्ताप करते त्यों दुःखी बना रहता है।

यही दशा इस अज्ञानी जीव की है कि ये जीव अनादिकाल से पर के लिये प्रयत्न किया, पर का उद्धार किया, पर के लिये जन्म-मरण किया; परन्तु जलते हुये शरीर-रूपी घर में से सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र-रूपी लाल को निकालने की कोशिश नहीं की। अन्त में पछताते हुये अनेक योनियों में जन्म-मरण करते हुये चारों गतियों में भ्रमण किया। हे जीवात्मन! अब चेत! चेत!!

स्थान : तिथि : ज्येष्ठ बदी १३ सं० २०१५

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० १७-५-५८

क्या व्यवहार-क्रिया भी भेद-विज्ञान का कारण है?

उत्तर में—कारण है। जैसे—एक राज-पुरुष शिकार या युद्ध में शत्रु को मारने के निमित्त सबसे पहले बन्दूक चलाने के लिये साधनभूत किसी आम के झाड़, आम या नींबू वगैरह को रखकर अपने निशाने को ठीक करता है। जब तक उसका निशाना दृष्टि पर ठीक नहीं बैठता तब तक उसकी साधना बराबर जारी रहती है। जब उसकी दृष्टि निशाने पर अच्छी तरह से बैठ जाती है तब वह अपने प्रतिकूल

शत्रु का सामना करने के लिये बन्दूक लेकर तुरन्त ही अपनी दृष्टि में बैठे हुये ठीक निशाने पर निशाना लगाता है। उसके बाद पुनः उसे निशाना साधने की उतनी आवश्यकता नहीं रहती।

इसी तरह गृहस्थ अवस्थामें रहनेवाला गृहस्थी स्व-पर ज्ञानकी प्राप्ति करनेके पहिले अपनी दृष्टिको ठीक करने के लिये अनेक साधनों को जुटाता है। केवल क्रिया-काण्ड करने मात्रसे ही उन्हें सुख, शान्ति या मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है या इससे ही अनेक प्रकार के सुख, शान्ति की प्राप्ति हो; यह उनका ध्येय नहीं है। उनका ध्येय केवल आगे शुद्धात्मा की प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर नीचे की क्रिया-काण्ड को साधन-रूप में रहता है। जैसे – यदि किसी मनुष्य को दूध में से घी निकालकर खाने की इच्छा होती है तो उसे केवल दूध में हाथ डुबोने मात्र से ही घी की प्राप्ति नहीं होती; इसलिये उसमें से घी निकालने की जो-जो क्रियायें एवं साधनायें हैं उन साधनों-रूप मथानी को दूध में डालता है तब उसके द्वारा जो क्रिया होती है उस क्रिया के साथ-साथ घी की तरफ अपनी दृष्टि बनाये रखता है। जब वह घी निकल आता है तब वह क्रिया अपने-आप छूट जाती है। इसी लक्ष्य को लेकर जैन सिद्धान्तकारों ने व्यवहार निश्चय को साधन बना दिया है। व्यवहार को गौण और निश्चय को मुख्य कर दोनों का सम्बन्ध बताया गया है। इसका सार यह है कि निजात्म सुख की प्राप्ति को लेकर यह क्रिया-काण्ड साधन-रूप में बताया गया है।

इसी तरह संसारी अज्ञानी जीवों को शुद्धात्मा की प्राप्ति के निमित्त जो साधन बताया गया है उस साधन को सबसे पहले लिया गया है। जैसे कि—एक छोटे बच्चे को स्कूल में भरती करने के बाद उनके माता-पिता का सबसे मुख्य लक्ष्य यह रहता है कि मेरा पुत्र पढ़-लिखकर एक प्रकाण्ड बैरिस्टर अथवा विद्वान बन जाय; परन्तु उस समय बैरिस्टर बनने के पहले साधन-रूप उनको एक स्कूल में भरती किया जाता है। जैसे-जैसे उसकी बुद्धि तीव्र होती जाती है वैसे-वैसे उस बच्चे को अनेक वैज्ञानिक साधन इत्यादि दिखाये जाते हैं। जैसे किसी बच्चे को यदि असली हाथी की पहचान नहीं है तो हाथी की पहचान कराने के लिये नकली हाथी का चित्र उसके सामने रख देते हैं; इसी प्रकार नकली गाय, भैंस, कुत्ते, बिल्ली इत्यादि का नकली चित्र बनाकर सामने रख देते हैं; तब बच्चा उसका मनन करता है। उसका पैर, नख तथा हाथी का सूंड़ आदि सब उसी मास्टर के द्वारा अपने हृदय में धारण कर लेता है और यह चित्र ठीक तरह से हृदय में उतार लेता है। तब यह हाथी है; अथवा अन्य जानवर है—इस प्रकार की धारणा तब उसमें पूर्णतया हो जाती है; तब असली हाथी आदि को पहचान जाता है और फिर वह नकली हाथी की तरफ कभी नहीं देखता। जब इन सब वस्तुओं में वह प्रवीण हो जाता है तब उसके ज्ञान की वृद्धि होती है; तब उसके साधन-रूपी क्रियाओं की आवश्यकता नहीं रहती।

इसी तरह गृहस्थ आश्रम में रहनेवाला संसारी आत्मा जब अपनी असली उन्नति में पहुंचने की कोशिश करता है तब उसको साधन-रूप गृहस्थ आश्रम में रहकर देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान इत्यादि क्रियाओं को साधन-रूपमें करते हुये अपने संसारी इन्द्रिय-वासनाओं

को मर्यादित रखने की चेष्टा करता है और जब तक उस वस्तु की प्राप्ति नहीं हुई है तब तक इसी के सहारे रहता है। क्योंकि बहुत से लोग यह कहते हैं कि—ये सभी क्रियायें बन्ध के लिये कारण हैं और इस संसार को बढ़ानेवाली हैं। उनका कहना यह ठीक है; परन्तु जैनाचार्य का यह ध्येय नहीं है।

जैसे किसी मनुष्य के कपड़े मैले हो जावें तो उसे मैले पानी से धोने पर उसका मैल कदापि नहीं जा सकता है; उस मैल को उतारने के लिये साबुन की आवश्यकता होती है। साबुन कपड़े में लगाकर पानी में केवल छोड़ दे अथवा पानी में ठीक तरह से जाय तो वह साफ नहीं हो सकता। क्योंकि साबुन का लगाना मैल को दूर करना है। पहले जो पाप-रूपी मैल था वह हटकर पुण्य-रूपी मैल रह गया; परन्तु इसमें यह हो गया कि अशुभ मल तो हट गया और शुभ मल रह गया। अगर इसी साबुन-रूपी मल को न हटाया जायेगा तो केवल उसमें जो पाप-रूपी गन्दगी थी वह तो निकल गयी और पुण्य-रूपी सुगन्ध रह गयी। अब इनमें केवल इतना ही अन्तर रह गया कि पाप-रूपी दुर्गन्ध हटकर पुण्य-रूपी सुगन्ध रह गई; अब उन दोनों को हटाना है। क्योंकि इन दोनों के हटाये बिना जैसे कपड़ा साफ नहीं होता है; उसी तरह वैराग्य रूपी पानी के बिना पाप-पुण्य मैल हटकर आत्मा शुद्ध स्वरूप नहीं होता है। जब वह पूर्व जन्म में किये गये; पुण्य, पाप या संसार वासनाओं के प्रति होनेवाली निदान बन्ध-रूपी भावना हटाकर केवल निर्मल वैराग्य-रूपी भावना के द्वारा इन दोनों को हटाने के लिये निश्शल्य वृत्तिवाला बन जाता है तब यह दोनों पाप और पुण्य-रूपी मैल को हटाकर मूल अवस्था-रूप शरीर के अन्दर छिपी हुई शुद्धात्मा को ठीक तरह से पहचान लेता है।

इसलिये जितने व्यवहार क्रिया-काण्ड बताये गये हैं वे केवल निजात्म प्राप्त करने के लक्ष्य हैं। सबसे पहले साधक को अशुभ कर्म को रोकने के लिये देव पूजा, गुरुपास्ति, ध्यान, दान आदि क्रियायें बतलायी गयी हैं। सबसे पहले जैन-धर्म में जीव दया पालने को उपदेश दिया है। क्योंकि संसार में जितने भी जीव हैं वे सभी जीव द्रव्यार्थ दृष्टि से समान हैं। हरेक जीव में परमात्मा-रूप बनने की शक्ति है; परन्तु यह जितने भी जीव हैं अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार लब्धि द्वारा इस मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके परमात्मा होने का पुरुषार्थ रखते हैं; इसलिये एकेन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रिय तक जितने भी जीव कहलाते हैं वे सभी अपने ही समान हैं और सामान्य दृष्टि से ज्ञान दर्शन चेतनामय स्वरूपवाले हैं। यह अपने पूर्व जन्म में किये हुये अशुभ फल के द्वारा नीच ऊँच शरीर धारण किये हैं और उन्हीं के अनुसार उन-उन पर्याय में अपने उदय में आये हुये कर्म के फल को भोगते हुए अपनी पर्याय की पूर्ति करते जा रहे हैं; इसलिये जैन सिद्धान्त यह कहता है कि जगत के जितने प्राणी हैं उन प्राणी मात्र पर समान दृष्टि रक्खो। इसी दृष्टि को लेकर जैन सिद्धान्तकारों ने सबसे पहले पांच पापों का त्याग करने का उपदेश दिया है; सर्वप्रथम अहिंसा धर्म का उपदेश दिया है। अहिंसा धर्म आत्मा का धर्म है और इसी को वस्तु स्वरूप भी कहते हैं। यह आत्मा अनादिकाल से पर-वस्तु के सम्बन्ध से अपने को विकार

रूप बनकर विकार वस्तु के संसर्ग से पुनः विकार भाव को प्राप्त होकर विकार भावों के द्वारा इन्द्रिय जन्य सुखों के भोगों की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा करता है। उन जीवों के घात से पुनः अपने साथ दूसरे जीवों के द्वारा विरोध करा लेता है। इसी निमित्त से परलोक में हमेशा उनके साथ ऊँच-नीच गति के द्वारा आपस में बदला लेते रहते हैं; इसलिये जैनाचार्य ने सबसे पहले जीव का स्वरूप अहिंसात्मक कहा है। इसलिये सबसे पहले हिंसा को त्यागने का उपदेश दिया गया है। वह हिंसा चार प्रकार की हैं—संकल्पी हिंसा, आरम्भी हिंसा, उद्योगी हिंसा और विरोधी हिंसा।

मनुष्य मात्र के लिये सबसे पहले संकल्पी हिंसा को त्याग करने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि जब मनुष्य के अन्दर इन्द्रिय भोगों की तथा वासनाओं की पूर्त्ति करने का भाव उत्पन्न होता है तब उनके अन्दर एक प्रकार की स्वार्थ बुद्धि उत्पन्न होती है; तब वह स्व-पर हित का भाव नहीं सोचता; वह अपने अविवेक के द्वारा दूसरे जीव के घात की कल्पना करता है। या उनको नीचे गिराने के भाव या उनको दुःख पहुँचाने के भाव या उनको मारने के भाव इस तरह से अपने अन्दर दुर्भाव पैदा होते हैं तब उनका विवेक भी नष्ट होता है। विवेक बिलकुल नहीं रहता, केवल अपनी इच्छा पूर्ति के लिये बुरे भाव के द्वारा द्रव्य और भाव हिंसा से जीव का घात माना है। अगर वह मानव कदाचित् किसी जीव को द्रव्य हिंसा के द्वारा नहीं मारे, परन्तु भाव में है तो वह बिना मारे हुये ही कर्म का बन्ध कर लेता है; इसलिये इसको संकल्पी हिंसा कहते है। जब उनके अन्दर हिंसा की कल्पना आयेगी तब द्रव्य और भाव दोनों ही होंगे। इसलिये पाप बन्ध का मूल कारण संकल्पी हिंसा ही मानी गयी है; अतः मानव को सबसे पहले संकल्पी हिंसा त्यागना ही उचित है। अब शेष तीन हिंसा रहीं- आरम्भी उद्योगी एवं विरोधी हिंसा। इन तीनों के अन्दर द्रव्य हिंसा रहती हैं; परन्तु भाव हिंसा नहीं। क्योंकि इसमें संकल्पी हिंसा गर्भित नहीं है। मानव इस संकल्पी हिंसा से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को परम्परा से चलाने के लिये और भगवान् जिनेन्द्र देव के शासन तथा अहिंसा मार्ग को सुरक्षित रखने के लिये, अहिंसा मार्ग की परिपाटी को कायम रखने के लिये, अपनी आजीविका के साथ एकदेश हिंसा का पालन करता है और भगवान के कहे हुए अहिंसा मार्ग में न्यूनता आना नहीं है और आजीविका को न्यायपूर्वक चलाते हुए इन तीनों प्रकार के आरम्भ को करता है और उससे होनेवाली आरम्भ हिंसा को मिटाने के लिये दान, पूजा इत्यादि शुभ क्रियायें करते हैं। क्योंकि जब तक गृहस्थ आश्रम में है तब तक उनका त्याग नहीं कर सकता और इन तीन प्रकार के आरम्भ को करना आवश्यक है।

(१) आरंभ हिंसा—असि कर्म :— शस्त्र धार कर सिपाही का काम करना। पुलिस की जरूरत रोज चोर व डाकुओं से बचाने के लिये है। सेना की जरूरत भूमिको लोभी राजाओंके हमले से बचाने के लिये है। शस्त्रों से कष्ट पाने का भय मानवों को दुष्ट कर्म से रोक देता है। अपने प्राणों की रक्षा सभी जीव

चाहते हैं। यदि असि कर्म को उठा लिया जाय तो जगत् में दुष्टों से रक्षा न हो। तब कोई आराम से रहकर गृहस्थ व साधु धर्म का पालन नहीं कर सकता। असि कर्म में दृष्टि रक्षा की तरफ है हिंसा की तरफ नहीं; रक्षा में बाधक की हिंसा करनी पड़ती है।

(२) *मसि कर्म* :—हिसाब-किताब बही खाता लिखने का काम। लेन-देन में व्यापार में लिखा-पढ़ी की जरूरत पड़ती है; परदेश पत्र भेजने पड़ते हैं। इस काम में भी कुछ आरम्भी हिंसा होना सम्भव है।

(३) *कृषि कर्म* :- खेती का काम। इसकी तो प्रजा को बहुत बड़ी जरूरत है। अन्न, फल, शाक की उत्पत्ति के बिना उदर-भरण नहीं हो सकता। खेती के लिये भूमि हल से नर्म की जाती है; पानी से सींची जाती है, बीज बोया जाता है, अन्नादि काट कर एकत्र किया जाता है, खेती की रक्षा की जाती है; खेती के काम में बहुत अथवा थोड़ी हिंसा करनी पड़ती है।

(४) *वाणिज्य कर्म* :—व्यापार की भी जरूरत है। भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न वस्तुयें पैदा होती हैं व बनती हैं; कच्ची वस्तुओं से पक्की वस्तुयें तैयार करनी पड़ती हैं। जैसे—रुई से कपड़ा। वस्तुओं को कहीं से इकट्ठा करके व पक्का माल तैयार करके स्वदेश व परदेश में विक्रय करना व माल का खरीदना व्यापार है। व्यापार में वाहन पर ढोते हुये, उठाते, धरते हुये आरम्भी हिंसा होना सम्भव है।

(५) *शिल्प कला* :—कारीगर के काम की जरूरत है। थवई मकान बनाते हैं, लुहार लोहे के बर्तन व शस्त्र बनाते हैं, सुनार गहने गढ़ते हैं, जुलाहे कपड़े बुनते हैं, बढ़ई लकड़ी की चीजें बनाते हैं इत्यादि नाना प्रकार की वस्तुयें गृहस्थी को चाहिये। तख्त, कुर्सी, मेज, कागज, कलम, वस्त्र, बर्तन, परदे, चटाई, बिछौने आदि—इन सबको बनाने का काम करते हुये थोड़ी या बहुत आरम्भी हिंसा होना सम्भव है।

(६) *विद्या कर्म* :—गृहस्थियों को मन बहलाने के लिये कला (चतुराई) के काम भी होते हैं। जैसे गाना, बजाना, नाचना, चित्रकारी आदि। कुछ लोग इस प्रकार की कलाओं से आजीविका चलाते हैं। इस कर्म के करने में भी थोड़ी हिंसा लाचार होकर करनी पड़ती है; यह सब आरम्भी हिंसा है। जो आदमी इन ६ प्रकार के काम करनेवालों की सहायता करते हैं, वे सेवा का काम करते हैं। सेवा से भी पैसा कमाया जाता है; सेवकों को भी आरम्भी हिंसा में अपने को लगाना पड़ता है। काम पुरुषार्थ में गृहस्थियों को भोजन, पान, आराम व न्यायपूर्वक विषय-सेवन करना पड़ता है; योग्य सन्तान को जन्म देना पड़ता है; उसे स्त्री अथवा पुरुष-रत्न बनाकर उत्तम जीवन बिताने योग्य करना पड़ता है। इन कार्यों के लिये भी कुछ आरम्भी हिंसा करनी पड़ती है।

धन सम्पत्ति व भोगोपभोग की रक्षा करना भी जरूरी है। दुष्टों से व लुटेरों से व शत्रुओं से धन, माल व राज्य की रक्षा करनेमें पहले तो अहिंसामय उपाय काममें लेने चाहिये; जिससे अपनी रक्षा हो जावे व दूसरे का घात भी न करना पड़े। यदि कोई उपाय अहिंसामय न चल सके तो गृहस्थ को शस्त्र का उपयोग करके रक्षा करनी पड़ती है। उसमें भी हिंसा होती ही है, परन्तु अपनी-अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने का प्रयोजन रहता है; उसकी हिंसा हिंसा नहीं है। जब वह विरोध को बन्द कर दे तो वह शीघ्र प्रीति स्थापित कर ले। इस तरह आरम्भी हिंसा के तीन भेद हो जाते हैं।

विरोधी हिंसा

यह विरोधी हिंसा अपने धर्म पर या अपने कुटुम्ब पर, कोई शत्रु अन्यायपूर्वक या अत्याचार-पूर्वक आकर यदि लूट-मार करके प्रजा पर अत्याचार करता है; तब राजा उस समय दाम के द्वारा उनको रोकने की चेष्टा करता है। कदाचित् यदि पापी शत्रु नहीं माने तो राजा अपनी प्रजा के ऊपर व धर्म के ऊपर आयी हुई आपत्ति को दूर करने के लिये शस्त्र द्वारा प्रतीकार करने के लिये युद्ध करता है। राजा संकल्पी हिंसा कभी भी नहीं करता; निःस्वार्थ बुद्धि से अपनी प्रजा को पुत्र-वत्सलतापूर्वक पालन करता है। जैसे—राजा को राजकुमार के प्रति लाड़-प्यार रहता है और अपने राजमहल में राजकुमार स्वतन्त्रतापूर्वक खाया-पिया करता है। राजा को उसपर कभी भी क्रोध नहीं आता, प्रेम करता है और हमेशा पुत्र को बलशाली बनाने की चेष्टा करता है। लेकिन राजा डांट-फटकार के द्वारा उसे सदा भय दिखलाता रहता है; उसी प्रकार प्रजा के प्रति भी राजा अपने पुत्रवत् वत्सलतापूर्वक प्रजा पालन करता है; तथा प्रजा को उन्मार्ग या पाप मार्ग में विचरने न देकर उन्हें भी ताड़न-दण्ड इत्यादि शिक्षा के द्वारा उन्मार्ग से बचाकर न्याय मार्ग पर लगाने की हमेशा चेष्टा करता है; धर्म वृद्धि के प्रति प्रजा को नीति मार्ग का शिक्षण देता है और धर्म को दोहराता है। प्रजा को योग्य शस्त्र और धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र अनेक कलाओं को सिखाने में राजा दत्तचित्त रहता है और प्रजा को बलशाली तथा शूरवीर बनाने की चेष्टा करता है।

अगर राजा ही धर्म-भ्रष्ट, नीति-भ्रष्ट, दुराचारी इत्यादि या पाप की वृद्धि करनेवाला होगा; तब प्रजा भी उन्हीं का अनुकरण करेगी।

इस तरह से यह सभी क्रिया आत्मा की शुद्धात्म की दृष्टि लेकर है। जब इस अवस्था में रहकर अपनी दृष्टि एक-देश हिंसा की परिपाटी उनके अन्दर ठीक जम जाती है और इन तीनों प्रकार की हिंसा को पूर्णतया त्याग करके साधु अवस्था में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है। आगे इसी लक्ष्य को लेकर गुणस्थान पर आरूढ़ हो जाता है। ये स्टेज अथवा गुणस्थान १४ प्रकार होते हैं; उनका विवरण आगे विवेचन में करेंगे।

स्थान :— तिथि : ज्येष्ठ बदी १५ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० १८-५-५८

धर्म्य ध्यान का स्वरूप

धर्म शब्द की परिभाषा करते हुए आचार्य श्री कुन्द कुन्द स्वामी ने कहा है कि—

वत्थु स्वभावो धम्मो उत्तम खम आदि दह विधो धम्मो।
रयणत्तयंच धम्मो अहिंसा लक्खणोहि परमो धम्मो॥

अर्थात् वस्तु-पदार्थ का स्वभाव ही उसका धर्म है। वस्तु का अर्थ है जिसमें नाना गुणों का निवास हो यानी विविध प्रकार के तरह तरह के गुण जिसके अन्दर पाये जांय। इतना ही नहीं; किन्तु उन नाना गुणों की प्रति समय होनेवाली नाना पर्यायें भी जिसके भीतर प्राप्त हों वह वस्तु है। इस लक्षण से जब हम किसी लक्ष्यभूत वस्तु की ओर दृष्टि डालते हैं तब हमें यह निःसन्देह निश्चय होता है कि वास्तव में यह लक्षण प्रत्येक वस्तु में निर्बाध रूप से उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम हम जीव द्रव्य को ही लेते हैं। हम देखते है कि हरेक जीव अपने में ज्ञान; दर्शन, सुख, शक्ति आदि अनेक गुणों को रखता है और इन गुणों के समय समय पर होनेवाले विभिन्न प्रकार के परिणमन भी प्रत्येक जीव में पाये जाते हैं जो उसके निज स्वरूप हैं और हैं असाधारण। असाधारण का अर्थ है जीव के सिवा अन्य किसी भी अजीव द्रव्य में उनकी उपलब्धि नहीं होती है। यद्यपि जीव एक अखण्ड द्रव्य है और है अनन्त; किन्तुसंख्या की दृष्टिसे एक जीवके प्रदेश गिननेमें नहीं आते। अतएव वे असंख्यात हैं। ऐसे असंख्यात असंख्यात प्रदेश रखनेवाले जीव अनन्त हैं; अनन्त में भी अक्षयानन्त हैं। अर्थात् इनका कभी अन्त और छोर नहीं मिलता, ये अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे इनका कभी भी नाश सम्भव नहीं है। ऐसे जीवों का जो स्वभावगत गुणात्मक और पर्यायात्मक परिणमन होता रहता है वही इनका आत्म धर्म है। यह कथन अभेद दृष्टि की मुख्यता से किया गया है जिसे दूसरे शब्दों में निश्चय दृष्टि भी कहते हैं। किन्तु जब भेद दृष्टि को मुख्य और अभेद दृष्टि को गौण करके वस्तु का स्वरूप बताना होता है तब वही जीव उत्तम क्षमा, उत्तमार्दव, उत्तम, आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य रूपसे दस प्रकार का धर्ममय कहा जाता है। आगे चलकर पुनः भेद करने पर वही आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय स्वरूप कहलाता है। पुनः संक्षेप में जब जीवके स्वरूप के कहने की इच्छा होती है तब यह भी कहने में आता है कि जीव अहिंसामय है। उक्त चारों लक्षण विभिन्न दृष्टिकोणों को लेकर कहे गये हैं। जो वास्तविक ही हैं; क्योंकि वे चारों ही एकमात्र जीव में ही पाये

जाते हैं अन्य में नहीं। अब हम देखते हैं कि उन चारों लक्षणों में से ऐसा कौनसा लक्षण है जिसके द्वारा जन साधारण की दृष्टि में जीव की पहिचान हो सके। तब 'हम वत्थु सहावो धम्मो' को ही एक ऐसा लक्षण पाते हैं; जो जीव मात्र में घटित होता है; क्योंकि जीव मात्र का स्वभाव स्वभावात्मक चैतन्य-रूप है। यह दूसरी बात है कि वह लक्षण वस्तुमात्र में पाया जाता है; चाहे वह चेतन जीव हो और चाहे अचेतन अजीव हो; अजीव में भी चाहे पुद्गल हो, चाहे धर्म-द्रव्य हो, चाहे अधर्म द्रव्य हो, चाहे आकाश द्रव्य हो और चाहे काल द्रव्य हो; सबका अपना-अपना स्वभाव निश्चित रूप से अपने-अपने में ही पाया जाता है; जो साधारण है, सामान्य है। पर विशेष की अपेक्षा से जिस द्रव्य का जो स्वभाव होगा वही उसका धर्म कहलायगा। इस अपेक्षा से जीव का चैतन्य स्वभाव है; अतएव वही उसका धर्म है, ऐसा कहना युक्ति-युक्त है। यहां पर यह भी एक शंका हो सकती है कि जीव तो अनादिकाल से विभाव परिणतिमय है; फिर उसे ज्ञानदर्शन स्वभाववाला क्यों कहा जाता है? वह तो वर्तमान में विभाव-रूप से परिणमन कर रहा है; अतः उसका ज्ञानदर्शन भी विभाव-रूप ही तो होगा—इत्यादि। यद्यपि यह शंका एक दृष्टि से ठीक भी है, परन्तु ज्ञानदर्शन स्वभाव का घात न होकर उसका विभाव-रूप से परिणमन हो रहा है; पर है तो वह चैतन्यमय ही; अचेतन तो नहीं हुआ है; बस इतना ही तात्पर्यार्थ यहां लेना है कि वह ज्ञानदर्शन शक्तिमय है, भले ही वह विभाव-रूप हो या स्वभाव-रूप। यहां विभाव और स्वभाव-रूप परिणति विशेष की अपेक्षा न रखते हुए एकमात्र चैतन्य जीवत्व-रूप सामान्य धर्म को लेकर ही उक्त बात कही गई है; अतः इसमें कोई बाधक शंका नहीं हो सकती है। दूसरी बात यह भी है कि वस्तु स्वभाव-रूप धर्म आगे के कहे हुए तीनों विशेष धर्मों के साथ सामान्य-रूप से रहता ही है; लेकिन आगे के तीन प्रकार के धर्म एकमात्र सम्यग्दृष्टि के ही पाये जायगे, मिथ्यादृष्टि के नहीं; अतएव सम्यग्दृष्टि के ध्यान को ही धर्म्य-ध्यान कहा जाता है ऐसा धर्म्य-ध्यान अविरत सम्यग्दृष्टि, देश विरत, प्रमत्त विरत और अप्रमत्त विरत इन चार गुणस्थानों में पाया जाता है। पूज्यपाद स्वामी ने श्रीउमा स्वामी के तत्वार्थसूत्र की वृत्ति-रूप सर्वार्थसिद्धि की टीका में भी उक्त प्रकार से ही वर्णन किया है।

आज्ञापाय विपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम्।

तत्वार्थसूत्र अ० नवमा।

वह धर्म्य-ध्यान, आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय के भेद से चार प्रकार का है :—

आज्ञा, विचय, धर्म्य-ध्यान।

सूक्ष्म पदार्थोंके स्वरूपका जानना विशेष ज्ञान का कार्य है। ज्ञानी ही गहराईके साथ उसे समझ सकते हैं; अन्य नहीं। मैं स्वयं तो अल्पबुद्धि ही हूं; साथ ही किसी विशेष ज्ञानी सद्गुरु आदि धर्मोपदेशक का इस काल में और क्षेत्र में सर्वथा अभाव है; साथ ही मेरे ज्ञानावरणादि कर्मों का विशेष-रूप से उदय हो रहा है; जिसके कारण मैं उस सूक्ष्म पदार्थ के स्वरूप को समझने में ही असमर्थ हूं; अतः भगवान जिनेन्द्र

देवने जो वस्तु का स्वरूप अपने केवल ज्ञान के द्वारा जानकर अपनी दिव्य ध्वनि के जरिये तमाम संसार के कल्याण के लिये कहा वह अक्षरशः सत्य है, निर्दोष है, पूर्वापर विरोध-रहित है, हितकारक है इत्यादि प्रकार से सूक्ष्म और गहन, अति कठिन बुद्धि में आनेवाले पदार्थ के स्वरूप को निश्चय करके उसमें सर्वथा शंकारहित श्रद्धान करना, विचारना आज्ञा-विचय-नामक धर्म्य ध्यान है। क्योंकि भगवान जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा कहा हुआ सूक्ष्म तत्व कभी किसी हेतु आदि के द्वारा खण्डित नहीं हो सकता है; अतएव उसे जिनेन्द्र देव की आज्ञा के अनुसार ही ज्यों का त्यों (न अधिक और न न्यून,) मान लेना चाहिये। क्योंकि जो जिनेन्द्र हैं वे कर्म रूपी शत्रुओं को जीतनेवाले हैं या जीत चुके हैं; वे कभी अन्यथा विपरीत नहीं कह सकते हैं। अथवा स्वयं शास्त्राध्ययन या स्वाध्याय या तत्वज्ञ पुरुषोंके सत्सङ्ग से पदार्थों के स्वरूप का रहस्य जानकर उसे दूसरों को समझाने के उद्देश्य से अपने सच्चे सिद्धान्त का विरोध न करते हुए उस पदार्थ के सच्चे स्वरूप को समझाने में यथायोग्य रूप से तर्क नय और प्रमाण आदि के उपयोग में पूर्ण सावधानी रखना भी आज्ञा-विचय नाम का धर्म्यध्यान है। इसमें सर्वज्ञ वीतराग अरहन्त परमेष्ठी की आज्ञा की ही मुख्यता है, उसी पर पूर्ण श्रद्धा आधारित है

अपाय-विचय धर्म्यध्यान :—

मिथ्यादृष्टि—विपरीत श्रद्धानी वस्तु के स्वरूप को बिल्कुल ही उलटा माननेवाले लोग जन्मान्ध पुरुष के समान (जिसे जन्म से सच्चे मार्ग का ज्ञान न हो वे) कुमार्ग पर चलकर अपना अहित कर लेते हैं; वैसे ही ये अज्ञानी सच्चे मोक्ष के मार्गसे अनभिज्ञ (अपरिचित) हो मोक्ष की इच्छा से संसार-वर्द्धक मार्ग को ही मोक्ष का मार्ग मानकर उसपर चलकर अपना अकल्याण कर लेते हैं, यह बड़े दुःख की बात है। इन विचारों को भगवान जिनेन्द्र सर्वज्ञ देव के द्वारा बताये गये मोक्ष मार्ग का ज्ञान ही नहीं है। तभी तो ये मिथ्या मार्ग पर चल रहे हैं—इत्यादि अपाय के दुर्गति में ले जानेवाले आचरण विशेष के विषय में विचार करना अथवा ये संसारी प्राणी संसार के कारण रूप मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र से कैसे हटेंगे? कब इनमें सद्‌बुद्धि आयेगी? ऐसा विचार करना अपाय विचय धर्म्य ध्यान है।

विपाक-विचय धर्म्यध्यान :—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठों कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र काल, भव और भाव इन पांचों के निमित्त से होनेवाले फल-विशेष के विषय में विचार करना। यह संसारी प्राणी नाना प्रकार के दुर्विचारों से नाना दुर्गतियों में ले जानेवाले पाप कर्मों को करता है और यथासमय उनके फलों को भी भोक्ता है। इसी प्रकार से शुभ विचारों से सद्‌गतियों में ले जानेवाले शुभ कर्मों को उपार्जन करता है और समय पर उदय में आये हुए उन्हीं पुण्य कर्मों के

फल को भी भोगता है और फिर नवीन कर्मों को बांधता है। इस तरह कर्म फल का विचार करना ही विपाक-विचय धर्म्यध्यान है।

संस्थान-विचय धर्म्यध्यान :—

लोक की रचना-विशेष का विचार करना कि तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण इस लोक में तीन भाग हैं। ऊर्ध्व, मध्य और अध:। ऊर्ध्व लोक वह है जहां विशेष पुण्यात्मा जीव निवास करते हैं। जहां विशेषतया सुखसाता की सामग्री पाई जाती हैं; जिनमें रहनेवाले देव इन्द्र और अहमिन्द्र कहे जाते हैं, जो बहुत ही सुखी होते हैं। मध्य लोक में रहनेवाले जीव उनसे कम सुखी होते हैं। पर अधो-लोक के जीव तो अत्यधिक दु:खी रहते हैं। इसमें अधिकतर लोक-रचना का ही विचार किया जाता है।

स्थान :— तिथि : ज्येष्ठ सुदी १ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० १९-५-५८

आत्मा तीन प्रकार का है।

तिपयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर झायहि अंतरसहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु ॥ ६ ॥

आत्मा को तीन प्रकार जानो—परमात्मा, अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा। भ्रान्ति या शंका रहित होकर बहिरात्मापना छोड़ दो; अन्तरात्मा होकर परमात्मा का ध्यान करो।

भावार्थ :— द्रव्य दृष्टि या शुद्ध निश्चयनय से सभी आत्मायें एक समान शुद्ध-बुद्ध परमात्मा ज्ञानानन्दमय हैं; कोई भेद नहीं है। द्रव्य का स्वभाव सत है; सदा रहनेवाला है व सत्-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-रूप है। हरएक द्रव्य अपने सर्वसामान्य तथा विशेष गुणों को अपने भीतर सदा बनाये रहता है, उनमें एक भी गुण कम व अधिक नहीं होता; इसलिये द्रव्य ध्रौव्य होता है। हरएक गुण परिणमनशील है, कूटस्थ नित्य नहीं है। यदि कूटस्थ नित्य हो तो कार्य न कर सके; गुणों के परिणमन से जो समय-समय में हरएक गुण की अवस्था होती है; वह उस गुण की पर्याय है।

एक गुण में समय-समय होनेवाली ऐसी अनन्त पर्यायें होती हैं; पर्यायें सब नाशवन्त हैं। जब एक पर्याय होती है तब पहली पर्याय को नष्ट करके होती है। पर्यायों की अपेक्षा हर समय द्रव्य-उत्पाद-व्यय-स्वरूप है; अर्थात् पुरानी पर्याय को बिगाड़कर नवीन पर्याय को उत्पन्न करता हुआ द्रव्य अपने सर्वगुणों को लिये हुये बना रहता है; इसलिये द्रव्य का लक्षण "गुणपर्ययवत् द्रव्यं" गुण पर्यायवान द्रव्य होता है; ऐसा विवेचन किया है।

हरएक द्रव्य में जितनी पर्यायें सम्भव हो सकती हैं उन सबकी शक्ति रहती है; प्रगटता एक समय में एक की होती है। जैसे—मिट्टी की डली में जितने प्रकार के बर्तन, खिलौने, मकान आदि बनने की शक्ति है; वे सब पर्यायें शक्ति से हैं; प्रगट एक समय में एक-पर्याय ही होगी। जैसे—मिट्टी से प्याला बनाया, प्याला तोड़कर मटकन्ना बनाया, मटकन्ना तोड़कर एक पुरुष बनाया, पुरुष तोड़कर स्त्री बनाई आदि। इन सब पर्यायोंमें मिट्टी वही है व मिट्टीके सब गुण भी वे ही हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णात्मक मिट्टी सदा मिलेगी।

द्रव्य जगत् में छः हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और कालाणु इन चारों द्रव्यों में एक समान (सदृश) स्वभाव-पर्यायें ही होती रहती हैं। उनके पर के निमित्त से विभाव पर्यायें नहीं हो सकती हैं; वे सदा उदसीन पड़ी रहती हैं।

सिद्धान्तों में भी सदृश स्वभाव पर्यायें होती हैं; क्योंकि उनके ऊपर किसी पर द्रव्य का प्रभाव नहीं पड़ सकता है, वे पूर्ण मुक्त हैं। परन्तु संसारी आत्माओं में कर्मों का संयोग (उदय) होने के कारण विभाव पर्यायें व अशुद्ध पर्यायें होती हैं। परमाणु जो जघन्य अंश स्निग्ध व रूक्ष गुण को रखता है, किसी से बंधता नहीं है, उस परमाणु में भी स्वभाव पर्यायें होती हैं; जब यही स्निग्ध व रूक्ष गुणों के बढ़ने से दूसरे परमाणु के साथ बन्ध योग्य हो जाता है तब उसमें विभाव पर्यायें होती हैं।

पर्यायें दो प्रकार की हैं—अर्थ पर्याय व व्यञ्जन पर्याय। प्रदेश गुण या आकार के पलटने को व्यञ्जन पर्याय व अन्य सर्वगुणों के परिणमन को अर्थ पर्याय कहते हैं। शुद्ध द्रव्यों में व्यञ्जन व अर्थ पर्याय समान-रूप से शुद्ध ही होती है; अशुद्ध से अशुद्ध अर्थ पर्याय व आकार की पलटन-रूप अशुद्ध या विभाव व्यञ्जन पर्याय होती है। संसारी आत्मायें अशुद्ध हैं तो भी हरएक आत्मा में अपने सर्वही गुणों के शुद्ध या अशुद्ध परिणमन की शक्तियां हैं; जब तक वे अशुद्ध हैं तब तक अशुद्ध पर्यायें प्रगट होती हैं। शुद्ध आत्माओं में भी शुद्ध व अशुद्ध पर्यायों के होने की शक्ति है; परन्तु शुद्ध पर्यायें ही प्रगट होती हैं; क्योंकि अशुद्ध पर्यायें होने के लिये पुद्‌गल का कोई निमित्त नहीं है। जैसे एक परमाणु में सर्वसंभवित पर्यायों के होने की शक्ति है वैसे एक आत्मा में निगोद से लेकर सिद्ध पर्याय तक सर्वपर्यायों के होने की शक्ति है; यह वस्तु स्वभाव है।

सिद्ध भगवानों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीनों की पर्यायों के होने की शक्ति है; उनमें से परमात्मापने की शक्ति, व्यक्त या प्रगट है; शेष दो शक्तियां अप्रगट हैं। इसी तरह संसारी आत्माओं में जो बहिरात्मा हैं उनमें बहिरात्मा की पर्यायें तो प्रगट हैं; परन्तु उसी समय अन्तरात्मा व परमात्मा की पर्यायें शक्ति-रूप से अप्रगट हैं; यद्यपि तीनों की शक्तियां एक ही साथ हैं।

अन्तरात्मा में अन्तरात्मा की पर्यायें जो प्रगट हैं; उसी समय बहिरात्मा व परमात्मा की पर्यायें शक्ति-रूप से अप्रगट हैं। वास्तव में द्रव्य को शक्ति की अपेक्षा देखा जाय तो हरएक आत्मा में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीनों ही शक्तियां हैं। उनमें से किसी एक की प्रगटता रहेगी तब दो की अप्रगटता रहेगी। जैसे—पानी में गर्म होने की, लाल, हरे, पीले व निर्मल होने की व ठण्डा रहने की आदि शक्तियां हैं। जब पर का निमित्त न होगा तब वह पानी निर्मल ठण्डा ही प्रगट होगा। उसी पानी को अग्नि का निमित्त मिले तो गर्म हो जायगा और तब गर्मपने की दशा प्रगट होगी; शीतपने की दशा अप्रगट रहेगी।

मैल का निमित्त मिलने पर मैला, लाल रंग का निमित्त मिलने पर लाल, हरे रंग का निमित्त मिलने पर हरा हो जायगा, तब निर्मलपना शक्ति-रूप से रहेगा।

किसी पानी को पर का निमित्ति न मिले तो वह सदा ही निर्मल व ठण्डा ही झलकेगा; परन्तु गर्म व मलीन व रंगीन होने की शक्तियों का अभाव उस पानीमें से नहीं हो जायगा। सिद्ध परमात्माओं में कर्मोदय का निमित्त न होने पर वे कभी भी अन्तरात्मा व बहिरात्मा न होंगे; परन्तु इनकी शक्तियों का उनमें अभाव नहीं होगा। अभव्य जीव कभी भी अन्तरात्मा व परमात्मा न होंगे; बहिरात्मा ही बने रहेंगे; तो भी उनमें अन्तरात्मा व परमात्मा की शक्तियों का अभाव नहीं होगा। इसलिये श्री पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में कहा है कि :—

> बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
> उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥

भावार्थ—सर्व ही प्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीन प्रकारपना है, उनमें से बहिरात्मापना छोड़े। अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मापने की सिद्धि करे—यही श्रीयोगेन्द्राचार्य 'परमात्म-प्रकाश' में कहते हैं—

> अप्पा तिविहु मुणेवि बहु मूढउ मेल्लहि भाउ।
> मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्प सहाउ ॥

भावार्थ—आत्मा को तीन प्रकार का जानकर बहिरात्मा-स्वरूप भाव को शीघ्र ही छोड़े और जो परमात्मा का स्वभाव है उसे स्वसंवेदन ज्ञान से अन्तरात्मा होता हुआ जाने। वह स्वभाव केवल ज्ञान द्वारा परिपूर्ण है।

मिथ्या-दर्शन आदि चौदह गुणस्थान होते हैं, इनकी शक्ति सर्व आत्माओं में है। प्रगटता एक समय में एक गुणस्थान की संसारी आत्माओं में रहेगी। यद्यपि ये सर्व चौदह गुणस्थान संसारी आत्माओं में होते हैं, सिद्धों में कोई गुणस्थान नहीं है; तो भी संसारी जीवों का बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन अवस्थाओंमें विभाग हो सकता है। जो अपने आत्माको यथार्थ न जाने, न श्रद्धान करे, न अनुभव करे, वह बहिरात्मा है। मिथ्यात्व, सासादन, व मिश्र गुणस्थानवाले सभी बहिरात्मा हैं। जो अपने आत्मा को सच्चा जैसे का तैसा श्रद्धान करे, जाने व अनुभव करे वह अन्तरात्मा है। जहाँ तक केवल ज्ञान नहीं वहां तक चौथे अविरत सम्यक्त्व से लेकर ५ देश-विरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्म लोभ, ११ उपशांत मोह, १२ क्षीण मोह पर्यंत नौ गुणस्थानवाली सब आत्मायें अन्तरात्मा-सम्यग्दृष्टी हैं। सयोग केवली जिन तेरहवें व अयोग केवली जिन चौदहवें गुणस्थानवाले अरहंत परमात्मा हैं।

इन दोनों गुणस्थानवालों को संसारी इसलिये कहा गया है कि उनके आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघातिया कर्मों का उदय है—क्षय नहीं हुआ है। यथार्थ में सिद्ध ही शरीर रहित परमात्मा है, अरहंत शरीर सहित परमात्मा हैं, इतना ही अन्तर है। कहने का प्रयोजन यह है कि बहिरात्मापना त्यागने योग्य है। क्योंकि इस दशा में अपने आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र नहीं होता। उपयोग संसारासक्त मलीन होता है तथा आत्मज्ञानी होकर अन्तरात्मा दशा में परमात्मा का ध्यान करके अर्थात् अपने ही आत्मा को परमात्मा-रूप अनुभव करके कर्मों का क्षय करके परमात्मा हो जाना योग्य है। धर्म के साधन में प्रमाद न करना चाहिये।

सार समुच्चय में कुलभद्राचार्य कहते हैं :—

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातंकविनाशनम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा॥

भावार्थ—दुःख-रूपी रोग के विनाशक धर्म-रूपी अमृत को सदा पीना चाहिये, जिसके पीने से जीवों को सदा ही परमानन्द प्राप्त होगा।

भेद-विज्ञान क्या है? हमारा और तुम्हारा। यह भेद-विज्ञान बहिरात्मा का है; क्योंकि बहिरात्मा की दृष्टि अन्धी होती है। जब जवान पुत्र बीस वर्ष का होता है तब उसकी दृष्टि ऊपर रहती

है, अर्थात् वह हित और अहित का विचार नहीं करता। उसी प्रकार बहिरात्मा जीव दूसरे के प्रति मान, राग तथा द्वेष करता है। वह तो भगवान् की मूर्ति को देखकर पत्थर ही की प्रशंसा करता है कि—इस मूर्ति की नाक, कान आदि बहुत ही सुन्दर हैं; परन्तु उन वीतराग भगवान् के गुणों की तरफ उसका ध्यान नहीं जाता। जिनकी मूर्ति इस पाषाण में कल्पित की गई है उनकी ओर इसका जरा भी ध्यान नहीं होता। उदाहरण के लिये यदि आज हमारे सामने कोई मुसलमान विद्वान आ जाय तो हम उसके शरीर के काले, गोरे आदि रंग की तरफ या उसके वस्त्र आदि की ओर देखते हैं; परन्तु उसके भीतर गुण है या नहीं, इसकी ओर जरा भी हमारा ध्यान नहीं जाता; क्योंकि हम गुणग्राही नहीं हैं। हम गुण की कदर करना नहीं जानते; बलिक बाहरी चकाचौंध के ऊपर ही लट्टू हो जाते हैं। हमें यह जरा भी विचार नहीं होता कि हम गुणों के पुजारी हैं; बाह्य वेष-भूषा के नहीं। गुणों की पूजा से ही हमारा भला हो सकता है; अन्यथा नहीं। एक बार किसी राजसभा में एक चमार आया। उसे देखकर सभी लोग हँस पड़े; वह भी बहुत हँसा। राजा ने पूछा कि—अरे, भाई! तू क्यों हँसता है? तब वह चमार बोला कि आप की सभा में सभी लोग चमार हैं, क्योंकि सभी चमड़े की परीक्षा करते हैं; गुणों की नहीं। जब तक हम गुणों की कदर करना नहीं सीखेंगे तब तक हमें सद्गुण कहां प्राप्त होंगे? जो ज्ञानी होते हैं, गुणवान होते हैं वे ही ज्ञान और गुणों की पूजा करने के अधिकारी होते हैं। ज्ञानी जन ज्ञान की ही पूजा करते हैं; शरीर की नहीं। यदि कोई पूछता है कि—भाई, तुम किसका पूजन कर रहे हो? तो बहिरात्मा सहसा उत्तर देता है कि—मैं तो भगवान् की मूर्ति का पूजन करता हूं। उस विचारे को यह जरा भी खबर नहीं है कि जिस जड़ मूर्ति की मैं पूजन कर रहा हूं वह मेरी जड़ता को दूर करने में समर्थ नहीं है; मेरी जड़ता को तो वही दूर कर सकेगा जो अपनी जड़ता को अपने पुरुषार्थ से दूर कर चुका है और जिसकी आत्मा पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो चुकी है; जो परिपूर्ण परमात्म दशा को प्राप्त कर चुका है। जब तक इस प्रकार के पूर्ण परमात्मा को हम नहीं पहिचानेंगे तब तक हमारा अनादिकाल का अज्ञान किसी भी प्रकार से दूर नहीं हो सकता। जब तक आत्मा में अज्ञानता का एक अंश भी रहेगा तब तक आत्मा ज्ञानी बनने का अधिकारी नहीं है। उस अज्ञानता का मूल कारण आत्मा का विपरीत श्रद्धान है और वह विपरीत श्रद्धान भी मिथ्यात्व-मूलक है। शरीर में आत्मत्व बुद्धि का होना ही मिथ्यात्व का परिचायक है। शरीर से भिन्न स्त्री पुत्रादि में भी ममत्व बुद्धि का होना मिथ्यात्व की ही एक दशा है। जब तक मिथ्यात्व रहता है तब तक आत्मा अपने स्वरूप से च्युत रहता है। और इसीलिये उसे बहिरात्मा कहा जाता है; क्योंकि आचार्यों ने आत्मा से भिन्न बाह्य वस्तु को आत्मा-रूप से स्वीकार करनेवाले को बहिरात्मा कहा है। कविवर पं० दौलतराम जी ने इसी बात को पुष्ट करते हुये छहढाला में लिखा है—देह जीव को एक गिनै; बहिरातम तत्वमुधा है।

तात्पर्य यह है कि—जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण स्वभाववान, पुद्गलमय शरीर को और ज्ञान, दर्शन, सुख सत्ता आदि चैतन्यमय आत्मा को अभेद मानता हुआ अपना जीवन यापन करता है वह मूढ

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है—बहिरात्मा है। ऐसा मिथ्यादृष्टि, शरीर की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति को, शरीर के नाश से आत्मा के नाश को शरीर के ह्रास से आत्मा के ह्रास को मानता है। यह बहिरात्मा इतना मूढ़ होता है कि मैं अमुक को मार सकता हूं, अमुक को जिन्दा कर सकता हूं, मैं धनवान को गरीब और गरीब को धनवान कर सकता हूं, मैं अन्धे को सूझता बना सकता हूं और सूझते को अन्धा बना सकता हूं इत्यादि नाना प्रकार के विकल्प-जाल में वह सदा जकड़ा हुआ रहता है। इसी कारण वह भगवान् के पास आकर भी राग की पूजा करता है। वह समझता है कि यह मन्दिर भगवान् का है, यह छत्र और वेदी भी भगवान् की है, परन्तु वह यह नहीं सोचता कि भगवान् ने तो इन सबका त्याग किया; अब ये चीजें उनकी कैसे हो सकती हैं? वे तो पूर्ण वीतरागी हैं; अब तो इन चीजों से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है; यह तो भगवान् के भक्तों की ही सारी लीला है। वे ही भक्ति में आ करके भगवान् के मन्दिर का निर्माण करते-कराते हैं, चामर छत्र आदि चढ़ाते हैं, सिंहासन आदि का निर्माण कराते हैं; लेकिन भगवान् को इन तमाम चीजों से कोई भी प्रयोजन नहीं है। अगर भक्त भक्ति के प्रवाह में उनकी स्तुति करता हुआ उनसे कुछ याचना भी करता है तो उसकी भी पूर्ति भगवान् नहीं करते; क्योंकि उनका किसी भी भक्त के साथ राग नहीं होता; लेकिन भक्त के परिणामों की निर्मलता से होने-वाला पुण्य-बन्ध उन चीजों के प्राप्त कराने में सहायक हो जाता है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि भक्त की निश्चल भक्ति के कारण बड़े-बड़े ऋद्धिधारी देव भी आ करके उसके इष्ट पदार्थों की पूर्ति भी करते हैं। सच्चे भक्त के ऊपर यदि किसी प्रकार की विपत्ति आ जाय तो उसका निवारण भी जिन-शासन-भक्त देवों के द्वारा किया जाता है; यह सब निश्चल भक्ति का ही प्रभाव है। वास्तविक बात तो यह है कि जहां गुणानुराग होता है वहां सब तरह के सुख-साधन मिल जाते हैं; और जहां मात्र अपना प्रयोजन ही साधना होता है वहां ईश्वर की उपासना स्पर्श भी नहीं कर पाती; क्योंकि उपासना तत्व उपास्य देवों के गुणों पर निर्भर करता है। यदि गुणानुराग नहीं है, तो वह उपासना वास्तविक उपासना नहीं कही जा सकती; वह तो मुर्दे को शृङ्गारित करने के समान निष्फल है; निष्प्राण पूजा, पूजक के किसी भी प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, भावहीन पूजा, दान, तप, शील, संयम आदि सभी क्रियायें भावशून्य होने के कारण निरर्थक ही होती हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुये कल्याण. मन्दिर स्तोत्र में भगवान् पार्श्वनाथ का स्तवन करते हुये सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि :—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि।
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या॥
जातोऽस्मि तेन जनबांधव! दुःखपात्रम्।
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥

तात्पर्य यह है कि—हे भगवन्, मैंने जन्म-जन्मान्तरों में आपके गुणों को सुना, आप की पूजा की, आप की वीतराग मुद्रा का अवलोकन किया; किन्तु भक्ति-भाव से आप को अपने हृदय में धारण नहीं किया। इसलिये हे प्राणी मात्र के अकारण बन्धु ! मैं आज तक दुःखों का ही पात्र बना रहा; क्योंकि भावशून्य जितनी भी क्रियायें होती हैं वे प्रायः निष्फल ही होती हैं। जो बहिरात्मा होते हैं वे तमाम धार्मिक क्रियाओं को तो करते हैं; किन्तु उन क्रियाओं को क्यों करना चाहिये ? क्या उसका प्रयोजन है ? तथा उसके करने का क्या नियम है ? आदि बातों का उनके मन में विचार ही पैदा नहीं होता। वे तो केवल क्रियाओं को ही फलदायिनी मानते हैं और इसीलिये उन क्रियाओं को करते हुये भी उनको कोई फल नहीं मिलता; सो ठीक ही है। कोई मनुष्य भोजनशाला में पहुंच करके भात बनाने की सभी सामग्रियों को जुटा ले; यानी चूलहा जला ले, चूल्हे के ऊपर बटुली रखकर उसमें पानी भी भर दे; किन्तु यदि उसमें चावल न डाले तो सब कुछ डालने पर भी भात कहां से तैयार हो सकता है ? उसी प्रकार यह बहिरात्मा जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल तथा इन सबका समुदाय अर्घ्य आदि को भले ही चढ़ा दे; ऐसा कर देने से उसकी द्रव्य पूजा तो अवश्य होती है, किन्तु भावों के अभाव में उसकी यह पूजा अभीप्सित पदार्थों को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकती।

पूजा का साक्षात् फल तो सभी प्रकार की आधि-व्याधियों को नाश करना, और अभीष्ट पदार्थों को प्रदान करना ही आचार्यों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। उन्होंने बताया है कि—जो मनुष्य मन, वचन और काय से इस लोक और परलोक सम्बन्धी किसी भी प्रकार की कामना न करते हुये वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी भगवान् जिनेन्द्र का आराधन करते हैं उन सबके विविध प्रकार के मानसिक, वाचनिक, शारीरिक और आकस्मिक दुःख तो दूर होते ही हैं; किन्तु जहां कहीं भी वे जाते हैं वहां पर ही उन्हें इष्ट पदार्थ की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है; और तो हम क्या कहें उनके घनघोर भयंकर जंगलों में भी महामंगल होते हैं; यही निष्काम भक्ति की महिमा है।

स्थान :
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : ज्येष्ठ सुदी २ सं० २०१५
ता० २०-५-५८

बहिरात्मा का स्वरूप

मिच्छादंसणमोहियउ, परु अप्पा ण मुणेइ ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुण संसारुभमेइ ॥ ७ ॥

मिथ्यादर्शन से मोही जीव परमात्मा को नहीं जानता है, वही बहिरात्मा है। वह बार-बार संसार में भ्रमण करता है। ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है :—

तात्पर्यार्थ—जैसे मदिरापायी मदिरा पीकर उन्मत्त हो बेसुध हो जाता है; अपने को ही भूल जाता है वैसे ही यह जीव मिथ्यादर्शन के प्रभाव से मोही होकर अपने आत्मा के स्वरूप को ही भूल जाता है; तब परमात्मा को भूल जाना तो कोई बड़ी बात नहीं है।

बहिरात्मा के विचार

बहिरात्मा—वाह्य वस्तुओं से ही परम सन्तुष्ट रहता है। उसकी दृष्टि में दृश्यमान जगत् (दिखावटी दुनिया) ही सब कुछ है; इससे बढ़कर आगे और कुछ नहीं है। वह वाह्य-शरीरादि की सेवा शुश्रूषा में ही अपने कर्तव्य की परिसमाप्ति मान लेता है। वह समझता है कि अगर मैंने अपनी और अपने आश्रित रहनेवाले कुटुम्बियों की खान-पान, रहन-सहन, मकान, मचान, मोटर, गाड़ी, सवारी आदि की समुचित व्यवस्था कर ली तो मैंने सब कुछ कर लिया, इसी में मेरा जीवन सफल है और यदि यह सब न कर सका तो फिर मेरा जीवन ही बेकार है इयादि बहिर्मुखी की बलिहारी है। वह सुबह से साम तक और साम से सुबह तक तमाम सांसारिक कार्यों के करने में ही जुटा रहता है; इन कार्यों के सिवाय कुछ आत्मा के कल्याण का भी कोई कार्य मुझे करते रहना चाहिए; यह कल्पना भी उसके मन में स्वप्न में भी नहीं आती; और आये भी कैसे ? जब वह आत्म तत्व के विषय में बिलकुल ही जानकारी नहीं रखता तब उसके कल्याण आदि की भावना उसके मन में कहां से पैदा हो ? वह तो शरीर की शुद्धि को ही आत्म-शुद्धि मानता है और इसीलिये गङ्गा आदि नदियोंमें स्नान करनेसे मेरे शरीर की शुद्धि हो तो मेरी आत्म-शुद्धि है ऐसा मानता है। वह तो गङ्गा को ही ज्ञानदायिनी, मुक्तिदायिनी, पाप नाशिनी पुण्योत्पादिका मानता है; जो कुछ है सो सब गङ्गा ही है; गङ्गा मरणान्मुक्ति, गंगा में मरने से वह आत्मा मुक्त हो जाता है; अतः वह गंगामें डूबकर मरने की भी चेष्टा करता है ताकि उसकी हमेशाके लिये मुक्ति

हो जाय। अरे, भाई ! अगर गंगा में स्नान करने से तेरा आत्मा शुद्ध और सिद्ध (मुक्त) हो सकता है तो जितने भी प्राणी उसमें स्नान करेंगे या मरेंगे तो वे सबके सब मुक्त हो जायंगे, तब मुक्ति तो बहुत ही सस्ती और सरल हो जायगी। फिर तो गृह त्याग कर मुनि बनने की और तरह-तरह की तपस्या आदि के करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। एकमात्र गंगा ही सबको संसारमें समुद्रसे पार कर देगी; पर ऐसा हो नहीं सकता; यह तो तू ने ही अपने मन्तव्य के अनुसार मान रखा है।

असली बात तो यह है कि श्री सगर चक्रवर्ती के दो पुत्रों ने जिनके नाम गंग और भगीरथ थे; जब ये दोनों गंगा जी में स्नान करके मुनि हुए तो इन्हें कुछ ही समय के पश्चात् केवलज्ञान हो गया; इन्द्र आदि देवों ने इनके केवलज्ञान की पूजा बड़े ठाट-बाट और साज-बाज के साथ की। बहुतों ने उसी गंगा में स्नान किया; क्योंकि गंगा में स्नान करने के पश्चात् ही उन दोनों भाइयों को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी; इसलिये ही गंगा जी को पवित्र माना गया है। लेकिन इसका अर्थ यह कभी नहीं हो सकता है कि गंगा में स्नान करने से केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है; केवलज्ञान तो तभी होगा जब कि यह आत्मा अनात्म दशा से निकल कर आत्मदशा में आकर पूर्णतया पञ्च पापों को अपने सच्चे पुरुषार्थ के द्वारा, नग्न दिगम्बर मुद्रा में स्थित हो, नष्ट करके अनादि के मोह जाल को परम तप-रूप तीक्ष्ण धारवाली तरवार से छिन्न-भिन्न कर देगा। केवल गंगा में नहानेमात्र से उनको केवलज्ञान हुआ था, ऐसी गलत धारणा जिन्होंने बना ली हो उन्हें चाहिए कि वे उक्त प्रकार की असत् और मिथ्यात्ववर्धक गलत विचार धारा को छोड़ पुरुषार्थ प्रधान-तपोधाम में आ जायं और यह तभी सम्भव हो सकेगा जब वह बहिरात्मापन को छोड़ेगा; अन्यथा कुछ भी कल्याण होनेवाला नहीं। जो बहिरात्मत्व बुद्धि को छोड़ अन्तरात्मपन को प्राप्त करेगा वही जिनतीर्थ में स्नान कर परम धाम का भागी बन सकेगा; क्योंकि जिनतीर्थ जिनवाणी-रूप महा समुद्र में स्नान किये बिना आत्मा का अनादिकालिक कर्म-मल किसी भी प्रकार से धुल नहीं सकता; जिनवाणी-रूप महान सागर में ही उक्त प्रकार की शक्ति विद्यमान है; और वह है सर्व प्राणीमात्र के कर्म-मल को सर्वथा और सर्वदा के लिये दूर करने में अव्यर्थ साधन। उसका एक कारण और भी है, और वह है निरपेक्ष निरावरण ज्ञान में आया हुआ यथार्थ पदार्थ का परमार्थ-स्वरूप, जो सत्यं शिवं सुन्दरं के रूप में निरबाध-रूप से प्रस्तुत करता है; जिसमें किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं है, पूर्ण है; अतएव पूर्णता का प्रतिपादक और परम प्रकाशक है।

मनः शुद्धि में भगवान् की भक्ति कारण है।

जिस मन के कारण यह आत्मा विविध प्रकार के सङ्कल्प-विकल्पों में पड़कर कलुषित होता रहता है; जिसमें दूसरों की बुराई, पर की निन्दा, अन्य की अभिवृद्धि (तरक्की) न देख सकनी, दूसरों के अपमान करने-कराने, उनके धन, स्त्री, पुत्र आदि के विनाश करने-कराने आदि के बहुत ही नीच से नीच

विचार हमेशा उत्पन्न होते रहते हैं; वह मन ही वास्तव में इस आत्मा को नरक-निगोद आदि में ले जाकर वहां के घोरातिघोर दुःखों का अनुभव करता है। इस मन की शुद्धि पूर्ण पवित्रता यदि कहीं हो सकती है तो वह सिर्फ जिन भक्ति में ही हो सकती है; जिन भक्ति ही वह पवित्र शक्ति रखती है जिससे यह मन, जो वे लगाम इधर-उधर पांचों इन्द्रियों के विषम विषयों में फिरा करता है; वह मन अपने-आपही यहां जिन भक्ति में अति ही निश्चल हो जाता है। उसका भी एक प्रमुख कारण यह है कि जो जिन हैं, कर्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर चुके हैं; जिनकी आत्मा पूर्णतया निर्मल हो चुकी है उनकी भक्ति ही भक्त की आत्मा को पूरी तौर से निर्मल बना सकती है; क्योंकि जैसा आदर्श होगा वैसा ही उसका भक्त हो सकेगा। यदि आदर्श सदोष होगा, रागी होगा, द्वेषी होगा, कामी होगा, क्रोधी होगा, मानी होगा, मायामयी होगा, लोभी होगा, दम्भी होगा, कपटी होगा, वंचक(ठगिया) होगा तो उसका भक्त भी लगभग वैसा ही बनेगा। यह कैसे हो सकता है कि मालिक (प्रभु) तो लोभी हो और उसका भक्त (सेवक) उदार हो; सेवक में उदारता तो तब आयेगी जब उसका स्वामी या मालिक स्वयं उदार होगा। अतः वीतराग, सर्वज्ञ, हितंकर परमदेव, श्री जिनेन्द्र देव जब स्वयं ही सब तरहसे निर्दोष हैं कर्म-विजेता हैं और हैं मोक्षमार्ग प्रणेता; तब तो उनका भक्त भी यदि हृदय से उनकी भक्ति करेगा तो वह भी उनही जैसा जिनेन्द्र बन जायगा। यह तो कोई नई अनोखी बात नहीं है; यह तो स्वभावसिद्ध और तर्क-प्रसिद्ध सर्व-साधारण मान्य है। एक सच्चे हृदय से भक्ति करनेवाले भक्त ने भी भगवान से प्रार्थना करते हुए एवं याचना को प्रकट करते हुए कितना ही सुन्दर कहा है। वह कहता है :—

याचेऽहं याचेऽहं जिन तव चरणारविन्दयोर्भक्तिं।
याचेऽहं याचेऽहं पुनरपि तामेतामेव॥

तात्पर्य यह है कि—हे जिनेन्द्र देव मैं आपके पवित्र पादपद्म की भक्ति ही चाहता हूं अर्थात् आपकी भक्ति ही साक्षात् मुक्ति को प्रदान करने में कारण है; इसलिये मैं अपने जीवन को सफल बनाने के लिये आपके चरण-कमलों की भक्ति (सेवा) को पुनः पुनः (बार बार) चाहता हूं। याचना करता हूं आपके चरण-कमलों की भक्ति ही वह श्रेष्ठ नौका है जिसमें बैठकर यह प्राणी संसार रूप महा समुद्रसे पार हो जाता है। अतः जिन-भक्ति मनको शुद्ध, पवित्र और स्वच्छ करने में बेजोड़ (अनुपम) है। यही जिन-भक्ति सदा से भक्तों के मन को ही नहीं, प्रत्युत् आत्मा को भी पवित्र करने में साधन रही है और रहेगी। मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? चतुर्निकायके देव इन्द्र और अहमिन्द्र आदि सभी अपने अपने निवास-स्थानों में रहनेवाले अनादिनिधन जिन चैत्यालयोंमें विराजमान अर्हन्त जिनबिम्बों की पूजा भक्ति में ही अपना सारा जीवन बिताते रहते हैं। तीन लोक में जितने भी कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालय हैं उन सब की पूजा वन्दना और स्तुति आदि के करने की ओर उन सब का बड़ा ही ध्यान रहता है। आगम के अनुसार तो यहां तक बताया गया है कि जब कोई जीव यहां से मरकर देव-योनि

में जाता है तब वहां पर अन्तर्मुहूर्त में वह युवक के समान हो जब चारों तरफ देखता है तब बड़ा ही विस्मित हो जाता है। कोई देव जो उसके सेवक होते हैं वे इससे कहते हैं कि-हे देव, आइये इधर पधारिये देखिये यह बावड़ी है, इसके स्वच्छतर जल में स्नान कीजिये और ये दिव्य धोती दुपट्टे पड़े हुए हैं इन्हें पहन लीजिए और फिर इन जिन चैत्यालयों में जाकर इनकी भक्ति-भाव के साथ अभिषेकपूर्वक पूजा कीजिये जो आत्म-शुद्धि में विशेष रूप से कारण है इत्यादि।

दंसण भट्टा भट्टा दंसण भट्टस्य णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झन्ति चरिय भट्टा दंसण भट्टाण सिज्झन्ति॥
सम्मत्त रयण भट्टा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणा विरहिया भमंति तत्थव तत्थव॥
सम्मत्त विरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
णलहंति बोहिलाहं अवि वास सहस्स कोडीहिं॥

जो जीव सम्यग्दर्शन-सच्चे श्रद्धान् से-भ्रष्ट हैं-रहित हैं अर्थात् जिन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई है वे जीव मोक्षमार्ग से शून्य हैं, संसारमार्गी हैं। ऐसे जीवों को निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति होना प्रायः दुर्लभ ही है। जो जीव सम्यग्दर्शन से तो सहित हैं, परन्तु चारित्र से रहित हैं वे जीव समय के प्राप्त होने पर निर्वाण (मोक्ष) को पा सकते हैं अर्थात् उन्हें सिद्धपद प्राप्त हो सकता है; क्योंकि मोक्ष की मूल जड़ सम्यग्दर्शन है। वह जिसके पास होगी वह निकट भविष्य में ही सम्यक् चारित्र को धारण कर मोक्ष को प्राप्त कर सकेगा। परन्तु जिसके पास सम्यक्त्व नहीं है वह सम्यक् चारित्र को कैसे पा सकता है अर्थात् नहीं। यही बात पं० प्रवर श्री दौलतरामजी ने भी थोड़े में छह ढाला में कही है।

मोक्ष महल की परथम सीढी या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यकता न लहे सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा॥

तात्पर्य यह है कि मोक्ष रूप महल पर चढ़ने के लिये पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन है। यदि यह न हो तो आगे की ज्ञान और चारित्र, ये दो सीढ़ियां किसी भी तरह से प्राप्त नहीं हो सकतीं। अतएव जो मुमुक्षु हैं, संसार के बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे सर्वप्रथम सत्पुरुषार्थ द्वारा सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का सत्प्रयत्न करें। यहां यह बात विचारणीय है कि सम्यग्दर्शन-(आत्मदर्शन) के साथ ही ज्ञान सम्यज्ञान हो जाता है और उसी समय अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्टय के अभाव से आत्मा में स्वरूपाचरण चारित्र भी प्रकट हो जाता है यानी सम्यग्दृष्टि की स्वरूप रमण में स्वानुभव से आत्मिक आनन्द की प्राप्ति प्रारम्भ हो जाती है। तो भी वह सम्यक् चारित्र नाम इसलिये नहीं पाता

है कि वहां अभी अप्रत्याख्यावरण क्रोध आदि कषायें उदय में आ रही हैं जिनके कारण हिंसादिपंच पापों के त्याग की भावना नहीं बन रही हैं। वह तो तब होगी जब इसके उक्त कषायों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होगा और तभी उसके एकदेश या सर्वदेश पांचो पापोका त्याग होने से अणु व्रत या महाव्रत या विकल या सकल चारित्र होता है। अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण क्रोधमान माया लोभ के क्षयो पशम से देशचारित्र और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के क्षयोपशम से सकल चारित्र-महाव्रत होता है और संज्वलन क्रोध मान माया और लोभ के उपशम या क्षय से यथाख्यात चारित्र होता है जिसका अर्थ है भगवान जिनेन्द्र ने जैसा आत्मा का स्वरूप बताया है वैसा ही हो गया है। उसमें अब जरा भी कोई भी विकार नहीं रहा है; ऐसा निर्विकार आत्मा अब थोड़े ही समय के अन्तर्मु-हूर्त के भीतर ही भीतर उसे वह अचिन्त्य माहात्म्यवान केवलज्ञान होनेवाला है; जिसमें तीन लोकके तमाम अनन्तानन्त पदार्थों के अनन्तानन्त गुण और उनकी अनन्तानन्त पर्यायें दर्पण के समान एक साथ प्रतिबिम्बित होती हैं; अर्थात् ज्ञेय रूप से जानी जाती हैं वह केवल ज्ञान जयशील हो। इसी बातको पुरुषार्थ सिद्धयुपाय के कर्ता परम अध्यात्मयोगी आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने भी स्पष्ट करते हुए कितना सुन्दर कहा है। वे कहते हैं—कि

तज्जयति परं ज्योतिः, समं समस्तैरनन्त पर्यायैः ॥
दर्पण तल इव सकला, प्रतिफलति पदार्थमालिकायत्र ॥

तात्पर्य यह है कि वह उत्कृष्ट सर्वोत्तम-सर्वोपरि केवल ज्ञान रूप महान तेज जयवन्त रहे जिसमें सभी अनन्तानन्त पदार्थ अपनी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों के साथ प्रतिफलित (परछाईं) रूपसे प्राप्त होते हैं। दर्पण के तलभाग के समान वहां आचार्य श्री ने दर्पण तलकी उपमा दी है, जो इस बात को सूचित करती है कि जैसे दर्पण अपनी स्वच्छता से अपने में अपने सामने रहनेवाले पदार्थों को झलकाता है वैसे ही समस्त पदार्थ जो अपने अपने योग्य क्षेत्र में रहकर भगवान के केवलज्ञान में ज्ञेय रूप से प्रतिभासित होते हैं ऐसा ही ज्ञान और ज्ञेय का अनादिकालिक सम्बन्ध बना हुआ है। ऐसा नहीं है कि जैसा चुम्बक और लोहे का होता है अर्थात् चुम्बक में खेंचने की स्वाभाविक शक्ति है और लोहे में खिचने की अपनी ही खुद की शक्ति है और दोनों जब योग्य क्षेत्र में बाधारहित होते हैं तब वे दोनों स्वयमेव ही वैसा परिणमन कर जाते हैं जैसा कि ऊपर कह आये हैं। यह पदार्थ और ज्ञान की ज्ञेय ज्ञापक शक्ति अचिन्त्य है, स्वाभाविक है, अनादि – निधन है और है अनुपम। ऐसी परिपूर्ण ज्ञायक शक्तिका विकास बिना यथाख्यात संयमके सम्भव होनहीं, सम्यक्त्व से रहित जीवको मुक्ति का लाभ तो असम्भव ही है। वह कितना ही घोर तपश्चरण क्यों न करें लेकिन वह तपश्चरण उसे मोक्ष का कारण न होकर संसार का ही कारण होगा; क्योंकि उसकी तपस्या न तो संवर का कारण है और न मोक्ष की उपयोगिनी निर्जरा का ही। जिस तपश्चरण से सम्वर और निर्जरा नहीं होते हैं; उससे मोक्ष तो हो ही

कैसे सकता है ? अतः मिथ्यादृष्टि का तपश्चरण एकमात्र बन्ध का ही कारण है; भले ही वह पाप बन्ध का कारण न होकर पुण्य बन्ध का ही हो। पर उससे भी तो संसार ही बनेगा। ऐसा मिथ्यादृष्टि रत्नत्रय को कैसे पा सकता है, जिसकी दृष्टि बाह्य पदार्थों पर ही टिकी हुई है ? बाहिर भटकनेवाले जीव को अपनी भीतरी वस्तु का तो जरा भी ख्याल नहीं है; ऐसा बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि करोड़ों सागरों पर्यन्त संसार सागर में ही गोता लगाता रहता है। बहिरात्मा के आचरण का यत्किञ्चित दिग्दर्शन कराते हुये श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासन में कहते हैं कि :—

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्म जनितेषु।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥
ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेनचात्मनो भिन्नाः।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥
तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन मुह्यति द्वेष्टि रज्यते।
ततो बन्धोभ्रमत्येवं मोहव्यूहगतः पुमान् ॥

तात्पर्य यह है कि नाना प्रकार के कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए शरीर आदि जो आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, भिन्न थे। और भिन्न ही रहेंगे; तीन कालमें भी कभी आत्म-रूप न हो सकेंगे उन पदार्थों को यह विपरीत बुद्धि जीव अपने मानता है; बस इसी का नाम ही ममकार है। जैसे - शरीर को अपना मानना। जब शरीर जड़ है, अचेतन है, मूर्तिक है, स्पर्श रस गन्ध और वर्णवाला है; तब वह आत्मा कैसे हो सकता है; लेकिन यह मोही इनमें ममत्व को प्राप्त करके ही संसारी बन रहा है और जब तक उक्त प्रकार के ममत्व का परित्याग नहीं करेगा तब तक इसका संसार से उद्धार होना किसी प्रकार से सम्भव नहीं है।

शरीरादि से भिन्न होते हुए भी आत्मा से कथञ्चित अभिन्न राग, द्वेष, काम, क्रोध, माया, लोभ, दम्भ, ईर्षा आदि भाव निश्चयनय की दृष्टिसे आत्माके नहीं हैं; क्योंकि वे शुद्ध नहीं हैं। यहां यथाख्यात संयम यद्यपि पूर्ण नहीं हुआ है; क्योंकि अभी योग का सद्भाव बना हुआ है। जबतक योग का संयोग आत्मा के साथ रहेगा तबतक आत्मा अपनी पूर्ण शुद्ध सिद्ध अवस्था में नहीं पहुंच सकती; तथापि मोह का सर्वथा क्षय (अभाव) हो जाने से आत्मा का वह निज-स्वरूप तो प्रकट हो गया है; जो ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंके सम्बन्ध से अप्रकट था और जिसके कारण आत्मा अज्ञानी, मोही, रागी, द्वेषी और कामी, क्रोधी आदि बन रहा था।

अब वह विकारी दशा से निकलकर अविकारी अवस्था में आ गया है; अतएव यह यथाख्यात संयमी ही है; यह कहने में कोई बाधा भी नहीं है। गर्ज कहने की यही है कि सम्यग्दर्शन से शून्य को

आगे के गुण कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? और जब आगे के गुण नहीं होंगे तब इसे मुक्ति का लाभ कैसे हो सकता है ? अतः सम्यग्दर्शन सबसे पहले प्राप्त करना चाहिए। जो जीव रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट हैं, शून्य हैं वे भले ही नाना शास्त्रों के जानकार हों; यहां तक की ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक के ज्ञाता हों, तो भी वे जब अपने को ही नहीं जानते तब पर को जाननेमात्र से उनका कोई आत्मिक लाभ नहीं है; वह तो मात्र शास्त्र ज्ञान है; आत्म ज्ञान नहीं। ऐसा आत्म ज्ञान शून्य बहिरात्मा चारों आराधनाओं का आराधक न होने से यहां का यहां ही घूमता फिरता है। चारों आराधनाओं में दर्शन आराधना मुख्य है, बिना दर्शन आराधना के शेष तीन आराधनायें किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं हैं; अतः आराधना—शून्य का संसार परिभ्रमण तो निश्चित ही है। हां, जिसके पहली दर्शन आराधना होगी उसके आगे की तीन आराधनायें अवश्य ही पूर्ण होंगी। दर्शन आराधना प्रधान जीव ज्ञान आराधना में तत्पर होगा ही, क्योंकि ज्ञानाराधना से ही चारित्र आराधना का आराधन सफल हो सकता है। ज्ञानाराधना भी तभी तक विधेय है या आराध्य है जबतक की ज्ञान की परिपूर्णतारूप केवल ज्ञान की प्राप्ति न हो जाय। इसी प्रकार से चारित्र आराधना भी तभी तक समझनी चाहिए जबतक कि पूर्ण सम्यक्चारित्र अर्थात् यथाख्यात संयम प्राप्त न हो जाय। इसी तरह से तप आराधना भी तब तक जारी रहती है जबतक कि आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था प्रकट न हो जाय। सिद्ध अवस्था में उक्त प्रकार के भाव नहीं पाये जाते हैं; अतएव वे भाव कर्म-जनित होने के कारण कर्म-कृत हैं; अतएव आत्मा के स्वभाव भाव नहीं हैं; फिर भी मोह के वश यह अज्ञानी जीव उन भावों को निज-रूप मानता है; बस इसी का नाम अहंकार है। पर भावों को निजके भाव मानना आत्म-स्वरूप का घात करना है। जैसे—मैं राजा हूं, अर्थात् अपने-आपको राजा मानना यह भी मोह की एक परिणति विशेष है; जो आत्मोत्थान में बाधक है। इन्द्रियों के लिये इष्ट (प्रिय) लगनेवाले पदार्थों को ग्रहण करते हुए सुख मानना और अप्रिय (असुहावने) लगनेवाले पदार्थों को अप्रिय या अनिष्ट (दुःखदायक) समझकर उनसे द्वेष करना दुःख मानना यह सब मान्यता एकमात्र संसार परिभ्रमण में ही कारण है; अतः जो जीव यह चाहते हैं हमारा संसार हमसे बिलकुल ही छूट जाय उन्हें चाहिए कि वे मोह महा बैरी पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करें। अन्यथा यह दुःखद अवस्था नहीं मिट सकती है। यह तो हर हालत में बनी ही रहेगी। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य अमृत चन्द्र स्वामी कहते हैं कि :—

सङ्कल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं।
चेतोनिमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन्॥
तत्रार्थतस्तवचकास्ति न किञ्चनापि।
पक्षे परंभवति कल्मषसंश्रयस्य॥

हे आत्मन्! तेरा चित्त सङ्कल्प (शरीर आदि बाह्य वस्तुओं में आत्मा का ज्ञान यानी शरीर को ही आत्मा समझना) रूप कल्पवृक्ष के सहारे से इस मनोरथ (नाना प्रकार की इच्छाएँ, अभिलाषायें, वाञ्छायें) रूप समुद्र में डूब रहा है; लेकिन उक्त इच्छा-रूप समुद्र में वास्तविक दृष्टि से कुछ भी हाथ लगनेवाला नहीं है। बल्कि यह आत्मा उनके सहारे से महान् पापों का आधार बन रहा है; अतएव हे आत्मन्! तू यदि सुखी होना चाहता है तो सब तरह के सङ्कल्प और विकल्पों का परित्याग कर आत्मा को पहिचान; आत्मा को पहिचाने बिना तुझे आत्मिक सुख की प्राप्ति होना बहुत ही कठिन है। यदि तुझे अपने आत्मा के स्वभाव-रूप अनन्त सुख की चाह हो तो तू सब तरफ से अपने चित्त की वृत्ति को हटाकर आत्म के स्वरूप को प्राप्त करने में लगा दे। इसी में तेरी भलाई है—इत्यादि।

स्थान :— तिथि : ज्येष्ठ सुदी ३ सं० २०१५

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० २१-५-५८

अन्तरात्मा का स्वरूप

जो परियाणइ अप्प परु जो परभावचएइ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहिं सो संसार मुएइ॥ ८॥

जो कोई आत्मा को और पर को आत्मा से बिलकुल ही शून्य एवं भिन्न मानता है; वही पर-भावों को छोड़ता है; वही पण्डित है; भेद-विज्ञानी है; वही आत्मा का अनुभव करता है। अतएव ऐसा आत्मानुभवी ही संसार से छूट कर मोक्ष का अधिकारी होता है। तात्पर्य यह है कि यह अनादि मिथ्या-दृष्टि जीव अज्ञान के कारण ही देह, गेह, पुत्र, मित्र, कलत्र, मणि, मुक्ता, गो-महिष, हस्ती, वृषभ, अश्व, क्षेत्र, वस्त्र, वेष, भूषा, उपवन, धन, वन आदि अनेक प्रकार के बाह्य पदार्थों को अपना मानता आ रहा है; इसी मान्यता के कारण ही यह अनन्त संसारी बना हुआ है। यह चक्र तबतक चलता रहेगा जब कि आत्मा को आत्मा-रूप से नहीं पहिचानेगा। आत्मा को आत्मा-रूप से नहीं पहिचानने में यद्यपि इसकी ही मिथ्या प्रवृत्ति मूल कारण है; उसी मिथ्या भ्रान्ति के कारण ही आत्मा में आहार भय, मैथुन, और परिग्रह ये—चारसंज्ञाएँ प्रत्येक आत्मा को संसार में तरह-तरह के दुखों को पैदा करती रहती हैं। ये—चारों संज्ञाएँ तीव्र ज्वर के समान हैं। जैसे—ज्वर (बुखार) में पड़ा हुआ प्राणी बेसुध हो जाता है; उसे अपने तन-बदन की भी खबर नहीं रहती; उसे यह भी पता नहीं रहता है कि मैं कौन हूं, कहां पर

पड़ा हूं, यह मेरी हालत क्यों और कैसे हुई ? इसका मुख्य कारण क्या है ? मैंने कौन-कौन से अपथ्य अहितकारक (पदार्थों) का सेवन किया है। अब यह बुखार कैसे दूर हो सकता है ? आदि का भी विचार उसके मन में नहीं आता है; क्योंकि वह उस बुखार की हालत में बेखबर हो रहा है; यह बेखबरी तो उसकी तभी दूर हो सकेगी; जब किसी योग्य वैद्य का उसे निमित्त मिलेगा। योग्य वैद्य वही होता है जिसका नाड़ी-विज्ञान निर्दोष और परिपूर्ण हो। वैसे ही इस अज्ञानजनित अनादि के चार संज्ञा-रूप महान् ज्वर का उपचार एकमात्र सद्‌गुरु-रूप महान वैद्य के द्वारा ही हो सकता है; वे ही इसे दूर करने में हर तरह से समर्थ हैं। लेकिन उनकी समर्थता तो तब सफल हो जब कि यह अनादि का महा रोगी अपने रोग को रोग समझे और यह भी समझे कि यह रोग मेरी आत्मा में मेरे ही मोह और अज्ञान के कारण हुआ है और इसी की वजह से ही मैं अनादि काल से अपने स्वरूप से च्युत हुआ संसार में परिभ्रमण कर रहा हूं।

सद्‌गुरु देव ही सच्चे वैद्य हो सकते हैं कारण कि उन्होंने स्वयं ही अपने सत्पुरुषार्थ से अपनी आत्मा में रहे हुए उस चार संज्ञा-रूप महान् ज्वर का प्रतिकार किया है और वे निरोग हुए हैं, उन्होंने ही अपने विज्ञान के प्रबल बलसे उस रोग की जड़ को पहिचाना और उसे जड़ से ही नष्ट किया; उसके नाश करने में जो जो उपाय उन्होंने अपनाये वे सब उन्हें अच्छी तरह से याद हैं। अतएव वे ही उन उपायों को हम तमाम संसारी प्राणियों को बताकर और उनपर हमें चलने की प्रेरणा देकर हमें इस महान रोग से दूर कर निरोग बना सकते हैं। अब हमारा कर्तव्य है कि हम उनके उन अनुभूत प्रयोगों पर पूर्ण विश्वास के साथ चलें, उनका यथायोग्य रीति से परिपालन करें। तब हमारा यह महान विषम भयंकर रोग दूर हो सकता है।

वे चार संज्ञाएं कौन सी हैं जिनके वश में पड़ा हुआ यह जीव महान् दुःख भोग रहा है ? इसके उत्तर में कहते हैं :—

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।

आहार संज्ञा—प्रत्येक संसारी जीव शरीर सहित है। शरीर के बिना संसारी जीव का संसार में रहना किसी प्रकार से सम्भव नहीं है। ऐसा शरीरधारी संसारी अपने शरीर को बनाये रखने के लिये उसके योग्य आहार के कारणभूत पदार्थों को प्राप्त करता रहता है। यह दशा एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय, मनुष्य, देव, पशु और नारकी सभी में पाई जाती है। सभी जीव अपनी अपनी पर्याय के अनुसार अपने अपने शरीर को कायम रखने के लिये जो जो उपाय जहां जहां जैसे जैसे सम्भव हों उन उनको बराबर उपयोग में लेते रहते हैं; यह उनकी आज की नहीं बल्कि अनादि की आदत पड़ी हुई है। उन उपायों के करने कराने में उसे बड़ी सी बड़ी कठिनाइयां बड़े से बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं

इसके कारण वह बहुत ही आकुलित रहता है। यह आहार संज्ञा जीव मात्र को संसार का कारण तो है ही; साथ ही आत्मा के स्वरूप के भुलाने में भी प्रमुखता रखती है। अतएव यह महान् ज्वर के समान है।

भय संज्ञा—किसी उद्वेग कारक पदार्थ के ज्ञान में आने पर आत्मा के अन्दर जो भय (अरक्षा) का भाव पैदा होता है; वह भय संज्ञा है। इसके होने पर आत्मा बड़ा ही विह्वल हो जाता है, घबरा जाता है, आकुलित हो जाता है। यदि सामने सर्प आ जाय तो देखते ही चिल्ला उठता है, भागता है रोता है, पुकारता है। यह सब भय नोकषायात्मक संज्ञा का ही कार्य है, प्रत्येक संसारी इसके द्वारा दुःखी होता रहता है। यह संज्ञा अनादि से ही आत्मा के साथ लगी हुई है। प्राणों का भय प्राणीमात्र को होता है चाहे वह किसी भी योनि में क्यों न हो। यह दूसरी बात है कि किसी का भय व्यक्त (जाहिर) होता है और किसी का अव्यक्त (जाहिर नहीं) होता है।

पर-संज्ञी—मन वाले प्राणियों का भय तो बिलकुल ही स्पष्ट होता है। वे तो भयकारक वस्तु के सामने आते ही घबरा जाते हैं, बेचैन हो जाते हैं; उन्हें उस भयकारक पदार्थ को देखते ही एकदम चिन्ता आ घेरती है। उन्हें समझाने पर भी शान्ति नहीं मिलती इसका एकमात्र कारण वही भीतरी भय संज्ञा ही है।

मनुष्य को सबसे बड़ा भय तो भोग सामग्री के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने का होता है जिसको उसने बड़े परिश्रम से एकत्रित किया है। कदाचित् भोग-सामग्री ज्यों की त्यों बनी भी रहे अर्थात् उसे कोई इधर उधर न भी करे। न चुराये तो भी उसके भोगने में रोगों का भय बना रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि मैं रोगी हो जाऊं।

धन—रुपया, पैसा, सोना, चांदी, जवाहरात आदि के इकट्ठे करने पर उनके चोरी चले जाने का भय लगा रहता है।

मकान महल—हवेली आदि के आग द्वारा जलकर भस्म हो जाने का भय बना रहता है। शरीर के दुर्बल या कुरूप हो जाने का भय रहता है। व्यापार में भी घाटा हो जाने का भय रहता है। नौकरी में वेतन आदि के कट जाने का या कम हो जाने का या नौकरी के छूट जाने का भी बड़ा भारी डर बना रहता है। कुल में भी कलंक लगने का भय बना रहता है कि कभी कोई ऐसा कार्य न हो जाय जिसके कारण हमारे पवित्र कुल में कोई धब्बा लग जाय; हमारे बाप दादा का यह निर्दोष कुल जिसमें हमने जन्म लिया है वह वैसा का वैसा ही बना रहे उसमें हमारे द्वारा या हमारे पुत्र, पुत्री, स्त्री आदि से कोई ऐसा नीच काम न बन जाय जिसे हमारे बाप दादों की कीर्ति को कोई आंच आ जाये।

अपमान का भय भी ज्ञानी के हृदय में स्थान बनाये रहता है। वह सोचता है कि आज समाज में जो मेरी इज्जत है, मेरा मान है, आदर सत्कार है उसमें किसी प्रकार की कमी न आ जाय यह भी एक भय संज्ञा का कार्य है। यद्यपि इस प्रकार का भय होना बुरा नहीं है तथापि भय तो भय ही है; उसके होने पर तो आकुलता होगी ही और जहां आकुलता है वहां निराकुल सुख का घात तो होगा ही। अतः यह भी एक तरह का दुःख ही है। जो आत्मा को निरन्तर बेचैन रखता है। मौन धारण करनेवालों को भी यह भय बना रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि दीनता मुझे झुका दे क्योंकि मौन का और दीनता का परस्पर में बड़ा भारी वैर विरोध है।

गुणों में दुर्जनों का भय बना रहता है क्योंकि दुर्जन तो गुणों को फूटी आंखों से भी नहीं देखना चाहते हैं; वे तो जब देखते हैं तब दोष ही देखते हैं; उन्हें गुणों में भी दोष दिखाई देते हैं, उनका स्वभाव ही ऐसा होता है। अतः गुणों को भी भय लगा रहता है कि कभी कोई दुष्ट मेरे गुणों को दोष न लगा दे। सुन्दर रूप में भी बुढ़ापे का डर लगा रहता है क्योंकि बुढापा आनेपर सुन्दरता (रूपवान पना) कपूर की तरह उड़ जाता है। अतः यह भय बना ही रहता है कि मेरा रूप इस युवावस्था में जैसा सुन्दर और दूसरों को प्रिय लगता है, वैसा वृद्धावस्था के आने पर अप्रिय और असुहावना मालूम पड़ने लगेगा। यह भी भय संज्ञा का एक कार्य है।

शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने पर वाद-विवाद का भय लगा रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि कोई बड़ा विद्वान आकर मुझे शास्त्रार्थ में पराजित कर दे। यह भी बड़ा भारी भय है। जो आत्मा को दुःखी करता है; बल-शक्ति-ताकत में भी एक बड़ी विचित्र भय की मात्रा काम कर रही है। बलशाली शक्तिशाली ताकतवर मनुष्य को जितनी खुशीका अनुभव होता है उससे कहीं अधिक उसे अपने से अधिक शक्तिशाली सामर्थ्यवान शत्रु का वैरी या दुश्मन का भय लगा रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि कोई शत्रु मुझ पर आक्रमण कर दे जिससे मेरी शक्ति का दिवाला निकल जाय। अर्थात् मैं हीन-शक्ति न सिद्ध हो जाऊं। इत्यादि तरह तरह के भय शक्तिमान मनुष्यों को भी सताते रहते हैं, जो वस्तुतः भय संज्ञा को सूचित करते हैं। अन्ततोगत्वा सबसे बड़ा भय इस संसारी को अपने शरीर के नाश का ही होता है जो कि यम के आयु कर्म के द्वारा उत्पन्न होता है; अर्थात् आयु के क्षीण होने पर मेरा शरीर ही जब नहीं रहेगा तब इस संसार में मेरा कौन होगा और मैं भी किसका होकर रहूंगा। इत्यादि अनेक प्रकार के भय डर भय संज्ञा के द्वारा ही इस जीव के साथ समय समय पर अपना सम्बन्ध प्रकट करते रहते हैं, जो सर्व साधारण मानवों के प्रत्यक्ष हैं।

दो इन्द्रिय, लट केचुआ आदि जीव अपने शरीर के बनाये रखने में कारणभूत पदार्थों का संग्रह करते हैं; चींटी, चींटा आदि तो स्पष्ट रूप से चीनी, गुड़ आदि को संग्रह करते हुए देखे जाते हैं।

कीड़ा आदि चतुरिन्द्रिय जीवों में यह परिग्रह सञ्चय करने की भावना-रूप परिग्रह संज्ञा होती हैं। मनुष्यों में इसका आधिक्य पाया जाता है; मनुष्य परिग्रह संग्रह करने में प्रायः दत्तचित्त रहते हैं; उसमें उनका बहुभाग जीवन व्यतीत होता है। आज का मानव तो चाहता है कि जितनी अधिक सम्पत्ति मैं इकट्ठी करूँगा उतनी ही मेरी ज्यादा इज्जत, प्रतिष्ठा, ख्याति और प्रसिद्धि होगी। आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पना चाहता है और चाहता है कि मैं ही सर्वराष्ट्रों का एकमात्र अधिपति बन कर रहूं। इसके लिये वह न्याय का गला घोंटता है; नहीं करने के योग्य कार्यों को भी किये बिना चैन नहीं लेता। आज जो शस्त्रास्त्रों का निर्माण हुआ है वह इतना भयङ्कर और प्रलयङ्कर है कि कदाचित् उसमें से किसी एक का भी प्रयोग हो जाय तो दुनिया का बहुभाग नष्ट हो जाय। ऐसे ही प्रलयंकारी (ध्वंसकारक) शस्त्रास्त्रों के निर्माण में बड़े-बड़े राष्ट्रों की होड़ लग रही है, जो न तो स्वयं ही रहेंगे और न दूसरों को ही सुख-शान्ति से रहने देंगे। इन सबके मूल में एक वही परिग्रह संज्ञा ही काम कर रही है। आज के जमाने में तो जो जितना अधिक धन संचय करेगा वह उतना ही अधिक मान, सम्मान पाने का अधिकारी समझा जायेगा। आज जो अधिक से अधिक भोग, उपभोग की वस्तुओं का संग्रह करेगा वह उतना ही ज्यादा ऐशोआराम पा सकेगा। यह परिग्रह ही विषमता का मूल है. आज एक दूसरे में जो जुदाई पाई जा रही है; वह भी इस परिग्रह के कारण ही। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से घृणा या नफरत क्यों करता है ? इसीलिये न कि उसके पास धन नहीं है, रहने को मकान नहीं है, पहरने को कपड़ा नहीं है, खाने को अन्न नहीं है, पढ़ाई-लिखाई में पैसा न होने से वह पढ़-लिख न सका; मूर्ख रह गया। जिन लोगों के पास पैसा है वे चाहे जैसा प्रबन्ध कर सकते हैं; जितना चाहें उतना व्यय कर के स्वयं तो योग्य बन जाते हैं: पर उन्हें दूसरों को अपने समान बनाने का जरा भी ख्याल नहीं है; वे चाहें तो अपने से कहीं अधिक योग्यता रखनेवाले निर्धन लोगों को सहायता देकर अधिक से अधिक योग्य बनाकर धर्म-राष्ट्र और समाज की उन्नतिमें हाथ बटा सकते है, अमूल्य कीर्तिका सम्पादन कर सकते हैं; पर करें कैसे ? सिरपर तो परिग्रह पिशाच बैठा हुआ है; वह जबतक अपना प्रभाव इस प्राणी पर कायम रखेगा तबतक उसका प्रयत्न परोन्नतिकी ओर कैसे हो सकता है ? अतः परिग्रह संज्ञा भी हर तरहसे हर जीवधारीको चारोंओरसे घेरे हुए हैं: इसीलिये यह शरीरधारी हर प्रकारके कष्टोंको भोगता हुआ अपना अमूल्य जीवन कौड़ियों की कीमत में बेंचकर दुःखी हो रहा है। अपने निज-रूप की तो इसे जरा भी पहिचान नहीं है। इसने तो पञ्चेन्द्रियों के विषयों को ही सब कुछ समझ रखा है और इन्हीं के चक्कर में पड़कर यह बेखबर हो रहा है। अतएव दयालु गुरु महाराज इसे समझाते हैं कि—हे भव्य प्राणी ! तू ने अब तो इस अमूल्य तथा दुर्लभ मनुष्य पर्याय को पाया है; इसे तू सम्यक्त्व की प्राप्ति द्वारा जैसे बने वैसे सफल कर; इसी में तेरी भलाई है। जो मनुष्य इस कठिन और दुर्लभ मानव जीवन को पाकर सम्यक्त्व को पैदा नहीं करता है; वह मानव होकर भी पशु ही है; क्योंकि पशु में और मनुष्य में यदि कुछ फर्क है तो वह सिर्फ धर्म के न होने और होने से है। जिसने धर्म को धारण किया है, सम्यक्त्व को अपनी आत्मा में पैदा किया है;

वह मनुष्य सच्चे अर्थ में मनुष्य है; उसी का जीवन सफल है। शास्त्रकारों ने सम्यक्त्व की बड़ी महिमा बताई है। सम्यक्त्व के होने पर ही यह जीव संसार-समुद्र से पार हो सकता है। सम्यक्त्व वह अमिट प्रकाश है; जो एक बार भी आत्मा में प्रकट हो जाय तो तीन काल में भी कभी नाश को प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसे अविनाशी मोक्ष-सुख को देनेवाले सम्यक्त्व को प्राप्त करने में ही मनुष्य-भव सफल है। यह ठीक है कि सम्यक्त्व तो किसी भी गति में प्राप्त हो सकता है; उसकी प्राप्ति के साधन भी हरेक गति में पाये जाते हैं। यहां तक की नरक गति के जीव भी सम्यक्त्व को पा सकते हैं; परन्तु मनुष्य गति में प्राप्त हुआ सम्यक्त्व विशेषतया चारित्र धारण करने से उसी भव से मोक्ष पहुंचा देता है; जब कि दूसरी गतियों में यह सर्वथा असम्भव है। मनुष्य ही महाव्रतोंका धारण करने का अधिकारी है; वही यथाख्यात संयम को प्राप्त कर सिद्धपद को पा सकता है; अतः मनुष्य पर्याय ही रत्नत्रय-रूप मोक्षमार्ग के साधन में प्रधान कारण है; अतः इसको सम्यक्त्वादि द्वारा पूर्ण सफल करना चाहिए।

मैथुन-संज्ञा भी हरेक जीवधारी के पाई जाती है; जो जीव के साथ जब से जीव हैं, तभी से लगी हुई है। यद्यपि मैथुन शब्द का अर्थ व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से दो वस्तुओं के जोड़े से उत्पन्न हुई क्रिया-विशेष का नाम है; जिसे लोक में स्त्री और पुरुषों की रति-कषाय के उदय से होनेवाली परस्पर की काम क्रीड़ा कहा जाता है और जिसका फल पुत्रोत्पत्ति मुख्य माना गया है; तथापि यहां मैथुन शब्द का उतना ही अर्थ नहीं लेना है; किन्तु यहां तो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के तमाम प्राणियों में अपनी-अपनी इन्द्रियों के योग्य विषयों के प्राप्त होने पर उनमें इन्द्रिय द्वारा जीव का उनके साथ रति-कषाय के उदयानुसार अनुरक्त हो जाना-रूप मैथुन संज्ञा ऐसा अर्थ लेना है जो तमाम संसारी प्राणियों के अन्दर घटित हो जाती है; अन्यथा यदि ऐसा अर्थ न माना जाय और वही स्वीकार किया जाय तो सबसे बड़ी बाधा तो यह होगी कि उक्त प्रकार की संज्ञा, मनुष्य, देव और कुछ पशुओं में ही मैथुन संज्ञा बन सकेगी। शेष एकेन्द्रिय से असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक एवं संज्ञी जीवों में भी नारकी पञ्चेन्द्रिय तथा देवों में भी लौकान्तिक देव जो देवर्षि कहे जाते हैं; अर्थात् जिनके देवांगनाएँ नहीं होतीं जो एक तरह से देवों में ब्रह्मचारी सरीखे कहे जाते हैं। साथ ही सोलहवें स्वर्ग से ऊपर के तमाम देवगतिवाले अहमिन्द्र बड़े ही उदासीन होते हैं; जिनके देवांगनाएँ होती ही नहीं, वे सब नौग्रैवेयक नव अनुदिश और पांच पञ्चोत्तर इस प्रकार तेईस विमानों के देव सर्वथा मैथुन संज्ञा से शून्य हो जायंगे; अतः मैथुन का अर्थ इन्द्रिय विषयों के साथ होनेवाला रतिरूप परिणाम जो प्रत्येक प्राणी के प्रत्येक पर्याय में पाया जाता है लेना चाहिए। ऐसी मैथुन संज्ञा भी हरेक संसारी के पाई जाती हैं।

परिग्रह-संज्ञा भी प्राणीमात्र के होती है; पर वस्तु को अपना मानना यह तो संसारी का स्वरूप ही है। जबतक शरीर का सम्बन्ध है तबतक इस संसारी के उसके सम्बन्ध से पर-पदार्थों को अपना मानने का भाव बना ही रहेगा। यह भी एकेन्द्रियसे लेकर सभी पंचेन्द्रिय तकके पाई जाती है। पंचेन्द्रियों

में तो यह स्पष्टतया मालूम होती है; पर एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी पञ्चेन्द्रियों में भी इसका साक्षात्कार होता है।

स्थान :—
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : ज्येष्ठ सुदी ४ सं० २०१५
ता० २२-५-५८

सम्यग्दृष्टि के विचार

पण्डितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः।
यः सदाचारसंपन्नः सम्यक्त्वदृढ़मानसः॥

जिस जीव का चित्त सम्यग्दर्शन से स्थिर और पवित्र होता है वह वस्तुतः सदाचारी है। सबसे बड़ा दुराचार मिथ्यात्व है। एक समय का मिथ्यात्व अनन्त संसार का कारण होता है; जिसके द्वारा आत्मा का पतन हो, उसका नाम दुराचार है। ऐसा दुराचार मिथ्यादर्शन के होते हुये ही सम्भव है। दुनिया जिसको दुराचार कहती है उस दुराचार का भी मूल कारण वही अतत्व श्रद्धान या अपनी बेखबरी है। वास्तव में जो अपने को भूला हुआ है वह सर्वदा बेचैन रहता है। दुनिया को गिनता है और अपने को नहीं गिनता, ऐसा प्राणी अन्तरंगतः दुःखी ही रहता है। कहते हैं कि—किसी समय एक कुटुम्ब के नौ (९) भाई आपस में मिलकर यात्रार्थ निकले। मार्ग में चलते-चलते एक नदी के किनारे वे सब पहुंचे। विश्राम कर चुकने के कुछ समय पश्चात् जब वे नदी को पारकर उस किनारे पहुंचे तब उनमें जो सबसे बड़ा भाई था उसने विचार किया कि—भाई! नदी पार करके हमलोग यहां आये हैं; इसलिये एक बार सम्हाल कर लेना परमावश्यक है। ऐसा विचार करते ही उसने एक नम्बर से गिनना प्रारम्भ किया और ज्यों ही गिनते-गिनते आठवें नम्बर पर पहुंचा त्योंही रोने लगा। तब दूसरे भाइयों ने पूछा कि—भाई! रोते क्यों हो? उसने उत्तर में कहा कि—हम सब घर से ९ भाई निकले थे, पर यहां आठ ही रह गये; अतः मालूम होता है कि हममें से एक भाई नदी में ही रह गया। इसी प्रकार एक एक करके सबने सबको गिना; पर अपने को किसी ने भी नहीं गिना। इसलिये सबकी गिनती में वे आठ ही आये। तब सभी एक साथ चिल्लाकर रोने लगे कि—हाय रे हाय! हममें से तो एक भाई नदी में डूब गया। अब हमलोग घर आकर माता-पिता को कैसे मुंह दिखायेंगे? उनके इस दुःख-जनक रुदन को सुनकर कोई पथिक वहां पर पहुंचा और पूछा कि—आप लोग क्यों रो रहे हैं? उन लोगों ने एक स्वर में कहा कि—हम सब घर से ९ भाई चले थे, पर यहां आकर एक भाई नदी में डूब गया; अब हमलोग आठ ही रह

गये। तब उसने बड़े गौर से उनकी ओर देखा और गिना, तो पूरे ६ के ६ थे। तब उसने कहा कि—अरे, भाई! आप लोग हमारे सामने गिनो। तब उनके बड़े भाई ने एक से लेकर आठ तक गिना और पुनः रोना आरम्भ किया। तब उस तटस्थ पथिक ने कहा कि—तुम अपने को गिनो। तब उसने गिना तो ६ हुए; तो वह बड़ा खुश हुआ और उस पथिक के चरणों में गिर गया और बोला कि—आप बड़े उपकारी हैं, दयालु हैं, धर्मात्मा हैं; क्योंकि आपने हमको संकट से बचाया है। कहने का तात्पर्य यह है कि—यह अज्ञानी अपने ही अज्ञान के कारण इस संसार में भटक रहा है और तरह-तरह के दुःख उठा रहा है। जब इसको सच्चे मोक्षमार्ग के पथिक निर्ग्रन्थ गुरु के उपदेश का निमित्त मिलता है तब यह अज्ञानी अनादि के घोर अज्ञानान्धकार से निकलकर सम्यक्त्व के प्रकाश में आता है और तब इसे निराकुलता का अनुभव होता है। बिना सम्यक्त्व के उक्त प्रकार की आत्मिक निराकुलता का प्राप्त होना नितान्त असम्भव है। सम्यग्दृष्टि की निराकुल आत्मानुभूति का नाम ही स्वरूपाचरण-चारित्र है; जो कि सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखता है। भाव यह है कि—जिस जीव के सम्यग्दर्शन होता है; उसके निर्दोष आत्मानुभव होता ही है। वही सम्यग्दृष्टि जब आगे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पञ्च पापों का यथाशक्ति एकदेश या सर्वदेश त्याग करके देशव्रती श्रावक या महाव्रती मुनि बनता है; तब वह चारित्र सम्पन्न होने से *सदाचार सम्पन्नः* इस विशेषण से विभूषित होता है और वही सत् और असत्, समीचन और असमीचीन, हेय और उपादेय, रूप बुद्धि (पण्डा) को धारण करनेवाला होने से पण्डित कहा जाता है। पण्डित का वास्तविक अर्थ तो सम्यग्दृष्टि में ही घटित होता है। केवल धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, कोष, अलंकार, रस, रीति आदि के अध्ययन कर लेने मात्र से कोई पण्डित नहीं होता है। ऐसी पण्डिताई केवल लौकिक जीवन को सुख-शान्तिपूर्वक बिताने में भले ही सहायक हो; लेकिन यदि वह सम्यक्त्वसे शून्य है तो उसे वास्तविक आत्मिक सुख-शान्ति मिलनेवाली नहीं है। उसका वह शास्त्र-ज्ञान तो उसके लिये केवल भारस्वरूप ही रहता है। सिर्फ शास्त्र-ज्ञानका कोई महत्व नहीं है। उसका महत्व तो आत्म-श्रद्धा और आत्म-ज्ञान के ऊपर निर्भर है। आत्म-श्रद्धानी और ज्ञानी सम्यग्दृष्टि *विनीतः* यथार्थ विनयी कहा जाता है। यहां विनय से तात्पर्य यह है कि गुण सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र, और गुणवान रत्नत्रय के धारक साधु, मुनि तथा इन दोनों का समुदायभूत इन तीनों में जिसके स्वभावतः नम्रता और पूज्यता का भाव हृदय में उद्भूत होता है; वही विनीतः इस विशेषण से प्रयुक्त होता है।

ऐसा सम्यग्दृष्टि-आत्मदृष्टि धर्मज्ञः वस्तु स्वरूप धर्म, रत्नत्रय-रूप धर्म, उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण-रूप धर्म और अहिंसा-रूप धर्म के स्वरूप को जाननेवाला धर्मज्ञ कहा जाता है; ऐसा धर्मज्ञ महान् आत्मा प्रियदर्शन होता है। अर्थात् उक्त प्रकार के धर्मात्मा के दर्शन से प्रत्येक दर्शक के हृदय में अपूर्व प्रेम-भाव प्रगट होता है; क्योंकि निश्चल प्रेम का कारण जो यथार्थ धर्म है उससे उस सम्यग्दृष्टि की आत्मा सर्वतः अलंकृत हो चुकी है।

ऐसा सम्यग्दृष्टि शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना इन आठ दोषों से तथा ज्ञान मद, पूजा मद, कुल मद, जाति मद, बल मद, ऋद्धि मद, तप मद, शरीर मद, इन आठ मदों से; कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र ये तीन तथा इन तीनों के सेवक तीन इन छः अनायतनों से तथा देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता और लोक मूढ़ता इन तीन मूढ़ताओं से अर्थात् उक्त पच्चीस दोषों से रहित निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाला होता है। यदि इन पच्चीस दोषों में से एक भी दोष सम्यग्दृष्टि के होता है तो वह सम्यग्दृष्टि संसार से पार होने में समर्थ नहीं हो सकता। जैसे—विषापहार मन्त्र यदि अक्षर और मात्रा से न्यून हो तो वह विष जन्य वेदना को किसी भी प्रकार से दूर करने में कृतकार्य नहीं हो सकता।

इसी बात को लक्ष्य में रखते हुये आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है कि :—

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम्।
नहि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥

तात्पर्य यह है कि निःशंकित आदि आठ अंगों में से यदि एक भी अंग कम हो तो सम्यग्दर्शन संसार की सन्तति को नष्ट नहीं कर सकता। व्यवहार में भी हम इस बात को देखते हैं कि किसी मनुष्य का अंग भंग हो जाता है तो वह अपने शरीर से यथायोग्य कार्य करने में समर्थ नहीं होता; इतना ही नहीं, बल्कि भंग हुये अंग से उसके नाम में भी अन्तर आ जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी मनुष्य का पैर टूट जाता है या आंख फूट जाती है अथवा कान का पर्दा बिगड़ जाता है तो ऐसी स्थिति में लोग उसे लूला, काना और बहरा कहने लगते हैं। इसका अर्थ यह है कि वह उन अंगों से अपांग हो जाने से कार्य भी नहीं कर सकता और लज्जित भी बहुत होता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शन के होते हुये भी सदोष सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। वह दोष जब तक रहता है तब तक वह संसारी ही बना रहता है। इसलिये जो मुमुक्षु हैं, संसार के बन्धनों से मुक्त होना चाहते हैं; उन्हें चाहिये कि वे अपने सम्यग्दर्शन को दर्शन विशुद्धि भावना के द्वारा निर्मल बनाने का प्रयत्न करें। जहां आचार्यों ने तीर्थंकर प्रकृति के आस्रवों का वर्णन किया है वहां दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारणों का मुख्यता से वर्णन किया है। उनमें भी सर्वप्रथम दर्शन विशुद्धि को ही ग्रहण किया है। यहां दर्शन विशुद्धि का अर्थ केवल इतना ही लेना है कि जो पहले सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों का हम नामोल्लेख कर आये हैं; उनमें से एक भी दोष नहीं लगने देना।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामीने सम्यग्दर्शन के निःशंकित अंग को वर्णन करते हुये लिखा है कि:—

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्तव्या॥

तात्पर्य यह है कि भगवान् सर्वज्ञदेव ने संसार के समस्त पदार्थों को अपने केवलज्ञान के द्वारा अनेक धर्मात्मक जाना है और अपनी दिव्यवाणी के द्वारा उनको अनेक धर्मवान निरूपण किया है। उसके विषय में जिनेन्द्र भगवान का यह कहना सच है या झूठ है, इस प्रकार की शंका सम्यग्दृष्टि को कभी भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञामात्रं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

भाव यह है कि भगवान् जिनेन्द्र वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित गहन से गहन वस्तु का स्वरूप भी हेतुओं के द्वारा किसी भी प्रकार से खंडित नहीं हो सकता। उसका कारण यह है कि जो पूर्ण वीतरागी और पूर्ण ज्ञानी होता है उसकी वाणी से, वस्तु जैसी है वैसी ही, कही जाती है, अन्यथा नहीं। तब उस वस्तु का खण्डन करने के लिये युक्तिवाद कैसे सफल हो सकता है? युक्तिवादी आखिर छद्मस्थ अल्पज्ञानी ही तो है। अतएव उसकी युक्तियोंके द्वारा पूर्ण ज्ञानीके विवेचित पदार्थके स्वरूपको खंडन करना तो दूर किनार रहा, उसका स्पर्श कर सकना भी उसके लिये संभव नहीं है। इसलिये आचार्य, सम्यग्दृष्टि को सचेत करते हुये कहते हैं कि हे श्रद्धालु! तुझे उन भगवान् के वचनों को आज्ञावचन मान करके श्रद्धान् करना चाहिये, क्योंकि जो जिन हैं अर्थात् मोह, राग, द्वेष आदि को जीत चुके हैं, वे कभी अन्यथा नहीं कह सकते। वस्तु के अन्यथा कहने के दो ही कारण हो सकते हैं। पहला तो अज्ञान और दूसरा राग। जब वस्तु के यथार्थ रूप का ज्ञान नहीं होता है तब अज्ञान ही कहा जाता है। ऐसा अज्ञानी जो कुछ भी कहेगा वह अज्ञान से शून्य कैसे हो सकता है? या जो रागी होता है वह अन्तर के राग की प्रेरणा से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानते हुये भी अन्यथा कह बैठता है। लेकिन ये दोनों दुर्गुण जिसकी आत्मा के अन्दर नहीं हैं वह महान आत्मा या परमात्मा अन्यथा क्यों कर कहेगा? ऐसा समझकर सम्यग्दृष्टि को जिनेन्द्र वचन में सर्वदा निःशंक रहना चाहिये। यही उसका निःशंकित अंग है।

अब दूसरा निःकांक्षित अंग—

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्रचक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपिच नाकांक्षेत्॥

इस जन्म में विभव, ऐश्वर्य, संपत्ति आदि की धर्म पालन के फलरूप से इच्छा न करे और परलोक में इस धर्म का जिसका कि मैं पालन कर रहा हूं, फल मुझे चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, इन्द्र अहमिन्द्र आदि उच्चतम पदों में से किसी एक पद की प्राप्ति मुझे हो जाय, ऐसी वांछा न करे। क्योंकि इन पदों के प्राप्त करने पर इन्द्रियजनित विषयों की अपरिमित प्राप्ति होती है और सम्यग्दृष्टि

विषयों की चाह करता नहीं, वह तो पंचेन्द्रिय के विषयों को कभी उपादेय या ग्राह्य नहीं मानता है। इसलिये उन पदों की प्राप्ति की आकांक्षा सम्यग्दृष्टि को स्वभावतः नहीं करनी चाहिये। साथ ही जो एकान्तवाद से दूषित हैं अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक धर्मस्वरूप ही मानते हैं उनके रचे हुये शास्त्रों को भी अन्तरंगतः अध्ययन करने की इच्छा न करे। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन शास्त्रों को उनके सिद्धान्तों को समझकर और उनके दोषों को दूर करने का प्रयत्न न करे। क्योंकि जब तक एकान्तवादियों के शास्त्रों का ही अध्ययन न किया जायगा तो उन दोषों के समझने का अवसर ही प्राप्त न होगा। ऐसी स्थिति में एकान्तवाद सारे संसार में व्याप्त हो जायगा, जो प्राणी के स्वरूप को विरूप करने में पूर्ण समर्थ होगा। अतएव दोष को दोष समझ करके उसको दूर करने के उद्देश्य से अध्ययन करने का निषेध नहीं समझना चाहिये, किन्तु उसके अध्ययन से अपनी अनेकान्तवाद की मान्यता को एकान्त रूप में परिणत नहीं कर देना चाहिये। इतना ही निषेध करने का अभिप्राय समझना चाहिये।

निर्विचिकित्सित अंग :—

क्षुत्तृष्णाशीतोष्ण प्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्यादिपुरीषादिषु विचिकित्सानैव करणीया॥

भावार्थ यह है कि पूर्वोपार्जित असाता वेदनीय आदि कर्मों के उदय से उपस्थित हुये क्षुधा, तृषा आदि बाधाओं के और चेतन-अचेतन कृत उपद्रव आदि के उपस्थित होने पर अपनी आत्मा के अन्दर उद्वेग का भाव पैदा न होने दे। किन्तु यह समझे कि यह सब कर्मकृत उपाधि है, इसका मेरी आत्मा के साथ में किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो पौद्गलिक कर्मों का फल है, जो आत्मा के अशुभ भावों से उपार्जित किये हुये कर्मों द्वारा दिया जा रहा है। इसलिये मुझे अपने स्वभाव में स्थिर होने का प्रयत्न करना चाहिये यानी घबड़ाना नहीं चाहिये। घबड़ाने से कर्म छोड़ेगा नहीं, वह तो अपना फल दिये बिना रहेगा नहीं, वह तो अपना कार्य करेगा ही। और यदि मैं अपना कार्य नहीं करूंगा अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होऊंगा तो असाता की सन्तति उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जायगी। ऐसी स्थिति में आत्मा को विशेष रूप से घबराहट का सामना करना पड़ेगा। अतएव "न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी" की उक्ति के अनुसार मुझे इन कर्मफलों से सावधान होकर अपनी ओर ही दृष्टि लगानी चाहिये। यही मेरे लिये श्रेयस्कर है। यह तो है आत्मनिर्विचिकित्सा और बाह्य में पुरीष आदि अपवित्र वस्तुओं को देख करके ग्लानि (नफरत) नहीं करनी चाहिये। किन्तु यह समझना चाहिये कि यह तो पुद्गल द्रव्य का स्वभाव है। स्वभाव में ग्लानि क्या ? यह तो उसका परिणमन उसके द्वारा हो रहा; है उससे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। तब मुझे उससे ग्लानि करने से क्या

लाभ ? यह बाह्य निर्विचिकित्सा है। सम्यग्दृष्टि आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार से निर्विचिकित्सित अंग का धारक और पालक होता है।

अमूढ़दृष्टि-अंग :—

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपितत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढ़दृष्टित्वम् ॥

अर्थात् वस्तु स्वरूप में रत रहनेवाले सम्यग्दृष्टि को लोकानुरंजन के हेतु मनुष्यों द्वारा प्रचलित किये हुये मिथ्या मार्ग के विषय में सर्वदा सावधान रहना चाहिये। जो मार्ग संसार का वर्द्धक हो उसके विषय में मन, वचन और काय तीनों से सम्मत नहीं होना चाहिये। साथ ही जो शास्वत वस्तु के स्वरूप को स्पर्श न करते हुये विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं वे शास्त्र नहीं, बल्कि शास्त्राभास है—शास्त्र सरीखे मालूम होते हैं। उनमें भी श्रद्धा का भाव नहीं रखना चाहिये। क्योंकि यदि उक्त प्रकार के शास्त्रों में रुचि, प्रतीति या श्रद्धा होगी तो सम्यक्त्व का होना सर्वथा असंभव हो जायगा। इसी प्रकार समयाभास अर्थात् धर्म न होते करके जो धर्म सरीखा मालूम पड़े उस वचन में भी विश्वास नहीं करना चाहिये। अर्थात् जो वचन-हिंसा को धर्म कहते हों, या जो एकान्त को धर्म बताते हों, अथवा जो वस्तु को सर्वथा नित्य कहते हों, या जो वस्तु को सर्वथा क्षणिक कहते हों वे सभी वचन-समयाभास हैं। उनमें भी अपनी आत्मिक श्रद्धा को केन्द्रित नहीं करना चाहिये। क्योंकि वे वचन इस आत्मा को विविध प्रकार के चक्रों में डालकर संशयालु बना देते हैं; जो आत्मा के पतन के कारण हैं। अतः ऐसे शास्त्राभासों से आत्मा को निरन्तर सावधान रहने की आवश्यकता है। इसी प्रकार जो वास्तविक देव तो नहीं हैं, किन्तु देव सरीखे मालूम पड़ते हैं उनमें भी देवत्व-बुद्धि का त्याग करना चाहिये। क्योंकि जो वीतरागी नहीं हैं, पूर्ण ज्ञानी नहीं हैं वे देव नहीं हो सकते। देव होने के लिये पूर्ण वीतरागता और पूर्ण विज्ञानता नितान्त आवश्यक है। और वही श्रद्धा का विषय है। ऐसा समझकर अपनी श्रद्धा को मजबूत बनाते हुये अपने सम्यग्दर्शन को स्थिर रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। यही सम्यग्दृष्टि का अमूढ़दृष्टित्व है।

स्थान :
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता ।

तिथि : ज्येष्ठ सुदी ५ सं० २०१५
ता० २३-५-५८

उपगूहन :—

धर्मोऽभिवर्धनीयः सदात्मनोमार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी उपगूहन अंग का वर्णन करते हुये कहते हैं कि— सर्वदा उत्तम क्षमा आदि पवित्र भावनाओं से आत्मा के धर्म को बढ़ाना चाहिये । तात्पर्य यह है कि—उत्तम क्षमा आदि आत्मा के स्वभावगत धर्म हैं । इन्हें प्राप्त करने के लिये किसी बाह्य पदार्थ में उलझने की आवश्यकता नहीं है; किन्तु उनसे सुलझने से ही ये प्रगट होते हैं । बस इसी का नाम आत्म-उपगूहन है । यहां पर बृंहण शब्द का अर्थ आत्मिक गुणों को विकास-पथ पर लाना है । हां, किसी अपराधी के अपराध को अपराध-रूप से जानकर भी उसे उसकी उत्थान की दृष्टि से जग-जाहिर नहीं करना, किन्तु उसे किसी एकान्त में बुलाकर समझा-बुझाकर निर्दोष बनाने का प्रयत्न करना चाहिये; यह बाह्य उपगूहन अंग है । अज्ञानता के कारण किसी प्रकार के दोष का हो जाना असम्भव नहीं है । दोष बहुधा अज्ञानी से ही होते हैं, ज्ञानी से नहीं । इसलिये वह उपगूहन के योग्य होता है । यह भी एक सम्यग्दृष्टि का स्वभाव है ।

स्थितिकरण अंग :—

काम क्रोध मदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्याय्यात् ।
श्रुतमात्मनः परस्यचस्थितिकरणमपिकार्यम् ॥

आत्मा को न्याय मार्ग से विचलित करनेवाले काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के प्रगट होने पर उनके वश न होकर आत्म-स्वरूप में स्थिर रहने का प्रयत्न करना सम्यक्दृष्टि का आत्मिक स्थितिकरण अंग है । और किसी पुरुष के धर्म से विचलित करनेवाले कोई कामादिक विकार प्रगट हुये हों तो उसको उन विकारों से बचाते हुये उसके धर्म में स्थिर करने का प्रयत्न करना परस्थितिकरण है । तात्पर्य यह है कि सम्यक्दृष्टि जीव अपने को धर्म में तो स्थिर करता ही है यह तो उसका मुख्य आध्यात्मिक गुण है; किन्तु वह अपने से भिन्न धर्मात्मा के धर्म से च्युत होने का कोई कारण पाता है, तो उसे भी वह अपने ही समान उस दोष से बचाने का प्रयत्न करता है । इस तरह से वह पर-स्थितिकरण में भी पूर्ण तरह सहायक होता है । जैसा कि वारिषेण मुनिराज ने अपने शिष्य पुष्पडाल मुनि को जो राग

से प्रेरित होकर मुनि धर्म से च्युत हो रहे थे; उनको अपने धर्म में स्थित करने के लिये सफल प्रयत्न किया था; बस इसी का नाम पर-स्थितिकरण है। यह सम्यक्दृष्टि के ही होता है। *सम्यग्दृष्टि* समदृष्टि होता है। उसकी दृष्टि में प्राणीमात्र अपने ही समान है। वह जैसे अपने पतन से डरता है वैसे ही दूसरी आत्माओं के प्रति भी पतन से भयभीत रहता है। वह जैसे अपनी आत्मा को उन्नति के शिखर पर ले जाने का प्रयत्न करता है वैसे ही अन्य धर्मात्माओं को भी। उसकी दृष्टि में धर्म ही एक खास आत्मिक निधि है। धर्म के बिना जीवन शून्य होता है। जिनका जीवन धर्म के साथ अभेद सम्बन्ध रखता है उन धर्मात्माओंके प्रति उसका प्रगाढ़ प्रेम होता है। वह ऐसा मानता है कि—*न धर्मो धार्मिकैर्विना*—धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं हो सकता, धर्मात्माओं का प्राण धर्म ही होता है। जैसे बिना प्राणी के प्राणों का होना असम्भव है वैसे ही बिना धर्मात्माओं के धर्मों का भी रहना असम्भव है। *मूलो नास्ति कुतो वृक्षः*—बिना जड़ के वृक्ष कैसे हो सकता है? इसी प्रकार बिना धर्मात्मा के धर्म भी कैसे हो सकता है? धर्म के मूल आधार धर्मात्मा ही होते हैं; यही सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अंग है।

वात्सल्य अंग :—

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबंधने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्॥

मोक्षलक्ष्मी के या अविनश्वर मोक्ष सुख के कारणभूत अहिंसा धर्म में निरन्तर लौकिक एवं पारलौकिक सुख की आकांक्षा न रखते हुये हार्दिक प्रेम रखना आत्मिक वात्सल्य है। प्रत्येक आत्मा स्वभावतः अहिंसक है, आत्मा के स्वभाव में पूर्ण अहिंसा ओत-प्रोत है; लेकिन जब तक इस आत्मा का जड़ स्वरूप पुद्गल के साथ सम्बन्ध रहेगा तब तक यह आत्मा कथमपि पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता; उसे पूर्ण अहिंसक बनने के लिये अखण्ड अविनाशी आत्म-स्वभाव की ओर दृष्टिपात करना पड़ेगा। यहां पर दृष्टिपात का तात्पर्य यह है कि—आत्मा अपने स्वभाव के साधने में सतत् जागरूक हो। इसके लिये उसे सुदशापन्न सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप से अपने स्वरूप को मिलान करना होगा। जैसा सिद्ध परमेष्ठी का आत्मा है वैसे ही तमाम संसारी प्राणियों के शरीर में रहनेवाली आत्मायें हैं; लेकिन वर्तमान में वह रूप कर्म-कृत उपाधियों से विकृत हो रहा है। उस विकृति को दूर करके प्रकृति में आने का एकमात्र साधन आत्म-वात्सल्य है। यह आत्म-वात्सलय पूर्ण आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में सफल साधन है जो *सम्यग्दृष्टि के अवश्य ही होता है।*

इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि के पर-वात्सल्य भी पाया जाता है। उसका स्वभाव धर्मात्माओं के प्रति निष्कपट प्रेम से परिपूर्ण होता है। जैसे- गाय बछड़े से निष्काम प्रेम करती है। वह यह नहीं चाहती है कि यह मेरा बछड़ा मुझे कुछ देगा या मेरी सेवा करेगा; संकट से मेरी रक्षा करेगा आदि।

इनमें से किसी प्रकार की भी इच्छा न रखते हुये वह उसकी रक्षा में अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी तत्पर रहती है। यदि उसे अपने बछड़े की रक्षा करने के लिए एक बार सिंह का भी सामना करना पड़े तो, उससे भी वह पीछे नहीं हटती। वह यह जानती है कि सिंह का सामना करना मेरी शक्ति के बाहर की चीज है; पर फिर भी वह पुत्र प्रेम वश ऐसा करती हुई परम सुख का अनुभव करती है। एक बार का जिक्र है कि सन्ध्या के समय जब गायें जंगल से चरकर घर वापिस आ रही थीं तब रास्ते में एक नदी पड़ी। बहुत-सी गायों के बछड़े नदी पार करते हुये बड़े वेग के साथ आनन्द से विभोर हो कूदते-फांदते और उछलते हुये जा रहे थे; पर उनमें से एक बछड़ा नदी के तट पर पैर फिसल जाने से नदी के प्रवाह में बह गया। जिस गाय का वह बछड़ा था; उसकी दृष्टि ज्योंही उस बछड़े पर पड़ी त्योंही वह भीड़ को चीरती हुई धड़ाम से नदी में जा गिरी और उसने सतत प्रयत्न के साथ बछड़े को बहने से बचा लिया; यह सच्चा वात्सल्य है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी धर्मात्माओं के ऊपर आई हुई आपत्ति में उनकी रक्षा करने में सर्वथा प्रयत्नशील होता है। उस समय वह अपने स्वार्थ को जलांजलि दे परार्थ सुख को ही उत्कृष्ट मानता है। भगवान् विष्णुकुमार मुनि ने अपने ध्यान को जो साक्षात् मोक्ष का साधन था; किंचित् समय के लिये छोड़कर सैकड़ों मुनियों की रक्षा करने को ही मुख्य कर्तव्य माना और उसकी सफलता में अपनी सफलता समझी; यही पर-वात्सल्य है; जो सम्यग्दृष्टि के अंगों में से एक अंग है।

प्रभावना अंग :—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥

प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को चाहिये कि वह अपने आत्मा को रत्नत्रय के तेज से निरन्तर प्रकाशित करे; क्योंकि बिना रत्नत्रय के आत्मा का स्वाभाविक तेज प्रकाशित नहीं हो सकता; तेज की परिपूर्णता रत्नत्रय की परिपूर्णता के ऊपर ही अवलम्बित है। शुद्ध सम्यग्दृष्टि केवल सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो जाने पर ही सन्तुष्ट नहीं होता; उसमें ही वह अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानता। वह तो यह समझता है कि मैं अभी आत्मिक तेज की अग्र भूमिका पर ही आया हूं; अभी तो मुझे मोक्ष-महाप्रासाद के निर्माण के लिये बहुत कुछ करना अवशेष है। मुझे अभी श्रावकों के व्रतों का और मुनियों के महाव्रतों का पालन करना परमावश्यक है। उसके पालन किये बिना मुझे परिपूर्ण ज्ञान एवं परिपूर्ण चारित्र की प्राप्ति होना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। इसलिये वह सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूप रत्न जो आत्मा का खास स्वरूप है; प्राप्त करने के लिये प्रति समय कटिबद्ध रहता है; यह सम्यग्दृष्टि का प्रभावना अंग है। इसमें आत्म-प्रभावना प्रमुख होने से इसको *आत्म-प्रभावना* कहते हैं। इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि *पर-प्रभावना* में भी दत्तचित्त रहता है, पर-प्रभावना में मुख्य जिन-धर्म की प्रभावना है।

जो लोग भगवान् जिनेन्द्र के धर्म से अपरिचित हैं या उससे विपरीत प्रवृत्ति करके अपने जीवन को दुःखमय बना रहे हैं। उन प्राणियोंमें सच्चे धर्मका उद्योत करना सम्यग्दृष्टिका प्रधान लक्ष्य होता है। इसके सिवाय वह पात्र को यथायोग्य रीति से दान देने में तत्पर रहता है। पात्रों में उत्तम, मध्यम और जघन्य ये तीन भेद पाये जाते हैं। उनमें उत्तम पात्र निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु जो साक्षात् मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हैं; मध्यम पात्र देशव्रती श्रावक जो एकदेश मोक्षमार्ग में लगे हुये हैं; उन्हें द्रव्य, क्षेत्र; काल और भाव के अनुसार शास्त्रोक्त विधि से दान देता है। दान देने में दाता और पात्र दोनों का कल्याण निहित है। दाता जिन वस्तुओं को देता है उनसे उसके मोह का त्याग ही उसके लिये कल्याणकारक है। और वे वस्तुयें जिस योग्य पात्र को दी जाती हैं; वे उसके रत्नत्रय में साधक होने से उसके लिये कल्याणदायक हैं! इस तरह स्व-पर हितकारक दान सम्यग्दृष्टि देता है। ऐसे दान का तात्कालिक दृष्ट-फल देवों द्वारा आकाश से रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, जय जय ध्वनि, मन्द सुगन्धित सुन्दर वायु और कर्णप्रिय वाद्यों की ध्वनि ये पञ्च आश्चर्य होते हैं; यह मुनिदान का दृष्ट-फल है। साक्षात् तीर्थंकर जैसे महान् पात्र को दिया हुआ दान दाता को तद्भव मोक्ष प्रदान करता है। भगवान् आदिनाथ स्वामी को इक्षु रस का आहार देनेवाले महाराज श्रेयांस इस अवसर्पिणी काल के सबसे प्रथम महादानी हुये। मुनियों को आहार किस तरह से दिया जाता है; उसकी क्या विधि है; इन सब बातों की प्रवृत्ति महाराज श्रेयांस ने चलाई है। उनकी चलाई हुई दान-पद्धति, जब तक मुनि-धर्म रहेगा, तब तक बराबर चलती रहेगी। कहने का भाव यह है कि—दान मार्ग के स्रष्टा या प्रवर्तयिता महाराज श्रेयांस का नाम दानियों की श्रेणी में प्रथम है। उनके इस दान की प्रशंसा बड़े-बड़े इन्द्रों ने और नरेन्द्रों में शिरोमणि महाराज भरत चक्रवर्ती ने मुक्त कण्ठ से की थी। इस तरहसे दान धर्मके द्वाराभी जिन-धर्मकी प्रभावना करना सम्यग्दृष्टिका बाह्य प्रभावना अंग है। इसी तरह से तपश्चरण के द्वारा भी सम्यग्दृष्टि लोक में जैन-धर्म के उद्योत को बढ़ाता है। मासोपवासी, चतुर्मासोपवासी, षण्मासोपवासी तथा वर्षोपवासी महा साधु अपने इस अनशन तप के द्वारा भी जैन-धर्म के उत्थान करने में समर्थ हुये हैं। जैन-साधुओं का ऐसा तपश्चरण देखकर लोग बड़े विस्मय में पड़ जाते हैं कि—ओह! इस प्रकार की कठिन तपस्या जैन-साधुओं के सिवाय अन्य किसी साधुओंसे सम्भव नहीं है। यह घोर तपस्या शरीरके साथ ममत्व का त्याग करनेवाले जैन-साधुओं से ही सम्भव है। वे आत्म-स्वरूप में रत होने को ही विशेष महत्व देते हैं; इसीलिये ही उनका शरीर के साथ जरा भी व्यामोह नहीं होता। इस अवसर्पिणी काल के सर्वोपरि, तपस्वी, कामदेव-शिरोमणि, भगवान् आदिनाथ के सुपुत्र आदि चक्रवर्ती भरत स्वामी के कनिष्ठ भ्राता बाहुबली स्वामी जिन्होंने एक वर्ष का कायोत्सर्ग धारण किया था। कहते हैं कि—वे जिस स्थान पर कायोत्सर्ग मुद्रा को धारण कर स्थित हुये थे; उस स्थान के आस-पास रहनेवाले विषधर सर्पों ने भगवान् बाहुबली स्वामी के चरण-कमलों के समीप में अपने निवास-स्थानों को बना लिया था। और बहुत-सी लताओं तथा बेलों ने उनके शरीर को आच्छादित कर रक्खा था। उनके इस महान् तपश्चरण से उनकी आत्मिक निधि का

तो विकास हुआ ही था; इसके साथ ही साथ बाह्य में भी उनके शारीरिक संहनन की सहन-शक्ति का भी दर्शकों के हृदय पर अमिट प्रभाव डाल रक्खा था। दीक्षित होने के पश्चात् एक वर्ष तक लगातार कायोत्सर्ग धारण करने का सौभाग्य यदि किसी को प्राप्त हुआ था; तो वह एकमात्र भगवान् बाहुबली स्वामी को ही; और भावों की निर्मलता, वैराग्य की परम सीमा-संसार मोह-जाल से निर्ममता की पराकाष्ठा यदि किसी को प्राप्त हुई थी; तो वह भी एकमात्र आदि चक्रवर्ती महाराज भरत को ही। कहते हैं कि—उन्होंने अन्तर्मुहूर्त के ध्यान नामक तप से कैवल्य को प्राप्त किया था। दीक्षित होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान को प्राप्त करने का परम सौभाग्य महाराज भरत चक्रवर्ती को ही उपलब्ध हुआ था। ये दो महापुरुष ध्यान तप में विशेष-रूप से प्रसिद्ध हुये, और इन्होंने ऐसे उत्कृष्ट तप के द्वारा जैनत्व का प्रचार और प्रसार किया। इसी प्रकार तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी ने भी अपने अनुपम तपश्चरण के द्वारा, कमठ के द्वारा किये गये, उपसर्ग को समता भावों के साथ सहन करते हुये आत्मिक परिपूर्ण ज्ञान को प्राप्त किया था। यह है तपश्चरण के द्वारा किया गया जिन-धर्म का प्रभाव। सम्यग्दृष्टि जीव-पूजा की। अतिशय की सहायता से भी जिन-धर्म का प्रभाव प्रगट करते हैं। इस विषय में भगवान् महावीर स्वामी की पूजा की; भावना को लेकर प्रमुदित हृदय मेंढक का उदाहरण पर्याप्त प्रकाश डालता है। वह भगवान् महावीर स्वामी के गुणों में अनुरक्त होकर कमल-दल को अपने मुंह में दबाकर बड़ी भक्ति-पूर्ण उत्साह से फुदकता हुआ जा रहा था, किन्तु संयोगवश मार्ग में महाराज श्रेणिक के हाथी के पैर के नीचे दबकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। पूजा की भावना से देवायु का बन्ध करके देव हुआ और उसने अपने भव प्रत्यय अवधिज्ञान के द्वारा अपने पूर्वभव में भावित जिन-पूजा की पवित्र भावना के फल-स्वरूप में देवत्व को प्राप्त हुआ हूं, ऐसा जानकर तत्काल सुन्दर विमान में, जिसकी ध्वजा पर मेंढक का चिह्न था; बैठकर अपनी भावना को सफल करने के लिये भगवान् महावीर स्वामी के समवशरण में पहुंचकर उनके श्रीचरणों की पूजा ज्योंही प्रारम्भ करना चाही त्योंही महामण्डलेश्वर महाराज श्रेणिक ने गौतम स्वामी से प्रश्न किया कि—स्वामिन्! मैंने बहुत से देवोंके विमानों को विविध प्रकार के चिह्नों से चिह्नित देखा; किन्तु आज ही मैंने इस विमान को मेंढक के चिह्न से चिह्नित देख रहा हूं। इससे मेरे मन में यह जिज्ञासा हुई कि—इस विमान में मेंढक के चिह्न होने का कारण क्या है? तब महाराज गौतम स्वामी ने उनके प्रश्न का उत्तर देते हुये बताया कि—यह देव जो भगवान् की पूजा में निरत हो रहा है; वह पूर्वभव में पशु पर्याय का मेंढक था। भगवान् की पूजा की भावना को लेकर यह उसके फल-स्वरूप महर्द्धिक देव होकर अपनी प्रबल भावना को सफल करने के लिये यहां साक्षात् भगवान् के श्री चरणों की पूजा में दत्तचित्त हो रहा है। इस प्रकार के प्रश्नों को सुन करके समवसरणस्थ सभी श्रोतागण बड़े ही प्रसन्न हुये और भगवान् की पूजा में भावों की प्रधानता को स्वीकार करते हुये उसमें संलग्न हुये। इस तरह से सम्यग्दृष्टि को प्रभावना अंग भी अन्य अंगों के समान लोकोत्तर विशेषता रखता है। सांगोपांग सम्यग्दर्शन संसार समुद्र से पार होने में अव्याहत साधन है।

स्थान : तिथि : ज्येष्ठ सुदी ६ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० २४-५-५८

जहां आचार्यों ने सम्यग्दर्शन के महत्व का वर्णन किया वहां यही बतलाया है कि—तीन लोक में ऐसी कोई भी सम्पत्ति विभव या ऐश्वर्य नहीं है; और ऊँचे से ऊँचे पदों में ऐसा कोई पद नहीं है जो सम्यग्दर्शन के प्रभाव से इस जीव को प्राप्त न हो सकता हो। यह ठीक है कि सम्यग्दृष्टि उन पदों को अपने पद नहीं मानता है, और है भी ठीक; क्योंकि वे पद आत्मिक पद न होकर पुण्य-कृत पौद्गलिक पद हैं; क्योंकि उनका पुद्गल के साथ विशेष सम्बन्ध है। जितने भी कर्म-कृत पद हैं; वे आत्मा के न होकर पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखने के कारण पौद्गलिक हैं। भगवान् समन्तभद्र स्वामी ने भी अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यक्त्व की महिमा को बतलाते हुये लिखा है कि :—

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयो श्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥

तात्पर्य यह है कि तीन काल और तीन लोक में इस आत्मा का कल्याणकारी सम्यग्दर्शन के समान दूसरा कोई नहीं है; और मिथ्यादर्शन के समान दूसरा अकल्याणकारी भी नहीं है। यहां पर कल्याण से तात्पर्य मोक्ष कल्याण और अकल्याण से तात्पर्य संसार बन्धन है। अर्थात् संसार बन्धन से मुक्त होने का प्रमुख कारण यदि सम्यग्दर्शन है; तो उसके विपरीत संसार के बन्धन में पड़ने का प्रधान हेतु मिथ्यादर्शन है। इसलिये जो मुमुक्षु हैं; संसार के दुःखों से मुक्त होने की हार्दिक इच्छा रखते हैं; उन्हें चाहिये कि वे अपनी आत्मा के अन्दर विशुद्ध सम्यग्दर्शन को प्रकट करने का भरसक प्रयत्न करें। इसके बिना संसार के अपार दुःखों से मुक्ति का मिलना नितान्त असम्भव है। इसी विषय को लेकर आचार्यकल्प पं० आशाधर जी ने भी अपने सागार धर्मामृत में लिखा है कि :—

अधोमध्योर्ध्व लोकेषु नाभून्नास्ति न भावि वा।
तत्सुखं यन्नदीयेत सम्यक्त्वेन सुवन्धु ना॥

भावार्थ यह है कि—अधो-लोक (नरक-लोक), मध्य-लोक और ऊर्ध्व-लोक में ऐसा कोई सुख नहीं है; जो सम्यग्दर्शन-रूप उत्तम बन्धु के द्वारा इस जीव को न दिया जा सकता हो: अर्थात् सभी तरह के सांसारिक सुख सम्यक्त्व के द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं और अन्ततोगत्वा मोक्ष का अतीन्द्रिय अविनाशी अनन्त सुख भी सम्यक्त्व के प्रभाव से ही प्राप्त होता है; यह सम्यग्दर्शन का ही परमोत्कृष्ट फल है; जिसे अनन्त प्राणियों ने अपनी आत्मामें अपने ही पुरुषार्थ से पाया है और भविष्य में भी पुरुषार्थ-प्रधानी जीव पाते रहेंगे; ऐसा दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है। इसके विपरीत मिथ्यात्व

का प्रभाव है; अर्थात् संसार के जितने भी कष्ट हो सकते हैं; वे सब मिथ्यादर्शन के प्रभाव से ही होते हैं; उनके होने में अन्य कोई भी कर्म इतना प्रबल नहीं हैं; जितना कि मिथ्यादर्शन मोह है। जैसा कि उन्हीं आचार्यकल्प विद्वत्प्रवर पं० आशाधर जी ने अपने सागार धर्मामृत में कहा है :—

अधोमध्योर्ध्व लोकेषु नाभून्नास्ति न भावि वा।
तद्दुःखं यन्नदीयेत मिथ्यात्वेनमहारिणा ॥

अधो-लोक, मध्य-लोक और ऊर्ध्व-लोक में ऐसा कोई भी दुःख न था, न है और न होगा; जो मिथ्यादर्शन-रूप महाबैरी के द्वारा इस संसारी को न दिया गया हो, न दिया जा रहा हो और न दिया जा सकता हो; अर्थात् हर तरह के दुःखों का मूल कारण मिथ्यादर्शन ही है। इस प्रकार से एक दोनों के प्रभाव को परस्पर में सर्वथा विपरीत हम देख रहे हैं; इसलिये हमें एक को छोड़कर एक को ही अपनाना चाहिए; जिसमें अपना कल्याण पूरी तरह से हो सकता हो; उसे ही अमल में लाने की हर चन्द कोशिश करनी चाहिए; ताकि हमारा संसार हमारे ही द्वारा हमसे हमेशा के लिये छूट जाय और हम शाश्वत सुख के भागी बने। सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर भी हमें सिर्फ अब उसे निर्मल बनाये रखने के लिये ही सबसे पहले प्रयत्न करना है, क्योंकि बिना निर्मल सम्यग्दर्शन के आगे बढ़ना नितान्त कठिन है; इसलिये सम्यग्दृष्टि को विशेष ज्ञान का उपार्जन करके उसका जगत् के जीवों के कल्याण में उपयोग करना चाहिए; तभी उसका समदृष्टिपना सफल हो सकता है; क्योंकि समदृष्टि में समस्त संसारी जीवों के प्रति समानता का भाव जागृत हो जाता है, जिससे वह सभीको अपने जैसा दृढ़ श्रद्धानी, परिपुष्ट ज्ञानी और आत्म-स्वरूप में रत होने का हामी बनाना चाहता है, उसकी उक्त प्रकार की चाह कोरी कर्तव्य-विहीन नहीं होती है; किन्तु हर तरह से हर वक्त स्व-पर कल्याण करने में ही आरूढ़ रहती है। वह चाहता है कि सारा संसार सम्यग्दर्शनमय हो जाय; कोई जीव कभी भी सम्यक्त्व के अखण्ड और प्रचण्ड प्रकाश से वञ्चित न रहे; ऐसी विशाल और उदार भावना उसके अन्तःकरण में जागरूक रहती है; अतएव वह भगवान् जिनेन्द्र के अप्रतिहत शासन के उत्थान में जगत् का उत्थान मानता है; उसकी उक्त मान्यता उसके सर्वथा अनुरूप ही है। उदाहरण के लिये हम सर्वप्रथम आचार्यप्रवर भावी तीर्थंकर भगवान् समन्तभद्र स्वामी को आपके सामने विनम्र भाव से स्मरण करते हैं।

भगवान् समन्तभद्र स्वामी ने अपने विद्याबल से जैन-धर्म के प्रसार करने में किसी बात को उठा नहीं रखा था; वे वस्तुतः वादीभसिंह थे; उनके स्याद्वाद सिद्धान्त के अगाध ज्ञान से एकान्तवादी न केवल घबराते थे; किन्तु उनकी युक्तियों से अपने एकान्त सिद्धान्त को ही छोड़कर अनेकान्ती बनने में ही अपना परम सौभाग्य समझते थे; वे अपने समय के विश्वविजयी जैन-सिद्धान्त-तत्ववेत्ता थे। बड़े-बड़े राजा लोग भी उनके स्याद्वाद विद्या के अनुपम पाण्डित्य से प्रभावित हो उनके भक्त बन गये थे। वे जिन-स्तुति विद्या के अपार पारावार थे; उनकी स्तुति-शक्ति का भी बड़ा प्रभाव था। बड़े से बड़े संकट को वे

केवल अपने स्तोत्र से पार कर जाते थे। वे जैसे दार्शनिक-शिरोमणि थे वैसे ही वे कविवेधा थे; उनका दार्शनिक ज्ञान तो इतना विशाल था कि जो भी दार्शनिक उनके पास आता तो उनकी दार्शनिकता का लोहा मानता। उनके तर्क-वितर्क, युक्ति-प्रत्युक्ति आदि बड़े ही बेजोड़ थे; उनके देवागम स्तोत्र, अपर नाम आप्त-मीमांसा ने तो जैन-धर्म का सारासार संक्षेपमें संसारके समक्ष प्रस्तुत किया है। देव कौन हो सकता है; उसमें क्या-क्या गुण होना चाहिए आदि बातों की परीक्षा करते हुए जो उन्होंने तर्क-वितर्कों द्वारा यथार्थ सच्चे देव के स्वरूप को संसार के सामने रक्खा है; जो किसी भी विवेकी को बिना प्रभावित किये नहीं रह सकता। अगर कोइ भी निष्पक्ष उसे पढ़ेगा तो निश्चय ही यह कहे बिना नहीं रहेगा कि वास्तव में भगवान् समन्तभद्र ने अपनी परीक्षा-प्रधानता के द्वारा जो तत्व हमें सच्चे देव की परीक्षा के अवसर पर प्रदान किये हैं, वे बहुत ही हितकर और आत्म-स्वरूप के प्रकट करने में सहायक हैं; उनकी अपनी सूझ-बूझ वस्तु-स्वरूप को समझाने में असाधारण है, अनुपम है और अलौकिक है।

स्वयम्भू स्तोत्र में भी उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन करते हुए सिद्धान्त का सार भर दिया है। जीवादि सप्त तत्वों का, निमित्त उपादान का, एकान्त प्रतिषेधपूर्वक अनेकान्त का, स्थापन कार्य कारणभाव, निश्चय व्यवहार का, क्षीर-नीर की तरह न्याय युक्त विवेचन आदि बहुत-सी सैद्धान्तिक ग्रन्थियों को खोल खोलकर सर्वसाधारण के हितार्थ प्रतिपादन करते हुए बिलकुल सार रूप से स्फुट किया है, जो उसके पढ़ने और पढ़ाने से पाठकों को स्वयमेव ही समझ में आ जायगा। कहने की गर्ज यह है कि जो सम्यग्दृष्टि होता है वह नियम से प्रभावना प्रमुख होता है; उसका लक्ष्य एकमात्र स्वपर कल्याण की ओर ही रहता है। वह तो यही भावना भाता है कि सारा संसार वीतरागी, परम हितोपदेशी सर्वज्ञ श्री जिनेन्द्र देव के शासन का आराधक और निजपरका कल्याण करने में तत्पर हो। कोई भी प्राणी मिथ्यात्व के अंधेरे में न रहे, सभी आत्माएं सम्यक्त्व के उज्ज्वल उजेले में आकर आत्मशोधन करने में उद्यत रहें; ऐसी पवित्रतर भावना में निरन्तर निरत रहनेवाला सम्यग्दृष्टि ही यथार्थ आत्मदृष्टि होता है।

ज्ञानमद :—

ऐसा निःशंकित आदि अष्टाङ्ग परिपालक धर्मदृष्टि भला ज्ञान का मद कैसे कर सकता है? वह तो यह निश्चित कर चुका है कि जो ज्ञान इन्द्रियों के अधीन हों; साथ ही ज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्रकट होता हो; क्षयोपशम की न्यूनाधिकता से न्यूनाधिक घटबढ़ होता रहता हो। इतना ही नहीं; किन्तु जो ज्ञान कार्यरूप में परिणत होने के लिये इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम के साथ ही साथ योग्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव एवं प्रकाश आदि वाह्य वस्तुओं की भी सहायता का अपेक्षक हो तथा रोग शोक भय पीड़ा आदि के कारण जिसका आर्त रूप में परिणमन भी होना सम्भव हो एवं जो रौद्र कर्मों के करने कराने में भी सहायक सिद्ध होता हो; साथ ही वृद्धावस्था के कारण इन्द्रियों के शिथिल

हो जाने से जो अपने जानने रूप कार्य के करने में असमर्थ हो जाता हो या इन्द्रियों के विकृत हो जाने पर जो अपना कुछ भी कार्य न कर सकता हो—उस ज्ञानका मद क्या आत्मा के लिये हितकर हो सकता है? कभी नहीं, कभी नहीं, वह तो विनश्वर है। जो विनाशीक है उसका मद करना किसी भी ज्ञानी को कभी भी हितकर नहीं हो सकता है। ऐसा विचार करके सम्यग्दृष्टि ज्ञान की तरफ से निर्मद होता है; वह यह भी निश्चय करता है कि वास्तविक ज्ञान वह है जो एक बार प्राप्त होने के बाद फिर कभी विनाश को प्राप्त न हो; ऐसा ज्ञान एक मात्र केवलज्ञान ही है; शेष चारों ज्ञान क्षयोपशमिक हैं। जो क्षयोपशम के रहते हुए रहते हैं, नहीं रहने पर नहीं रहते हैं; साथ ही पर पदार्थों के साहाय्य पर अवलम्बित हैं। ऐसे ज्ञानों का मद (गर्व) या अहंकार करना आत्म-हितेच्छु के लिये शोभा नहीं देता और उससे उसको कोई आत्मिक लाभ भी नहीं है; प्रत्युत हानि ही है; क्योंकि उससे सम्यग्दर्शन दूषित होता है।

पूजा मद :—

सम्यग्दृष्टि को पूजा-मान, प्रतिष्ठा-ख्याति-प्रसिद्धि का भी मद (अभिमान) नहीं होता है वह विचार करता है कि यश या कीर्ति इज्जत आदर सत्कार मान मर्यादा आदि जो कुछ भी मुझे प्राप्त हुए हैं वे सब पूर्व-सञ्चित प्रबल पुण्य कर्मके सुफल हैं। इसमें हमारा वर्तमानका पुरुषार्थ ही क्या है? और अगर यह भी मान लिया जाय तो भी इससे हमारी आत्मा का तो कोई भला होनेवाला नहीं है; क्योंकि यह तो पूर्व और इस जन्म के पुरुषार्थ का फल है, जो पुण्य कर्म के उदय से हमें प्राप्त हुआ है। पुण्य क्षीण हो जाने पर यह भी क्षीण हो जायगा; ऐसे क्षयशील यश-पूजा का क्या अभिमान करना? ऐसा मान तो हमें असंख्यातों बार प्राप्त हो चुका है; पर वह स्थिर नहीं रहा और न कभी स्थिर रहेगा; क्योंकि उसका अस्तित्व तो अर्जित पुण्य की सत्ता की बलवत्ता पर ही आधारित है और वह जब उदय में आती है तब से ही उसकी निर्जरा भी जारी हो जाती है, जो पूर्ण होते ही पूर्ण हो जाती है। अतः यह भी कर्म के ही वश में है, ऐसा समझ कर सम्यग्दृष्टि उसके अहंकार के चक्कर में नहीं पड़ता है।

कुलमद :—

सम्यग्दृष्टि कुल का भी मद नहीं करता है क्योंकि कुल भी पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म का फल है। वह विचारता है कि मैंने पूर्व जन्म में जो प्रशंसा—दूसरों की प्रशंसा, गुणों की तारीफ की थी और आत्मनिन्दा (अपनी गर्हा) की थी उसी का फल उच्च गोत्र का बन्ध था जो अब यहां उदय में आकर हमें लोकमान्य कुल मे जन्म देकर सफल हो रहा है। ज्यों ही इसका उदय-काल परिपूर्ण होगा त्यों ही यह भी पूर्ण हो खिर जायगा, तब इसका अभिमान करना एक प्रकार की अज्ञानता या महा-मूर्खता ही कहलायगी। अतः मैं स्वपरभेद-विज्ञानी आत्मज्ञानी हूं; अब तो मुझे इसके स्वरूप को समझकर इसके निमित्त से होनेवाले अभिमान या अहंकार को सर्वथा त्याग कर देना चाहिए; इसी में मेरा हित

निहित है; ऐसा जानकर वह कुल के मद का त्यागी बन जाता है और इसी में अपनी भलाई का अनुभव करता है।

जाति-मद :—

सम्यग्दर्शन जिस आत्मा के अन्दर अपना प्रकाश डाल देता है वह आत्मा परमार्थ दृष्टि बन जाता है; उसकी दृष्टि में जाति का यथार्थ्य झूलने लगता है; वह यह जान लेता है कि—जाति-नाम कर्म का ही एक भेद है; जिसका कार्य एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में जन्म धारण करा देना है; उसी जाति-नाम कर्म ने ही मेरा मेरी माता के उदर से पंचेन्द्रिय जातिविशिष्ट मनुष्य गति में जन्म धारण कराया है; इसमें मेरा इस समय का तो कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं है; वह तो पूर्व जन्म में किये गये पुण्य कार्य का फल है; जो यहां इस पर्याय में मुझे प्राप्त हुआ है। जब यह कर्म अपना फल दे चुकेगा तब तो यह अपने आप ही मेरा सम्बन्ध छोड़कर मेरे ही द्वारा कमाये हुए किसी अन्य जाति में मुझे पहुंचा देगा; ऐसी स्थिति में अल्प-काल स्थायी इस जाति (मातृपक्ष) का क्या अभिमान करना ? यह जाति तो अनादि काल से ही इस जीवात्मा के साथ ही साथ चली आ रही है। मूल में तो यह जीवात्मा अनन्त काल तक मात्र एकेन्द्रिय जाति में ही जन्म लेता रहा है; पश्चात् किसी विशेष पुण्य के प्रभाव से दोइन्द्रियादि जातियों में भी अनन्त बार जन्मा और अब इस मनुष्य पर्याय के अविनाभावी पंचेन्द्रिय जाति में जन्मा है; ऐसी जाति के मद से तो हमारा संसार ही बढ़ेगा; हमें तो अपने इस मनुष्य पर्याय के जाति-नाम-कर्म से कुछ आत्म-सुधार कर लेना है; इसलिये यह जन्म मान (मद) करने के लिये हमें प्राप्त नहीं हुआ है; बल्कि निर्मद होने के लिये ही मिला है। ऐसा उन्नतम विचार वह अपने मन में लाता है और स्वयं जाति के मद से निर्मद होकर अपना कल्याण कर लेता है।

वपु-मद :—

सम्यग्दृष्टि जीव शरीर के बल का भी अभिमान नहीं करता है; वह सोचता है कि—शरीर, जिसका अर्थ जीर्णशीर्ण होना है; अर्थात् जो स्वभाव से घटता-बढ़ता रहता हो, सुरूप से कुरूप और कुरूप से सुरूप हो जाता हो, सबल से निर्बल और निर्बल से सबल हो जाता हो, निरोग से सरोग और सरोग से निरोग हो जाता हो, सुगन्धित से दुर्गन्धित और दुर्गन्धित से सुगन्धित हो जाता हो, सुहावना से असुहावना और असुहावना से सुहावना बन जाता हो; ऐसे नश्वर स्वभाववाले शरीर का एवं उसके बल का क्या अभिमान करना; वह दरअसल में अभिमान का स्थान ही नहीं है। उसकी उत्पत्ति का मूल ही जब अपवित्र मल है तब वह कैसे पवित्र हो सकता है ? उसको पवित्र करना तो कोयले को साबुन से धो-धोकर स्वच्छ श्वेत करने के समान असम्भव है; ऐसा समझकर ही सम्यग्दृष्टि उसके मद का त्याग करता है; जो उसके लिये ही अत्यन्त हितकर है।

स्थान :— तिथि : ज्येष्ठ सुदी ७ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० २५-५-५८

बल-मद :—

सम्यग्दृष्टि आत्मा बल (शरीर बल) को विशेष महत्व नहीं देता; वह विचारता है कि—शरीर का बल शरीर के पुष्ट होने पर पुष्ट होता है; कृश होने पर कृश होता है। इतना ही नहीं; किन्तु जिसको मैं सबल समझता हूं, वही कुछ समय के पश्चात् निर्बल होता हुआ देखा जाता है या जो अपने को सबल मानते हैं और दूसरों को दुर्बल मानते हैं; वे ही उनके द्वारा तिरस्कृत होते हुए देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ हम रावण और लक्ष्मण को ही लेते हैं, जो रावण अपने को प्रबल बलवान मान रहा था और श्री लक्ष्मण को निर्बल मान रहा था, वही रावण श्री लक्ष्मण के द्वारा मान-मर्दित हो मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसलिये बल का अभिमान या मद भी आत्मा के पतन ही का कारण है; ऐसा जानकर शुद्ध सम्यग्दृष्टि उसका त्यागी होता है।

ऋद्धि-मद :—

निर्मल सम्यग्दृष्टि के ऋद्धि (सम्पत्ति) का भी मद (अहंकार) नहीं होता है। कारण कि वह यह समझता है कि जो ऋद्धि, सम्पत्ति, धन, दौलत, रुपया, पैसा आदि मुझे प्राप्त हुए हैं, वे सब पुण्य के ही फल हैं। जबतक पुण्य-रूपी वृक्ष की जड़ें मजबूत रहेंगी तभी तक यह बराबर हरा-भरा रहेगा, किन्तु ज्योंही इसकी जड़ें खोखली होंगी त्योंही यह सूख-साखकर ढह जायगा। तब दीखनेवाली सम्पत्ति भी कपूर की तरह नौ दो ग्यारह हो जायगी; जो उसके फल-स्वरूप मुझे प्राप्त हुई है। बड़े-बड़े ऋद्धि-धारियों की ऋद्धियां भी यहीं पर नष्ट-भ्रष्ट हो विलीन हो गई; किसी के साथ उसका जरा-सा भी अंश परलोक में नहीं गया। इसको बड़े-बड़े महापुरुषों ने चञ्चला या चपला आदि की उपमा दी है, जो बहुत ही उपयुक्त है, सार्थक है। चञ्चला या चपला, बिजली का नाम है। जैसे बिजली देखते-देखते ही विलीन हो जाती है वैसे ही यह लक्ष्मी भी है। इसका रहने का ठिकाना भी एकमात्र पुण्य पर आधारित है; अर्थात् जिसके पास पुण्य का पुञ्ज है, उसी के पास ही इसकी स्थिति है, अन्य के पास नहीं; क्योंकि यह पुण्य की दासी है। साथ ही पुण्य का भी कोई ठिकाना नहीं है कि वह ऊँच कुलीन के ही हो; अन्य हीन या नीच कुलवाले के न हो। आज तो हम यह देख रहे हैं कि जिनके कुल का ही निश्चय नहीं है कि वे किस कुल के हैं; ऊँच कुल के हैं या नीच कुल के, फिर भी उनके अपार अटूट सम्पत्ति देखी जाती है और जो उच्च कुल के हैं उनके घर में खाने का भी ठिकाना नहीं हैं; क्योंकि उनके पास में पुण्य नहीं है। अतएव कहना पड़ता है कि लक्ष्मी पुण्य की दासी है; वह तो जिसके पास पुण्य होगा उसके पास जाकर बसेरा करेगी; उसकी वृत्ति, प्रकृति या स्वभाव ठीक वेश्या के समान है। जैसे वेश्या धन से प्रेम करती है,

धनवान से नहीं; वैसे ही लक्ष्मी का पुण्य से प्रेम है, पुण्यवान से नहीं। धन के नाश होने पर वेश्या जैसे पुरुष को छोड़ देती है, वैसे ही लक्ष्मी भी पुण्य के क्षीण होने पर पुरुष को छोड़कर चल देती है; ऐसी कुटिल परिणतिवाली लक्ष्मी का क्या मद करना ? वह तो मेरे पुण्य के कारण ही मेरे पास रह रही है; ज्योंही मेरा पुण्य विनाश को प्राप्त होगा त्योंही यह लक्ष्मी भी मेरा साथ छोड़ देगी; अतः मैं ही क्यों न इसका साथ छोड़ दूं; अर्थात् इससे अपने-पन का नाता तोड़ दूं। ऐसा चिन्तन कर सम्यग्दृष्टि ऋद्धि-मद का त्यागी होता है। एक बात और भी है; वह यह कि—आखिरकार ऋद्धि तो जड़ पदार्थ है; उसका चेतन आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध ? दोनों विजातीय द्रव्यें हैं, दोनों में पूर्व और पश्चिम जैसा भेद है, दोनों में स्वभाव-भेद है. दोनों के परिणमन भी भिन्न-भिन्न है, दोनों का एक दूसरे के साथ कोई मेल-जोल भी नहीं बैठता है; फिर भी यह मोही मिथ्यादृष्टि उसी में रत हो रहे हैं; वे यह भी जानते हैं कि यह ऋद्धि, जिसे प्राप्त करने के लिये हम दिन-रात पशु के समान जुटे रहते हैं; धर्म-कर्म को भूले हुए हैं; वह ऋद्धि हमारे साथ जानेवाली नहीं है; वह तो यहां पर ही रह जानेवाली है, उसका एक परमाणु भी हमारे साथ जानेवाला नहीं है। ऐसी स्थिति का प्रत्यक्ष करते हुए एवं अनुभव करते हुए भी यह बहिरात्मा उसी में तन्मय हो अपने स्वरूप से च्युत हो रहा है; यह तो बहिरात्माओं का ही स्वभाव है न कि अन्तरात्माओं का। अतएव मैं तो अन्तरात्मा (अन्तर्मुखी दृष्टि रखनेवाला आत्म-स्वरूप) को पहिचाननेवाला शुद्ध सम्यग्दृष्टि हूं, मैं क्यों कर इस नश्वर ऋद्धिका मान-मद अहंकार करूं ? यह मद ही तो आत्मा का पूर्ण घातक है, इस विषय में एक कवि की उक्ति हमें स्मरण रखनी चाहिए। वह यह है :—

जनयन्त्यर्जनेदुःखं तापयन्तिविपत्तिषु ।
मोहयन्ति च सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ॥

भाव यह है कि धन कमाने में इस जीव को बड़े से बड़े दुःख भोगने पड़ते हैं। घर द्वार छोड़-कर बाजार की खाक छानना पड़ती है, ऐरों गैरों की अनहोनी बातें सुननी पड़ती हैं, श्रीमानों के चरण चूमने पड़ते हैं, फिर भी वे आकाश से बातें करते हैं। उनकी दृष्टि में मानव मानव ही नहीं हैं, वह तो उनके सामने पशु से भी गया बीता है। देश विदेश में भी धन कमाने की तीव्र इच्छा से जाना पड़ता है, वहां तरह तरह के कष्टों का सामना करना पड़ता है। इतना सब कुछ होने पर भी धन की प्राप्ति तो पुण्य के आश्रित है, यदि पुण्य पास में न हुआ तो किया कराया परिश्रम भी व्यर्थ हो जाता है। जैसा जाता है वैसा ही रिक्त हस्त (खाली हाथ) लौट आता है, और भाग्य को कोसता है, बड़ा दुखी होता है। यह तो हुई धन कमाने के दुःखों की थोड़े में कुछ चर्चा। अब हम कमाये हुए धन में भी दुःख की सन्तति का यत्किंचित् वर्णन करते हैं। जब मनुष्य धन कमा लेता है तब उसे उसकी रक्षा की बड़ी भारी चिन्ता हो जाती है कि यह कमाया हुआ धन कैसे सुरक्षित रहे ? क्योंकि धन के चुरानेवाले चोरों का बाजार हमेशा ही गर्म रहता है। वे तो यही बाट जोहते रहते हैं कि अमुक धन किस तरह से चुरा लिया जाय। डाकेवाले

तो डाका डालने में कभी पीछे हटनेवाले नहीं, वे तो पुलिस की वेष भूषामें सज-धज के साथ आकर धनवान को—"हम पुलिसवाले हैं; आप की रक्षा के लिये यहां आये हैं; आप अपने सभी रत्न, जवाहरात, सोनाचांदी आदि बेशकीमती सभी चीजों को लेकर हमारे साथ चलिये, क्योंकि आज यहां पर फलां फलां डाकुओं का दल आपके यहां डाका डालने को आनेवाला है; इसलिये ही हम आपको लेने आये हैं। हम लोग आप लोगों को हर तरहसे सुरक्षित रखेंगे"–इत्यादि प्रलोभन देता है और विचारा धनवान भी अपनी सुरक्षा के प्रलोभन में आकर सारा धन निकाल कर उनके साथ में लेकर चल देता है। ज्यों ही वे कपटी पुलिसवाले सच्चे डाकू घनघोर बियाबान जंगल में उसे ले जाते हैं, वहां अपना सच्चा डाकू का रूप प्रकट कर उसके धन के साथ उसके प्राणों को भी ले लेते हैं। यह है धन के पीछे आनेवाली आपत्ति का यत्किञ्चित् दिग्दर्शन। अब सम्पत्ति के बढ़ जाने पर होनेवाले परिणामों का भी हम कुछ जिक्र यहां किये देते हैं। मनुष्य जब धन कमा लेता है तब 'धन से धन होता है' वह कहावत चरितार्थ होने लगती है अर्थात् हजारपति चाहता है कि मैं लक्षपति हो जाऊं, लक्षपति चाहता है कि मैं करोड़पति हो जाऊं, करोड़पति चाहता है कि मैं अरबपति हो जाऊं; अरबपति चाहता है कि मैं राजा हो जाऊं, राजा चाहता है कि मैं महाराजा हो जाऊं, महाराजा चाहता है कि मैं मण्डलेश्वर हो जाऊं, मण्डलेश्वर चाहता है कि मैं अर्द्ध चक्री हो जाऊं, अर्द्धचक्री चाहता है कि मैं चक्रवर्ती हो जाऊं। कहने की गर्ज यह है कि सम्पत्ति के बढ़ जाने पर उत्तरोत्तर धन की चाह बढ़ती ही जाती है, उसका अन्त नहीं आता। यही चाह दाह को करने लग जाती है, जिससे इस जीवात्मा को बड़ी ही बेचैनी (अशान्ति) हो जाती है; इस तरह से सम्पत्ति आत्मा के लिये महान् विपत्ति का काम करने लग जाती है। इसके चक्कर में पड़कर यह जीव अपने आपको भूल जाता है और जड़ को ही अपना मानने लगता है। इस प्रकार से अपना अहित करनेवाली यह सम्पत्ति, सम्पत्ति न होकर विपत्ति बन जाती है और जो विपत्ति का काम करे उसका मद कैसा ? वह और भी विपत्ति के पहाड़ों को ढा देनावाला होगा। अतः ज्ञानी विवेकी (विचारक) आत्मनिरीक्षक आत्म दृष्टि स्वप्न में भी इस जड़ (अचेतन) सम्पत्ति(समृद्धि) का मद (गर्व) नहीं करता। वह तो इसे दूर से ही छोड़ देता है, वह इसकी उलझन में कभी नहीं उलझता, इसकी उलझन में उलझनेवाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा बहिर्मुखी दृष्टिवाले जीव ही होते हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं।

स्थान :— तिथि : ज्येष्ठ सुदी ७ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, वेलगछिया, कलकत्ता। ता० २५-५-५८

तप-मद :—

सम्यग्दृष्टि के तप का भी मद नहीं होता है, क्योंकि तप का फल तो मोक्ष है; जो मोक्ष को लक्ष्य करके तप किया जाता है; वह तो तीन काल में भी मद को उत्पन्न करनेवाला नहीं हो सकता है। यदि मद को पैदा करता है तो वह मुक्ति का साधक न होकर बाधक ही होगा। हां, यदि साधक होगा तो सिर्फ संसार का ही होगा। मद तो आखिर मद ही है; वह तो उन्माद दशा में ही आत्मा को ला पटकेगा। उसका काम तो किसी भी आत्मा को पतित करा देना है; जिस आत्मा के हृदय में तप का अभिमान जागृत होगा; वह आत्मा उसी समय से तप से च्युत हो गया समझा जायगा। अब वह तप को छोड़कर मद को करने लगा है। अब वह तपस्वी न होकर मदवान् हो गया है; अब उसने मद को ही विशेष महत्व दे दिया है जिससे अब उसको मोक्ष का मिलना तो कठिन ही है। हां, यदि मिलेगा तो संसार ही मिलेगा। उसकी दशा तो वैसी ही होगी जैसी कि उस भिखारी की होती है, जो करोड़ को छोड़कर कौड़ी को लेने के लिये दौड़ता है। कहां तो अविनश्वर मुक्ति का लाभ जिससे होता है उसको छोड़कर, पुनः उधर के उधर आनेका प्रयत्न करने की ओर झुकना मानो कुएँ से निकलकर खाईमें गिरने के समान है। साफ बात तो यह है कि—जो सच्चा तपस्वी होगा वह तपश्चरण में ही संलग्न रहेगा; वह अपने लक्ष्य से बाहिर कभी नहीं जायगा। वह तो अपने लक्ष्य को सिद्ध करने में मशगूल रहेगा; उसे तपस्या के मद करने का अवकाश ही कहां है ? उसकी मनोवृत्ति तो ध्यान में ही केन्द्रित है, वह तो अपने ध्येय की सिद्धि में ही निमग्न है, उसे तो यह कल्पना भी नहीं होती कि मैं तपस्वी हूं; वह तो यह समझता है और अनुभव करता है कि मैं तो अपनी आत्मा की परिपूर्ण शुद्धि के कारणभूत ध्यान में तत्पर हूं। यह ध्यान तप तो साक्षात् मोक्ष का साधन है, बिना साधन के साध्य की सिद्धि नहीं होती। अतः यथार्थ तपस्वी के मद की उत्पत्ति नहीं होती। ऐसा विचार एकमात्र सम्यग्दृष्टि के ही होता है, जो वस्तुतः सम्यग्दृष्टि है और जिसका आत्मा संसार के बन्धन से मुक्त होने के लिये छटपटा रहा है, वह तो बन्धन से छूटने के उपायों को ही अपनायेगा। उन उपायों में मुख्य उपाय ध्यान तप है; शेष तप तो परम्परा कारण हैं और वे बाह्य तथा आभ्यन्तर के भेद से अनेक प्रकार के हैं। उनमें बाह्य तो बाह्य ही है; उनसे आत्मा का कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, वह तो बाह्य जगत के देखने के लिये ही है, पर सम्यग्दृष्टि उनसे भी अपने को ही साधता है, उनसे अपना ही प्रयोजन सिद्ध करता है। जहां सम्यग्दृष्टि बाह्य तपश्चरणों से भी आत्म-शोधन करता हो; वहां आभ्यन्तर तपश्चरणों को वह कैसे छोड़ सकता है ? वह तो उन्हें हर तरह से उपयोग में लेगा ही; इसमें सन्देह के लिये स्थान ही कहां है ? इतना सब होते हुए भी वह इनका जरा भी मद या अभिमान नहीं कर सकता। क्योंकि वे उसकी पवित्र

दृष्टि में मुक्ति के लिये हैं, मद के लिये नहीं। वास्तव में सम्यग्दृष्टि की दृष्टि ही संसार से एकदम मोड़ ले लेती है; फिर वह कभी भी संसार की कारणभूत क्रियाओं में मन से संलग्न नहीं हो सकता; वह उनसे विषैले सर्प के समान दूर रहकर अपनी आत्मा की सच्ची रक्षा करता है, उसे संसार का सारा व्यवहार संसार का ही वर्द्धक प्रतीत होता है, उसके ज्ञान में तो मोक्ष का कारणभूत जितना भी व्यवहार है; वह भी तभी तक आश्रयणीय है जबतक की वह पूर्ण निर्विकल्प दशा में नहीं आया। निमित्त-रूप से वह उसे भी अपनाता है। क्योंकि बिना उसके पूर्ण निर्विकल्प दशा में सहसा आना सम्भव भी नहीं है, वह तो किसी प्रासाद पर आरूढ़ होने के लिये निःश्रेणि (नसैनी) या सीढ़ियों के समान, अर्थात् जैसे बिना सीढ़ियों के प्रासाद पर चढ़ना असम्भव है वैसे ही बिना सम्यव्यवहार के पूर्ण परमात्म-दशा का प्राप्त होना भी असम्भव ही है। ऐसा मानकर ही वह आत्म-दृष्टा बाह्य और अन्तरङ्ग दोनों प्रकार के तपों को तपता है, मद या गर्व के लिये नहीं। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि के अष्ट-मद का भी त्याग होता है, तभी वह निर्मल सम्यग्दृष्टि कहलाता है। जिस तरह से वह शंकादि अष्ट दोषों और ज्ञान-मद आदि अष्ट मदों का त्याग करता है वैसे वह छह अनायतन और तीन मूढ़ताओं का भी त्याग करता है, वे निम्न प्रकार हैं :—आयतन शब्द का अर्थ धर्म स्थान या धर्म के साधन। इनसे विपरीत जो धर्म के स्थान या साधन न होकर—अधर्म के स्थान और साधन हों वे अनायतन हैं। अर्थात् कुदेव, कुशास्त्र औ कुगुरु तीन, और इन तीन के सेवक तीन—कुल छः हुए।

कुदेव :—

जो जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग, शोक, भय, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि तरह-तरहके दोषों से युक्त हों; फिर भी अपने को देव कहकर अपने सेवकों से अपनी भक्ति, पूजा, सेवा, शुश्रूषा, आराधना आदि कराते हों; वे सब कुदेव हैं। ऐसे कुदेवों की पूजा भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति की आशा करना अग्नि से अमृत की इच्छा करना जैसा व्यर्थ है। जो स्वयं ही राग में डूबे हुए हैं; स्त्री आदि के सहवास के बिना एक क्षण भी न रह सकते हों; भला वे दूसरों को विरागी कैसे बना सकते हैं? उनकी आराधना से आराधकों को राग के सिवा और क्या हाथ लग सकता है? जो स्वयं ही रागान्ध हैं वे दूसरे रागान्धों का क्या इलाज कर सकते हैं? अर्थात् कुछ भी नहीं। ऐसा समझकर विचारशील तत्वज्ञ सम्यग्दृष्टि लोक-प्रसिद्ध महादेव—वस्तुतः महादेव नहीं हैं; कारण कि जो लक्षण महादेव में होते हैं वे लोक-प्रसिद्ध महादेव में उपलब्ध नहीं हैं। जैसा कि अकलंक स्तोत्र से स्फुट होता है।

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितं।
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलि॥
राग-द्वेषभयामयान्तकजरा लोलत्वलोभादयो।
नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो मया वन्द्यते॥

तात्पर्य यह है कि—जिसने लोक और अलोक सहित समस्त तीनों लोकों और तीनों कालों के सभी पदार्थों को उनके नाना गुणों की नाना पर्यायों को जो भूत काल में अनन्त हो चुकी हैं; और भविष्य में उससे भी अनन्तगुणी होंगी; और वर्तमान में हो रही हैं उन सबको हस्त की रेखा और अंगुलियों के समान एकही समय में एक साथ जानता है और जिसे राग, द्वेष, काम, क्रोध, भय, रोग मृत्यु बुढ़ापा चञ्चलता लोभ आदि कोई भी दोष दूषित (विचलित) करने में समर्थ न हो वही महादेव है, उसी महादेव को ही हम झुककर नमस्कार करते हैं, वन्दना करते हैं और उसी का स्तवन करते हैं। ऐसा महादेव जो भी हो वह हम सम्यग्दष्टियों के नमस्कार स्तवन पूजन आराधन आदि का पात्र है, अन्य नहीं। इसी प्रकार से लोक-प्रसिद्ध शंकर—यथार्थ दृष्टि से शंकर नहीं है, क्योंकि शंकर का सत्यार्थ उनमें नहीं है। जैसा कि अकलंक स्तोत्र में स्तुति करते हुए कहा है कि—

दग्धंयेन पुरत्रयं शरभुवा तीव्रार्चिषा वह्निना।
यो वा नृत्यतिमत्तवत्पितृवने यस्यात्मजो वा गुहः॥
सोऽयं किं मम शंकरोभयतृषारोषार्तिमोहक्षयं।
कृत्वा यः सतु सर्ववित्तनुभृतां क्षेमंकरः शंकरः॥

तात्पर्य यह है कि जिसने वाण से पैदा हुई अत्यन्त भयंकर ज्वालाओं वाली अग्नि से तीन विशाल नगरों को जला दिया था और जो मदिरापायी उन्मत्त पुरुष के समान श्मशान में नाचता है और गुह जिसका पुत्र है, क्या वह हमारा शंकर हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। किन्तु जो भय-प्यास क्रोध, पीड़ा और मोह का नाश कर चुका हो, अतएव सर्वज्ञ हो, सर्वदर्शी हो और हो सर्वहितैषी एवं परम वीतरागी हो वही प्राणीमात्र का कल्याण करनेवाला होने से शंकर हो सकता है, अन्य नहीं। जो स्वयं अपने आत्मा को शान्ति या सुख प्रदान कर सकता हो, वही दूसरे को भी सुखशान्ति प्रदान करने का अधिकारी हो सकता है। किन्तु जो खुद ही दुःखी है, अशान्त है, नृत्यादि क्रीडाओं में रत है, स्वयं गृहस्थ हैं; गृह कार्य में उलझा हुआ है, काम पीड़ा से पीड़ित है, वह कैसे सुख व हितकारी शंकर हो सकता है? अर्थात् नहीं, कभी नहीं। लोक-प्रसिद्ध विष्णु इसी प्रकार से लोक प्रसिद्ध विष्णु वस्तुतः विष्णु नहीं है, किन्तु केवल नाम से ही विष्णु हैं, काम से नहीं। तो फिर काम से विष्णु कौन? तो बताते हैं कि अकलङ्क स्तोत्र में जो विष्णु का स्वरूप बतलाया गया है, वही विष्णु का यथार्थ स्वरूप है—

यत्नाद्येन विदारितं कररुहैर्दैत्येन्द्रवक्षःस्थलं।
सारथ्येन धनंजयस्यसमरेयोऽमारयत्कौरवान्॥
नासौ विष्णुरनेककालविषयंयज्ज्ञानमव्याहतं।
विश्वं व्याप्यविजृम्भतेसतुमहाविष्णुःसदेष्टोमम॥

अर्थात् जिसने नृसिंह अवतार धारण करके विशाल और पैने नुकीले नाखूनों के द्वारा राक्षसेन्द्र हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल (सीने) को विदारित (छिन्न-भिन्न) किया था और जिसने कौरवों और पाण्डवों के युद्ध में पाण्डव पक्षीय अर्जुन के सारथि बनकर कौरवों को मारा था, वह विष्णु हमारा विष्णु नहीं हैं, हमारा विष्णु तो वह है, जो अपने अनन्त ज्ञान से सारे चराचर (विश्व) को निर्बाध-वेरूका वट रूप से व्याप्त करके वृद्धिगत ज्ञान हो, अन्य नहीं। इसी प्रकार से लोक प्रसिद्ध ब्रह्मा भी वस्तुतः ब्रह्मा नहीं हैं, कारण कि ब्रह्मा के गुणों से एक भी गुण लोक प्रसिद्ध ब्रह्मा में देखने को नहीं मिलता। जैसा कि अकलंक स्तोत्र से स्पष्टतया जाहिर है।

उर्वश्यामुदपादि रागवतुलं चेतोमदीयं पुनः।
पात्रीदण्डकमण्डलुप्रभृतयो यस्याकृतार्थस्थितिम् ॥
आविर्भावयितुं भवन्तिसकथं ब्रह्माभवेन्मादृशां।
क्षुत्तृष्णाश्रमरागरोगरहितो ब्रह्माकृतार्थोऽस्तुनः ॥

अर्थात् जिसका चित्त उर्वशी नाम की देवाङ्गना में राग से भर गया था और पात्र दण्ड-कमण्डलु आदि बहुत से पदार्थ जिसके परिग्रह की भावनाओं को प्रकट कर कहते है, वह ब्रह्मा हम सरीखे सम्यग्दृष्टियों का ब्रह्मा कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं। किन्तु जो क्षुधा, तृषा, थकावट राग, रोग आदि नाना प्रकार के दोषों से रहित हो, वही कृतकृत्य ब्रह्मा ही हमारा ब्रह्मा हो सकता है, अन्य नहीं। इसी प्रकार से लोकप्रसिद्ध बुद्ध भी वास्तव में बुद्ध नहीं हैं, क्योंकि बुद्ध में जो गुण अपेक्षित हैं वे नहीं हैं। लोक-प्रसिद्ध बुद्ध वास्तव में बुद्ध नहीं हैं, क्योंकि परमार्थ बुद्ध जैसा होता है, वैसा यह जगत्प्रसिद्ध बुद्ध नहीं है। तो फिर सत्यार्थ बुद्ध कैसा है ? इसके उत्तर में अकलंक स्तोत्र का वह श्लोक पर्याप्त प्रकाश डालता है। जो निम्न है—

यो जग्ध्वापिशितंसमत्स्यकवलं जीवंच शून्यं वदन्।
कर्ता कर्मफलं न भुङ्क्त इति यो वक्ता स बुद्धःकथं
यज्ज्ञानं क्षणवर्तिवस्तु सकलं ज्ञातुं न शक्तं सदा।
यो जानन्युगपज्जगत्रयमिदं साक्षात्स बुद्धो मम ॥

अर्थात् जो मत्स्य मांस का भक्षक हैं, शून्यवादी है; अर्थात् जीव तत्त्व को नहीं मानता है और जो कर्त्ता को कर्म के फल का भोक्ता भी नहीं मानता है, ऐसा बुद्ध हमारा यथार्थ बुद्ध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

उक्त प्रकार से कुदेव और सुदेव का निर्णय करके जो कुदेव हैं, उनमें देवत्व की बुद्धि का परित्याग करके; जो सुदेव हैं, उनमें ही देवत्व बुद्धि को दृढ़ता से रखना। यह सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्व को दृढ़

करने के साथ ही साथ सम्यक्त्व में निर्मलता को भी लाता है; जो संसार के विनाश में पूर्णतया समर्थ होता है।

कुशास्त्र—

कुशास्त्र वह हैं—जो मूलतः अल्पज्ञ और कषायवान् जीवों के द्वारा कहे गये हों, और जो युक्तिओं के द्वारा खण्डित हो सकते हों, जिनमें पूर्वापर (आगे-पीछे) विरोध आता हो, और जो वस्तु के यथार्थ-स्वरूप के कहने में सर्वथा असमर्थ हों, वे सब कुशास्त्र हैं। जैसे एक शास्त्र एक जगह तो हिंसा को धर्म कहता हो; अर्थात् अश्वमेध, नरमेध आदि यज्ञों में होमे गये अश्व और नर हिंसा-पाप के कारण नहीं हैं; प्रत्युत स्वर्ग प्रदान करने के कारण पुण्य के कारण हैं। अतएव वे सभी यज्ञ पुण्य-रूप होने से धर्म हैं—इत्यादि। पुनः उसी शास्त्र में प्रत्येक जीव की रक्षा करनी चाहिए; किसी भी जीवधारी को सताना नहीं चाहिए; और इसकी पुष्टि में यह संस्कृतोक्ति प्रमाण-रूप से उपस्थित करते हैं कि—(*अहिंसापरमोधर्मो यतोधर्मस्ततोजयः*) *अहिंसा*—किसी भी प्राणधारी को नहीं सताना, पीड़ित नहीं करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। ऐसा धर्म जहां होगा वहां विजय अवश्य होगी; साथ ही *अहिंसापरमोधर्म इत्यत्र सर्वेषामैकमत्यमस्ति* अहिंसा ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है; इसमें सभी विभिन्न धर्मवालों का एक मत है। अर्थात् सभी धर्मवाले अहिंसा धर्म के विषय में अविरोधपूर्ण गाढ़ श्रद्धा रखते हैं; इत्यादि। परस्पर विरोधी बातों का निरूपण करनेवाले शास्त्र वस्तुतः शास्त्र न होकर कुशास्त्र ही है। ऐसे कुशास्त्र और इनके सेवकों का सेवक, पूजक या आराधक शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नहीं होता है; क्योंकि वह यथार्थतः उन्हीं शास्त्रों का सेवक, पूजक या आराधक होता है; जो पूर्वापर विरोध-रहित हों, वस्तु-स्वरूप को ज्यों का त्यों, जैसा का तैसा, न्यूनाधिकता रहित निरूपण करते हों; संसारके मार्ग का निषेध और मोक्ष के मार्ग का विधान करनेवाले हों; जिनमें विषय कषाय के परित्याग का प्रधानता के साथ उपदेश दिया गया हो; जो वीतराग सर्वज्ञ और परम हितोपदेशी के कहे हुए हों; अन्य के नहीं।

इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि :—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रंकापथघट्टनम्॥

तात्पर्य यह है कि—जो आप्त, रागद्वेष, मोह आदि अनेक दोषोंसे रहित हो; सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हो; और हितोपदेशी हो; वही आप्त है। ऐसे आप्त के द्वारा जिसकी सृष्टि रचना हुई हो, और जो वादी एवं प्रतिवादियों के द्वारा दी गई युक्ति और प्रतियुक्तियों से त्रिकाल में भी उल्लंघन न किया जा सकता हो, और जिसमें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष-रूप से किसी प्रकार की बाधा-विरोध की सम्भावना न हो, साथ ही जो वस्तुगत यथार्थ सत्य-स्वरूप का वर्णन करनेवाला हो, और हो, सभी प्राणियों का कल्याण करनेवाला

एवं मिथ्यामार्ग-संसार वर्द्धक मार्ग का जड़मूल से उन्मूलन करनेवाला; वही शास्त्र सच्चे अर्थ में शास्त्र है। इसके अतिरिक्त जो विषय कषाय को पोषण करनेवाले हैं वे शास्त्र नहीं हैं; किन्तु शस्त्र हैं। अर्थात् आत्म-स्वरूप के घातक हैं, संसार समुद्र में डुबोनेवाले हैं; उन शास्त्रों का और उनके समर्थक सेवक जनों का, शुद्ध सम्यग्दृष्टि स्वप्न में भी प्रशंसक, पूजक या हितचिन्तक नहीं होता है। वह तो उक्त शास्त्रों का और उनके सेवकों का ही हृदय से आराधक होता है; क्योंकि वह तो वस्तु-स्वरूप का मर्मज्ञ और श्रद्धालु है।

कुगुरु—

कुगुरु वे हैं—जो पंचेन्द्रियके विषयों में फँसे हुए हों, जिनकी इन्द्रिय-विषयों की तरफसे जरा भी लालसा न घटी हो, जो इन्द्रियों के पोषण में ही निरत हो, और इसके लिये जो तरह-तरह के आरम्भों के करने में संलग्न हो; गृह, बाग, बगीचा, बावड़ी, खेती आदि के कार्यों में लगे रहते हों; जिनके भक्ष्य, अभक्ष्य आदि का कोई भी विचार न हो; यहां तक की जो गांजा, अफीम आदि मादक पदार्थों का भी सेवन करते हों; जिनकी वेष-भूषा भी विविध प्रकार के आरम्भों का वर्द्धक हो; और जो नाना प्रकार के परिग्रह को भी नित्य प्रति इकट्ठा करते रहते हों; जिन्हें अपने-आप की जरा भी खबर न हो कि मैं कौन हूं, मेरा स्वरूप क्या है, क्या मुझे करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, मैं कहां से आया हूं, और कहां मुझे जाना है, जो मैं कर रहा हूं, वह मेरी आत्मा के लिये कहां तक हितकर और कहां तक अहितकर है, मेरा हित किसमें है, और अहित किसमें है; इत्यादि बातों की जिन्हें कोई सोचने की दरकार ही नहीं है। एकमात्र शरीर-निर्वाह और मिथ्याख्याति प्राप्त करने की ओर ही जिनका ज्यादा ज्यादा से ज्यादा लक्ष्य बना हुआ है। जो हिंसा के बढ़ानेवाले और आरम्भ के आश्रित नाना प्रकार के तपों को तपते हैं; जिनके तपने में शारीरिक कष्ट तो होता ही है; परन्तु आत्मिक कष्ट भी पद-पद पर होता हो, क्या वे तप आत्मा का कुछ भी कल्याण कर सकते हैं ? नहीं, कभी नहीं। फिर भी जो मान, प्रतिष्ठा आदि के लोभ से हित-अहित, भलाई-बुराई आदि का विचार न करते हुए पञ्चाग्नि तप (जो एकमात्र हिंसा पाप को पुष्ट करनेवाले हैं) को तपते हैं; और अपने को परम तपस्वी गुरु मानते हैं; और यह भी कहते हैं कि मैं घोर तपस्या करनेवाला साधु गुरु हूं; मैं अपनी तपस्याके प्रभावसे यदि चाहूं तो ऐसी शाप दे सकता हूं; जो राजा को रंक बना दे, और यदिकिसी का भला करना चाहूं तो रंक से राजा बना दूं—इत्यादि गर्वोक्तियां जिसके आन्तरिक अभिमान को सूचित करती हों; भला ऐसी गर्वोक्ति-प्रधान कषायवान जीव क्या सुगुरु हो सकता है ? नहीं, कभी नहीं। वह तो सच्चा कुगुरु है; जो स्वयं ही संसार-समुद्र में डूबेगा; और अपने भक्तों को भी डुबा देगा। ऐसे कुगुरु की भक्ति और उनके उपासकों की सेवा में, शुद्ध सम्यग्दृष्टि त्रिकाल में भी नहीं लग सकता; क्योंकि वह अचल श्रद्धानी तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा है। वह तो सच्चे गुरु का ही भक्त होता है; क्योंकि वह यह निर्णय कर चुका है कि सच्चे

गुरु ही मुझे संसार समुद्र से पार कर सकते हैं, कारण कि वे तरणतारण हैं, स्वयं ही संसार-समुद्र से पार होते हैं, अपने भक्तों को भी संसार समुद्र से पार होने का अनुभूत मार्ग बताते हैं, और उन्हें उसपर चलाकर उन्हें भी हमेशाके लिये इस दुःखमय भयंकर संसार-सागर से पार करा देते हैं; वे गुरु स्वभावतः निस्पृह होते हैं; उन्हें संसारके किसी भी पदार्थ की स्पृहा नहीं होती है; वे पूर्ण परिग्रहके त्यागी परम वीत-रागी होते हैं; उनके पास किसी भी प्रकार आरम्भ नहीं होता है, वे पूर्ण निरारम्भी होते हैं।

जैसा कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि :—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वीसप्रशस्यते ॥

अर्थात् जो संसार के बढ़ानेवाले पंचेन्द्रियों के स्पर्श आदि विषयों से अन्तरङ्गतः आत्मा के घातक होनेसे त्यागी होते हैं; वे स्वप्नमें भी इष्ट पदार्थ की इच्छा नहीं करते। जागृतदशा की तो बात ही क्या है; वे सब तरह के आरम्भ के परित्यागी होते हैं। उनके बाल के अग्रभाग प्रमाण भी परिग्रह नहीं होता है, वे निरन्तर ज्ञानाराधन, ध्यान-धारण और तपश्चरणमें ही लीन रहते हैं। ऐसेज्ञानी, ध्यानी और परम तपस्वी साधु ही सम्यग्दृष्टि के द्वारा आराध्य, उपास्य, संसेव्य और परिपूज्य होते हैं। अन्य कपटी, बहुधन्धी, बहुपरिग्रही और बहुआरम्भी विषय कषायी दम्भी साधु नहीं हैं। इस प्रकार से मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि जीव उक्त छः अनायतनों का भी दोषज्ञ होने से पूर्णरीत्या त्यागी होता है। वह छः अनायतनों के समान तीन मूढ़ताओं का भी परिहार करता है; उनका परिहार किये बिना भी सम्यक्त्व गुण परि-शुद्ध नहीं हो सकता है; अतः सम्यग्दृष्टि उनसे भी बचने का त्रियोग से सत्प्रयत्न करता है, जिससे उसका सम्यग्दर्शन नियमतः निर्मल होने लगता है; और यथासमय परिपूर्ण निर्मल हो जाता है। वे तीन मूढ़ताएं निम्न प्रकारसे हैं :—लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता और गुरु मूढ़ता। मूढ़ताका अर्थ अज्ञानता है। अर्थात् अज्ञान के कारण जो क्रियाएं या जो रूप धर्म के साधक न हों, उनको धर्म समझ कर पालन करना या उनसे धर्म होगा। ऐसा मानना, सो मूढ़ता है; यह मिथ्यादर्शन मोह के उदय होने पर प्रकट होती है। गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी, कावेरी आदि नदियों में स्नान करने से मेरे अन्तरंग के पाप-मल धुल जायंगे; और मैं निष्पाप हो जाऊँगा; ऐसा मानना लोक-मूढ़ता है। समुद्र में डूबने से मेरा संसार-समुद्र भी क्षुद्र होकर नष्ट हो जायगा; और मैं मुक्त हो जाऊँगा; ऐसा निश्चय करना भी लोक-मूढ़ता है। किसी ऊँचे पर्वत पर चढ़कर वहां से गिरकर मरनेपर आत्मा वैकुण्ठ-धाम को प्राप्त कर अनन्तकाल तक आराम से परमात्मा बनकर सुख भोगेगा; ऐसा स्वीकार करना भी लोक-मूढ़ता है। अग्नि में जलकर मरने से अग्निदेव प्रसन्न होकर मुझे परम-धाम पहुंचा देंगे; जहां रहकर मुझे सुख ही सुख मिलेगा; दुःख का लेश भी नहीं रहेगा; ऐसा सोचना भी लोक-मूढ़ता है। बहुत से पत्थरों का ढेर लगाने से भी परमात्मा मुझपर प्रसन्न हो जायंगे तो मुझे अपने पास बुला लेंगे आदि सब लोक-मूढ़ता है। सती प्रथा

का भी यही उद्देश्य मालूम होता है कि पति की चितापर जीते जी पति के साथ अग्नि में दग्ध होनेपर पर-लोक में भी वही हमारा पति होगा; ऐसा समझकर अग्नि में प्रवेश करना लोक-मूढ़ता है, इत्यादि।

इसी अभिप्राय को लेकर आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि :—

आपगासागरस्नानमुच्चयःसिकताश्मनां ।
गिरिपातोऽग्निपातश्चलोकमूढंनिगद्यते ॥

अर्थात् नदियों और समुद्रों में स्नान करके धर्म मानना कि इन गंगा आदि नदियों में नहाने से ही हमें मुक्ति की प्राप्ति हो जायगी। जैसा कि—लोकोक्ति से जाहिर है *"गङ्गा मरणान्मुक्तिः"* गंगा जी में मरने से मुक्ति का लाभ होता है। यदि ऐसा मान लिया जाय तब तो जो भी गंगा जी में मरेगा; वह नियम से मोक्ष पहुंच जायगा; ऐसी स्थिति में गंगा में पैदा हुए—मगर-मच्छ आदि तमाम जल जन्तु, जो उसी में मरते रहते हैं; सभी मोक्ष पा जायंगे। फिर तो मोक्ष का मार्ग बहुत ही सीधा और सरल हो जायगा; परन्तु ऐसा होता नहीं है, अतएव यह लोक-मूढ़ता है। इसी प्रकार से समुद्र में स्नान करने से भी आत्मा के पाप धुल जाते हैं; और आत्मा बिलकुल ही निष्पाप हो जाता है। पत्थरों और धूलियों के इकट्ठा करने में, पर्वत से गिरने में, अग्नि में, गिरकर मरनेमें धर्म मानना लोक-मूढ़ता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि समीचीन दृष्टि रखता है; वह वस्तु-स्वरूप का अन्वेषक और धर्म का परिशोधक होता है; वह उपर्युक्त बातों को धर्म का अंग कैसे मान सकता है? उनमें तो वह अधर्म को ही देखता है; धर्म की तो उनमें गन्ध भी नहीं पाता है। अतः वह उक्त प्रकार की मान्यताओं से कोसों दूर रहता है; उनसे बचकर रहने में ही आत्म-कल्याण का अनुभव करता है; वह तो आत्म-गंगा में आत्मा के निर्मल गुणों के प्रवाह में ही स्नान करके धर्म मानता है; जो यथार्थ है, सत्यार्थ है।

स्थान : तिथि : ज्येष्ठ सुदी ८ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० २६-५-५८

देव-मूढ़ता—

जो वस्तुतः देव तो नहीं हैं; परन्तु देखने में देव सरीखे मालूम होते हैं। उन रागी, द्वेषी, कामी, क्रोधी देवों की, इष्ट-पदार्थों की प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा से प्रेरित होकर पूजा करना, बलि चढ़ाना, उनका पाठ बैठाना, रात्रि जागरण करना, तरह-तरह के उत्सव करना, उनको प्रसन्न करने के लिये उनके मन्दिर आदि बनवाना, चबूतरा बनवाना, ध्वजा आदि चढ़वाना ये सब देव-मूढ़ता में शुमार हैं। इन देवों को खुश करने के लिये नर-बलि, पशु-बलि आदि चढ़ाना; और इसके चढ़ाने से—देव मुझपर प्रसन्न हो जायंगे तो मेरे सभी काम अनायास ही सिद्ध हो जायंगे—ऐसा श्रद्धान करना देव-मूढ़ता है।

जैसा कि भगवान् समन्तभद्र स्वामी के वचनों से स्पष्ट होता है :—

वरोपलिप्सयाशावान्रागद्वेषमलीमसाः ।
देवतायदुपासीतदेवतामूढमुच्यते ॥

अर्थात्—इष्ट (प्रिय) पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छासे इच्छावान् होता हुआ जो पुरुष राग और द्वेष-रूपी मैलसे मैले देवताओं की पूजा करता है; वह देव-मूढ़ता का आराधक, मूढ़ मिथ्यादृष्टि कहलाता है। गर्ज कहने की यह है कि जो इन्द्रिय-विषयों के अभिलाषी हैं, वे वास्तव में मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि ही ऐसा मानते हैं कि अमुक देव की भक्ति करने से वह प्रसन्न होकर हमें अमुक-अमुक वस्तुओं को दे देगा और हमारा काम बन जायगा इत्यादि पराधीन दृष्टि ही मिथ्यादृष्टि है। परन्तु जो स्वाधीन दृष्टि है, यथार्थ दृष्टि है। वह यह कभी नहीं मानता है कि इन्द्रिय-विषयों से मेरा कल्याण होगा; वह तो यही मानता है कि मैं जितना इन्द्रिय-विषयों का त्याग करूंगा, उतना ही मेरा कल्याण होगा; क्योंकि वह इन्द्रिय-विषयों के त्याग से ही आत्म कल्याण को स्वीकार करता है; ग्रहण से नहीं। ग्रहण से तो अकल्याण ही होता है; जिनके ग्रहण से अकल्याण होता हो, उनकी चाह सम्यग्दृष्टि कैसे कर सकता है ? और जब वह उनकी चाह ही नहीं करता है; तब वह उन रागी, द्वेषी, कामी, क्रोधी आदि दुर्गुणी देवताओं की उपासना क्यों करेगा ? अर्थात् नहीं करेगा। दूसरी बात यह भी है कि जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह यह कभी नहीं मानता है कि कोई देव मुझे मेरे इष्ट पदार्थ को दे देगा; क्योंकि देना-लेना किसी भी देव के आधीन नहीं है, वह तो अपने-अपने पुण्य कर्म के उदयाधीन है। कोई देव किसी के पुण्य-कर्म को न तो बना सकता है, न बढ़ा सकता है, और न घटा सकता है। बनाना, बढ़ाना और घटाना यह सब कर्म कर्ता जीव के परिणामों पर ही अवलम्बित है, किसी देवता आदि के अधीन नहीं; यह विचार सम्यग्दृष्टि के अपरिहार्य हैं।

यहां देव-मूढ़ता के प्रसङ्ग में यह उल्लेख करना भी अनुचित न होगा कि जिन-शासन भक्त देव भी वस्तुतः आराध्य, पूज्य एवं स्तुत्य तथा वन्दनीय नहीं हैं; क्योंकि वे भी राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारी भावों से विकृत हो रहे हैं। हां, कोई-कोई जिन-शासन भक्त देव सम्यग्दृष्टि भी हो सकते हैं, लेकिन यह दृढ़ता से नहीं कहा जा सकता। हां, यह तो अवश्य ही दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि जो जिन-शासन भक्त भवनत्रिक के देव हैं, वे मूलतः मिथ्यादृष्टि ही होते हैं; क्योंकि भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिष देवों में जन्म लेनेवाले जीव मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। यदि वे निर्णीत निमित्तों में से किन्हींका आश्रय लेकर मिथ्यात्वके उपशम, क्षयोपशम (या क्षयसे उपशम—क्षयोपशम) और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लें, तो सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं; यह निर्विरोध है। अस्तु—अगर थोड़े समय के लिये हम यह भी मान लें तो भी क्या वे हमारी भक्ति से प्रसन्न होकर हमें हमारे इष्ट (प्रिय) पदार्थों को दे सकते हैं ? ऐसा एकान्त-रूप से कहा जा सकता है, नहीं, कभी नहीं। यदि हमारे साता आदि पुण्य

प्रकृतियों की सत्ता नहीं है, उनका उदय नहीं है, तो उन जिन-शासन भक्त देवों के हमारी भक्ति करनेपर भी हमें इष्ट वस्तुओं के देने की इच्छा नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में उनकी भक्ति की कोई कीमत नहीं रह जाती है; किन्तु हमारी पुण्य-प्रकृतियों के उदय की कीमत ही विशेष-रूप से सिद्ध होती है। साथ ही साथ यह भी कह देना अति उपयुक्त होगा कि वे जिन-शासन भक्त, देव या देवियां यदि व्यवहार से सम्यग्दृष्टि भी हों, तो भी उनके अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने के कारण श्रावक-व्रत देश संयम भी नहीं हो सकता है। वे अपनी पूरी पर्याय असंयम अवस्था से ही व्यतीत करते हैं; उन्हें एक क्षण के लिये भी संयम-रत्न हजार प्रयत्न करनेपर भी प्राप्त नहीं हो सकता है। तब देशव्रती या नियम-रूप से यथाशक्ति व्रत को पालन करनेवाला व्रती जीवात्मा श्रावक कैसे उन्हें पूजेगा? कैसे उन्हें अर्घ्य आदि चढ़ायेगा? अर्थात् नहीं, कभी नहीं। श्रावक का दर्जा उससे बहुत ऊँचा है; शास्त्रोंमें तो यह भी देखा और सुना गया है कि अमुक निर्मल ब्रह्मचारी अपने अखण्ड, प्रचण्ड, ब्रह्मचर्य के प्रभाव से देवों द्वारा पूजित हुआ, इत्यादि। तो जहां देवों द्वारा श्रावकों की पूजा, वन्दना, स्तुति और प्रशंसा आदि का किया जाना शास्त्रों से प्रमाणित होता हो; वहां श्रावक या श्राविकाएँ उनकी तुच्छ फल की प्राप्ति को लक्ष्य मे रखकर पूजा, वन्दना, नमस्कार, स्तुति, प्रशंसा आदि के साथ उन्हें इष्ट-फल का दाता मानकर अपने से अधिक ऊँचा समझकर उनकी भक्ति में लीन हो; यह कैसे योग्य कहा जा सकता है? यह पाठक स्वयं विचार करें और विचारने पर जो उपयुक्त समझें सो करें।

दूसरी बात यह भी शास्त्रों में पढ़ने को मिलती है कि जब कभी किसी श्रावक के ऊपर कोई विपत्ति संकट या कष्ट आया; तब उन्होंने अपने आराध्य, उपास्य, स्तुत्य, वन्द्य, पूज्य, अरहन्त आदि पञ्च-परमेष्ठियों या तीर्थंकरों में से किन्हीं को स्मरण किया या उनका स्तवन किया; तो तत्काल ही उनके भक्त देवों ने आकर उनकी सहायता की। इसमें मुख्य बात तो उनके भावों की निर्मलता से पाप का पुण्य-रूप परिणत हो जाना या पाप-प्रकृतियों का निर्जीर्ण हो जाना ही है। गौण-रूप से, निमित्त-रूप से देवों का आना है। सो भी देवों के मनमें तभी ऐसा विचार होता है कि अमुक धर्मात्मा के ऊपर अमुक के द्वारा उपद्रव किया जा रहा है; अतः वहां पहुंचकर यथाशीघ्र ही उसके उपसर्ग का निवारण करना चाहिए आदि जब कि उसके पुण्य का उदय होता है, अन्यथा नहीं। यह बात सर्वविदित है कि जब सीताजी की अग्नि परीक्षा की घोषणा देश के चारों ओर घोषित हो चुकी थी; जिसे सुनकर अपरिमित दर्शक उस महासती के अलौकिक सतीत्व के दर्शन के हेतु चारों ओर से उमड़ पड़े थे; आकाश में देवों का समुदाय भी दर्शक के रूप में उपस्थित था; उधर इन्द्र ने विदेहक्षेत्रस्थ तीर्थङ्कर केवली के केवलज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाकर यहांपर भरतक्षेत्र में भी केवली के केवलज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाने के लिये जाते समय अपने अनुचर देवों से कहा कि—तुमलोग इसी समय वहां जाओ; जहां महापतिव्रता शिरोमणि महासती सीता देवी की अग्नि परीक्षा होने जा रही है, वहां पहुंचकर तुमलोग उनकी उक्त परीक्षा में पूर्ण तन, मन और धन से उनकी सहायता करो। वे महासती आज संसार में शील-

शिरोमणियों में श्रेष्ठतम हैं, उनकी धर्मनिष्ठा लोकोत्तर है, उनकी हार्दिक भक्ति और सेवा करके अपूर्व पुण्य का सञ्चय करो इत्यादि। इन्द्र की आज्ञा शिरोधार्य करके देव तत्काल ही महासती सीता देवी के श्रीचरणों में उपस्थित हुए; और उनकी उस अभूतपूर्व अग्नि-परीक्षा में अदृष्ट एवं अश्रुतपूर्व सहायता प्रदान कर महान पुण्य का सञ्चय किया। यह है शील-व्रत के प्रभाव से प्रभावित हुए देवों द्वारा एक नारी-जगत् की शिरोभूषण शीलवती महिला की चरण-कमल की पूजा, इत्यादि अनेक उदाहरणों से इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है कि जिन-शासन भक्त देवों द्वारा व्रतनिष्ठ श्रावक एवं श्राविकाओं की ही पूजा की गई है; श्रावक एवं श्राविकाओं द्वारा उन देवों की नहीं। जो लोग धरणेन्द्र पद्मावती की पूजा या क्षेत्रपालादिकों की पूजा या अन्य किसी जिन-शासन-भक्त देव या देवियों की पूजा करना, उनकी भक्ति करना आदिपर जोर देते हैं; वह उन श्रावकोचित गुणों से युक्त श्रावकों की शोभा नहीं देता; साथ ही उनके उक्त प्रकार के पूजा-विधान को देखकर और उनके उपदेश को सुनकर अन्य लोगों में भी उसकी प्रवृत्ति चल पड़ती है; जिससे मिथ्यात्व का पोषण होता है; जो अनन्त संसार का कारण है। ऐसा समझकर एकमात्र वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी परम देव श्री अरहन्त प्रभु एवं परम वीतरागी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि और अनादि अज्ञानान्धकार विनाशक भगवज्जिनवाणी-रूप रत्नत्रय को छोड़कर अन्य किसी भी रागी, द्वेषी, मोही, कामी आदि देवों की उपासना या पूजा आदि नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनसे हमारा लक्ष्यभूत मोक्ष पुरुषार्थ किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता है, वे तो हमारे ही जैसे विकारी बन रहे हैं; उनसे अपने को निर्विकारी बनने की आशा करना धूलि को पेलकर तेल निकालने जैसा व्यर्थ है। यदि कोई यह आशंका करें कि भाई, उक्त जिन-शासन भक्त देव या देवियों की पूजा से मुक्ति न मिले तो न सही, पर संसार-सम्बन्धी सुख साता की सामग्री तो मिलेगी ही। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। तो इसके उत्तर में सिर्फ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भाई, आप कितनी ही उनकी पूजा करिये, भक्ति करिये, उपासना करिये, आराधना करिये; लेकिन यदि आपके पल्ले में पुण्य नहीं है तो वे भी कुछ करने धरनेवाले नहीं; वे तो हमारे पुण्य कर्मों के उदयानुसार ही कार्य कर सकते हैं; अन्यथा नहीं। साथ ही जब हम सच्चे वीतरागी की उपासना में त्रियोग से (मनवचनकाय से) संलग्न होते हैं, उस समय में हमारे परिणामों में जो विशुद्धि होती है उससे हमें विशेष पुण्य बन्ध तो होता ही है; साथ ही पूर्व सञ्चित पाप प्रकृतियों में भी संक्रमण होकर हमें तत्काल ही सफलता की प्राप्ति हो जाती है। यहां तक कि वही देव किंकर की तरह जिनेन्द्र-भक्त की सेवा में तत्पर नजर आते हैं; जिनकी सेवा में यह अपने सर्वस्व को लगाने की चेष्टा करता है। यह है परम वीतरागी जिनेन्द्र देव, जिनवाणी और जिन गुरुओं की सेवा का सच्चा सुफल; जिसका कोई भी सच्चा जिनेन्द्र भक्त निषेध नहीं कर सकता। हमें जिन शासन भक्त देवों से कोई द्वेष नहीं है जो हम यों ही उनकी पूजा का निषेध करने की धृष्टता करने लगे। हमें तो यहां वीतरागी की उपासना पूजाका सुफल बताना ही इष्ट है जो हमारे सम्यक्त्व में साधक है और है मोक्षमें भी परम्परा सहायक। जब कि

अन्य रागी, मोही, देवों की उपासना या पूजा हमारे लिये संसारका ही कारण है; ऐसा विचार कर हमें जिसमें अधिक लाभ हो वही करना चाहिए। यहां लाभसे तात्पर्य आत्मिक लाभसे है; जड़ लाभसे नहीं।

गुरु मूढ़ता :—

गुरु मूढ़ता से तात्पर्य यह है कि जो वस्तुतः गुरु नहीं है; गुरुताके लक्षण, आचार, विचार व्यवहार आदिसे सर्वथा विपरीत है; उसे गुरु मानना, गुरु जैसी उसकी भक्ति करना, सेवा करना, स्तुति करना, पूजा करना, उपासना करना आदि सब संसार-समुद्र में ही डुबोनेवाली क्रियायें हैं; क्योंकि वह स्वयं ही संसार में रुलानेवाली क्रियाओं को करता है और उसी में धर्म मानता है। जो स्वयं ही उन्मार्ग पर चल रहा है, वह दूसरों को, अपने भक्तों को कैसे सन्मार्गगामी बना सकता है? उसे सन्मार्ग का भान नहीं, ज्ञान नहीं, श्रद्धान नहीं बल्कि सच्चे मार्ग की बातों को सुनना भी जिसे इष्ट नहीं, रुचिकर नहीं, हितकर नहीं, वह कैसे गुरु हो सकता है? ऐसे अगुरु को गुरु समझकर पूजना, आदर करना, प्रशंसा करना आदि सब गुरु-मूढ़ता है। इसी का दूसरा नाम पाखण्डी-मूढ़ता भी है। जैसा कि आचार्य-समन्त भद्र स्वामी ने कहा है—

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनां।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥

तात्पर्य यह है कि जो परिग्रही हैं—चेतन पुत्र, मित्र, कलत्र आदि और अचेतन वस्त्र, क्षेत्र, छत्र आदि वस्तुओं को अपने साथ रखते है; खेती, किसानी, बाग, बगीचे, कुआं, बावड़ी, महल मकान आदि के आरम्भ में, निमग्न है; आरम्भी-विरोधी-उद्योगी आदि हिंसाओं में जो रत हैं; ये सभी संसारके चक्कर हैं, इन चक्करों में जो चक्कर लगा रहे हैं, वे सभी पाखण्डी है, ढोंगी हैं, साधु नहीं है। किन्तु साधुता का ढोंग बनाये हुये हैं, ऐसे पाखण्डियों का सत्कार करना, आदर करना, उन्हें गुरु मानना और गुरुपन की बुद्धि से उनकी भक्ति आदि करना सब संसार को ही बढ़ानेवाला है। ऐसा समझकर ज्ञानी सम्यग्दृष्टि इनके बहकावे में कभी नहीं आता। उनकी भक्ति करना तो दूर रहा; इनका नाम लेना भी अपने लिये घातक समझता है। क्योंकि उसकी दृष्टि से तो गुरु वही हो सकता है, जो संसार-समुद्र से स्वयं पार हो सकता हो और भक्तों को भी उसी सन्मार्ग पर चलाकर संसार से पार करा सकता हो; संसार की विषमता का दिग्दर्शन कराकर, उसे संसार से विरक्त कराकर, उन्मार्ग से हटाकर, सन्मार्ग पर लाकर, उसकी आत्मा को संसार से मोड़कर, मोक्ष की ओर झुकाकर उसकी आत्मा के एक-एक प्रदेश में वैराग्य रस छलका कर कर्म-बन्धन को छिन्न-भिन्न करनेवाली जैनी-दीक्षा से दीक्षित कराकर घोर तपश्चरण द्वारा संसार बन्धन से हमेशा के लिये मुक्त करा सकता हो। ऐसा गुरु ही वास्तविक गुरु होता है। वह स्वयं तरण है, संसार रूप अपार पारावार से तरनेवाला है; और तारण है, दूसरे भव्यों को सच्चा मार्ग बताकर तारनेवाला है। ऐसा गुरु ही सम्यग्दृष्टि का गुरु होता है, अन्य नहीं। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि इन तीन मूढ़ताओं का भी स्वभावतः त्यागी होता है।

स्थान :—
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : ज्येष्ठ सुदी ९ सं० २०१५
ता० २७-५-५८

अरहन्त और सिद्धपद भी निमित्त-सापेक्ष हैं।

आत्मा के उत्थान में कारण आत्मा की शुभ परिणति है और उस शुभ परिणति में बाह्य कारण मुख्यतया देव, शास्त्र और गुरु हैं। देव से तात्पर्य अरहन्त परमेष्ठी हैं अर्थात् जिन्होंने संसार की असारता को जानकर उसकी कारणीभूत सभी क्रियाओं का परित्याग कर मोक्ष की कारणीभूत क्रियाओं के पालन करने में प्रधान निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिमुद्रा को धारण कर अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और परिग्रह-त्याग महाव्रत,—ये पांच महाव्रत; ईर्या समितिभाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, प्रतिष्ठापना समिति—ये पांच समितियां; मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ; इस तरह से तेरह प्रकार चारित्र को धारण कर आत्म-शोधन के पथ पर आरूढ़ हो पूर्णरीत्या आत्मा का परिशोधन किया। आत्मा में अनादि से लगे हुए आत्मा के खास गुणों का घात करनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का नाश कर सर्वप्रथम अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य—ये अनन्त चतुष्टय प्राप्त किये हैं और जिनका शरीर परम औदारिक अवस्था को प्राप्त हो चुका है अर्थात् जिनके शरीर में अब सप्त धातुओं में से एक भी धातु नहीं है; साथ ही जिनके शरीर में अब निगोद जीवों का निवास भी नहीं रहा है और जो शत इन्द्रो से वन्दनीय हैं अर्थात् चतुर्निकाय के देवों के द्वारा और उनके अधिपति इन्द्रों द्वारा जो पूजित है। मनुष्यों में भूमिगोचरी और विद्याधरों के द्वारा एवं उनके इन्द्र चक्रवर्ती द्वारा जिनकी आराधना की जाती है और तिर्यञ्चों के द्वारा तथा उनके इन्द्रसिंह के द्वारा भी जो नमस्कृत हैं। तात्पर्य यह है कि भवनवासी देवों के २० बीस इन्द्र और २० बीस ही प्रति इन्द्र; व्यन्तरों के १६ सोलह इन्द्र और १६ सोलह प्रति इन्द्र; कल्पवासियों के १२ इन्द्र और १२ प्रति इन्द्र; ज्योतिष देवों का इन्द्र चन्द्रमा और प्रति इन्द्र सूर्य; मनुष्यों का इन्द्र एक चक्रवर्ती और तिर्यञ्चों का इन्द्र एक सिंह; इस प्रकार सब मिलकर सौ इन्द्र होते हैं। इनसे भगवान अर्हन्तदेव वन्दित हैं। यह तो समवसरण में उपस्थित होनेवाले देवेन्द्रों, मानवेन्द्रों और तिर्यगिन्द्रों की अपेक्षा से कहा जा रहा है। यह तो निश्चित ही है कि जिसको इन्द्र आकर नमस्कार करते हों, स्तुति करते हों, वन्दना करते हों, पूजते हों, उसको उनके सेवक उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करनेवाले तो पूजते ही हैं, यह कोई नई बात नहीं है। हां, यहां यह आशंका अवश्य ही हो सकती है कि जो विशेष पुण्यात्मा हैं, अहमिन्द्र हैं, वे तो मन्दकषाय होने से भगवान के समवसरण में आते ही नहीं हैं; साथ ही लौकान्तिक देव भी एकमात्र तप-कल्याणक के समय पर ही आते हैं और अपना नियोग पूर्ण कर चले जाते हैं।

वे भी समवसरण में नहीं आते; ऐसी स्थिति में भगवान सर्व देवों और इन्द्रों द्वारा पूज्य होते हुए भी अहमिन्द्र आदिकों के द्वारा शायद वन्दनीय नहीं होते होंगे।

यह आशंका सर्वथा निर्मूल है। कारण कि जहां भगवान के जन्म-कल्याणक के अवसर पर सभी अहमिन्द्र अपने अपने विमानों से सात कदम आगे जाकर जिस दिशा में भगवान जन्म लेते हैं उस दिशा की ओर खड़े होकर वहां से ही भगवान को नमस्कार करते हैं; अतः अहमिन्द्रों द्वारा भी भगवान वन्दनीय होने से सभी देव, दानव, मानव और तिर्यञ्चों के द्वारा सतत (निरन्तर) वन्द्य हैं पूज्य हैं, आराध्य हैं, उपास्य हैं, संसेव्य हैं। इतना ही नहीं, किन्तु नारकी जैसे सतत सन्तप्त रहनेवाले जीव भी जब भगवान के जन्म के अवसर पर कुछ समय के लिये अभूतपूर्व सुखशान्ति का अनुभव करते हैं; तब वे भी उन्हें किसी न किसी रूप में पूज्य समझते होंगे। फिर उनमें जो जीव सम्यग्दृष्टि होंगे वे तो इन्हें हर हालत में नमस्कार वन्दना आदि करते ही होंगे—भले ही वह कायिक वाचनिक न हो, मानसिक ही हो। इस प्रकार सभी संसारियों द्वारा भगवान अर्हन्तदेव अतिशय वन्दनीय हैं। वे अर्हन्त परमदेव भी बाह्य में वज्र-वृषभ-नाराच-संहनन, समचतुरस्र संस्थान आदि द्रव्य, भरत क्षेत्र आदि क्षेत्र, चतुर्थ या तृतीयकाल आदि काल और औपशमिक भाव आदि भाव के निमित्त को प्राप्त करके अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने ही उपादान में अर्हन्त जैसी महान त्रिलोक पूज्य अवस्था को प्राप्त करते हैं; यही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसमें न केवल निमित्त कार्यकारी है और न केवल उपादान ही कार्यकारी है, किन्तु दोनों ही यथायोग्य रीति से कार्यकारी हैं।

जैसे सुवर्ण-पाषाण में सुवर्ण रूप होने की खुद की शक्ति है, परन्तु उसकी वह शक्ति स्वयमेव (अपने आप ही) यानी बिना निमित्त के प्रकट नहीं हो सकती। उसे तो सुवर्णकार आदि चेतन और अग्नि आदि अचेतन पदार्थों का निमित्त प्राप्त करना ही पड़ेगा। बिना इसके उसका सुवर्ण रूप होने में कोई चारा नहीं है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी अपने इष्टोपदेश में कहते हैं :—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णतामता।
द्रव्यादिस्वादिसम्पत्तावात्मनोऽप्यात्मतामता॥

भावार्थ यह है कि जिस प्रकार खान से निकले हुए स्वर्ण-पाषाण में स्वर्ण रूप होने की उसमें उपादान योग्यता है अर्थात् वही पाषाण बाह्य निमित्तों के मिलने पर स्वयमेव ही सुवर्ण बन जाता है। सुवर्ण बन जाने पर फिर उसमें सुवर्ण का ही व्यवहार होता है; पाषाण का नहीं। पाषाण का व्यवहार तो तभी तक था जब तक कि उसका सुवर्णकार आदि बाह्य कारण-कलापों के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ था और अभ्यन्तर स्वर्ण, स्वर्ण रूप में बाहिर प्रकट नहीं हो पाया था। अब तो वह खालिस स्वर्ण है,

एक भी परमाणु उसमें पाषाण का नहीं है। ठीक इसी प्रकार से अब पूर्ण ज्ञानघन शुद्ध टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव आत्मा के साथ कर्म मल का सम्बन्ध है, तभी तक यह आत्मा संसारी दीनहीन दयनीय कहलाता है और जब इसे बाह्य में उत्तम कुल, उत्तम जाति, उत्कृष्ट शरीर, उत्कृष्ट धर्म-जैन धर्म, वीतराग धर्मकी प्राप्ति हो जाती है; तब यह आत्मा अपने सुपुरुषार्थ से ध्यान तपश्चरण रूप महान अग्नि द्वारा कर्म-मल को दग्ध कर परमात्मा बन जाता है। फिर इसे संसारी कहने का कोई कारण नहीं रह जाता है। फिर तो यह परमात्मा ही कहलाता है। गर्ज कहने की यही है कि आत्मा से परमात्मा बनने के लिये जैसे उपादान कारण अपेक्षित होता है, वैसे ही निमित्त कारण भी अपेक्षित होता है। अगर बिना उपादान के कार्य नहीं बनता है तो बिना निमित्त के भी कार्य नहीं बन सकता है; यह कभी नहीं भूलना चाहिये। यह तो सभी जानते हैं कि पत्थर में मूर्ति बनने की योग्यता है, लेकिन वह मूर्ति रूप तभी होगा जब कि सिलावट उसे अपने औजारों द्वारा छिन्न भिन्न करके उस रूपमें लाने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार से निमित्त भी उदासीन होकर कार्य में साधक है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्ट पाहुड में लिखा है कि :—

धुवसिद्धितित्थयरो चउणाणधरोवि करेइ तवयरणं।
इतिझाऊण धुवं कुज्जा तवयरणंणाण जुत्तोवि॥

तात्पर्यार्थ यह है कि—जो तीर्थङ्कर होते हैं उन्हें सिद्ध-पद की प्राप्ति सुनिश्चित है। वे जन्मत: मति, और अवधि-रूप तीन ज्ञान के धारी होते हैं और जब वे दीक्षित होते हैं तब अन्तर्मुहूर्त में ही उन्हें मन:पर्यय ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। इस तरह से वे चार ज्ञान के धारक बन जाते हैं; लेकिन फिर भी उन्हें तपश्चरण करना ही पड़ता है। बिना तपस्या किये उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और केवलज्ञान प्राप्त किये विना उन्हें सिद्ध-पद भी नहीं मिल सकता है। अत: उन्हें भी बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप तपना ही पड़ते हैं। अगर वे यह सोच लें कि हमें तो तीर्थङ्कर बनना ही है; अर्थात् अनन्त चतुष्टय धारक होकर मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति चलाना ही है; फिर हमें तपस्या आदि की क्या आवश्यकता है; यह तो सब अपने-आप ही अपने उपादानमें हो ही जायगा; फिर नग्न दिगम्बर मुनि-मुद्रा धारण करने की क्या जरूरत है; तदनुरूप व्रताचरण तपश्चरण क्रिया-काण्ड वगैरह क्यों किया जाय इत्यादि ? तो, यह विचार तीर्थङ्कर नहीं बनने देंगे; अत: तीर्थङ्कर बनने के लिये तो सब तरहके बाह्य और आभ्यन्तर साधन साधना ही पड़ेंगे; तभी तीर्थङ्कर पद प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं। यह सोचकर ज्ञानी पुरुषों को चाहिए कि वे भी ध्यान और तपश्चरण में संलग्न हों; बिना ध्यान और तपश्चरण के अशुद्ध आत्मा शुद्ध नहीं हो सकता। आत्मा की अनादि अशुचिता बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के कारणों के एकत्रित होने पर ही दूर हो सकती है; अन्य प्रकार से नहीं।

लोक व्यवहार में भी यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि मैले-कुचैले वस्त्र को स्वच्छ करने के लिये मैल-नाशक वस्तु का निमित्त मिलाना ही पड़ता है और वह निमित्त भी तभी कहलाता है जब उसके उपयोग में लेने पर वस्त्र की अपनी निजी छिपी हुई स्वच्छता (निर्मलता) प्रकट हो जाती है; यदि वस्त्र की शुचिता-स्वच्छता-निर्मलता या श्वेतता अपने खालिश स्वरूप में न आये तो वह निमित्त नहीं कहलायगा—यह अबाधित सिद्धान्त है। किसी भी पदार्थ में अविद्यमान शक्ति को पैदा कर देना निमित्त का कार्य नहीं है। निमित्त किसी द्रव्य का अथवा उसके गुण एवं पर्यायों का कर्ता नहीं हैं; वह तो एक-मात्र उदासीन कारण है।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं :—

दव्वगुणस्सय आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि।
तमुभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्ससोकत्ता ॥

भावार्थ :—यह है कि आत्मा पुद्गल-स्वरूप कर्मों में द्रव्य और गुणों का कर्त्ता नहीं है। अर्थात् पुद्गल द्रव्य स्वरूप नाना प्रकार की वर्गणाओं में जो कार्मण जाति की वर्गणाएँ हैं; वे स्वयमेव (अपने आपही) कर्म-रूप होने की शक्ति रखतीं हैं, उनका जिस समय कर्म-रूप होने का समय आता है, उसी समय जीव के राग द्वेष आदि भाव कर्मों का निमित्त उन्हें मिलता ही है और वे उक्त निमित्त के मिलते ही खुद व खुद कर्म-रूप बन जाती है। जीव उनमें कर्मपना पैदा नहीं करता है; किन्तु उन कार्मण वर्गणाओं में ही कर्मपना मौजूद था, वह सिर्फ जीव के परिणामों के निमित्त से प्रकट हो जाता है; यही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जीव का कार्मण वर्गणाओं के कर्म-रूप होने में आचार्य ने स्वीकार किया है। जब आत्मा पर-द्रव्य और पर-गुण का कर्ता नहीं हैं; तब उसे उनका कर्ता कहना या मानना कैसे आगम और युक्तिसंगत कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है। आचार्य श्री ने स्व-समय और पर-समय की व्याख्या करते हुए जो सारगर्भित वर्णन किया है, वह बड़ा ही हितकारक और वस्तु-स्वरूप को समझने में सहायक है :—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठियंतं हिससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियंचतं जाण पर समयं ॥

तात्पर्यार्थ यह है कि जीव का स्व-समय अपने चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित रहना ही है, अर्थात् जबतक जीव अपने स्वभाव-स्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में रत रहता है तबतक उसे स्व-समय में स्थित रहनेवाला स्व-समयी कहा जाता है; और जीव का पुद्गल कर्म प्रदेशों में स्थित होना ही पर-समय है। अर्थात् जबतक यह जीव कर्म-कृत नाना प्रकार के परिणमनों को अपना मानता है;

तबतक इसे पर-समय में स्थित रहने के कारण पर-समयी कहते हैं; यही इसका पर-समय है, जो स्व-समय का विरोधी है, और है पर को अपना माननेवाला।

यह स्व-समय और पर-समय का व्याख्यान सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के आचार विचार और व्यवहार के आधार पर किया गया है; जिसके समस्त आचरण श्रद्धान और ज्ञानपूर्वक हैं; स्व-समयवान सम्यग्दृष्टि है और जिसके आचरण सच्ची श्रद्धा और सच्चे विवेक से रहित हैं; वह मिथ्यादृष्टि पर-समयवान है। इन दोनों में जो स्व-समय में रत है, वही मोक्षमार्गी है और जो पर-समय में रत हैं, आसक्त हैं, लीन हैं, संलग्न हैं या निमग्न हैं, वह मिथ्यादृष्टि हैं। अतएव संसारमार्गी हैं; अतएव जो सुखाभिलाषी हैं, उन्हें स्व-समय में आ जाना चाहिए; बिना स्व-समय में आये सुख की उपलब्धि होना नितान्त असम्भव है। जो स्व-समय में रहता है वही अकर्ता है, उसे कर्तृत्व का अभिमान नहीं होता है, वह तो यथार्थ वस्तु स्थिति को जानता है, अतएव वह ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववाला है, उसकी दृष्टि में संसार का विशाल-स्वरूप अपने-अपने गुण-पर्यायों में ही हो रहा है, अन्य के गुण-पर्यायों में नहीं। सभी पदार्थ अपने-अपने अनुरूप-स्वरूप में ही वरत रहे हैं, कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के स्वरूप में प्रवेश नहीं कर सकता है, यह अकाट्य सिद्धान्त है, ऐसी स्थिति में अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य का या उसके गुण पर्यायों का कर्ता मानना कैसे ठीक कहा जा सकता है? कर्तृत्व का अभिमान करना मिथ्यादृष्टि का कार्य है, वही ऐसी मान्यता रखता है कि—अमुक ने अमुक का कार्य बना दिया और अमुक ने अमुक का कार्य बिगाड़ दिया इत्यादि। उसे यह खबर नहीं है कि—यह सब बनना और बिगड़ना बनने और बिगड़नेवाले के किये हुए शुभ और अशुभ भावों के अनुसार उपार्जित कर्मों के उदय पर अवलम्बित है; और उस उदय के समय जो वस्तु निमित्त-रूप से उपस्थित रहती है, अज्ञानी मिथ्यात्वी जीव अपने किये हुए कर्म फल पर विचार न करके निमित्त को ही उसका कर्ता मान बैठता है। ऐसी दशा में वह सब दारोमदार निमित्त के ऊपर छोड़कर आप बिलकुल ही निर्दोष बन बैठता है; यही कर्तृत्वाभिमानी जीव का हाल है, जो अनन्त संसार में परिभ्रमण कराता रहता है। अतएव पर-समय से निकल कर स्व-समयमें आकर प्रत्येक आत्मार्थीको अपना आत्म-कल्याण करना चाहिए। निमित्तोन्मुखी दृष्टि को बदलकर उपादानोन्मुखी दृष्टि बनानी चाहिए, तभी आत्म-हित कर सकेगा, अन्यथा नहीं। आत्म-हित का एकमात्र मार्ग स्व-समय ही है, पर-समय नहीं, ऐसा समझकर स्व-समय में आने का प्रयास करो।

स्थान : तिथि : ज्येष्ठ सुदी १० सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० २८-५-५८

निमित्त की व्याख्या करते हुए आचार्यश्री लिखते हैं कि—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञोनाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यत्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥

भ.ार्थ यह है कि जो अज्ञ है, अज्ञानी है, अभव्य है, उसे कोई भी उपदेष्टा अपने उपदेश के द्वारा ज्ञानी, भव्य नहीं बना सकता है। इसी प्रकार से जो विज्ञ है, ज्ञानी है, भव्य है, सम्यग्दृष्टि है उसे कोई भी अपने पुरुषार्थ से अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, अभव्य नहीं बना सकता है। इसका कारण यह है कि जिसके उपादान में जो गुण नहीं है वह तीन काल में भी नहीं है। उसे कोई कितना ही ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी क्यों न हो, उसके उपादान में नहीं ला सकता और न नया उत्पन्न ही कर सकता है। यह तो साक्षात् परमेश्वर परम शक्तिशाली सर्वज्ञ प्रभुके द्वारा भी सम्भव नहीं है जो अतुल बल और अनन्त ज्ञान से विराजमान हैं। वे तो एकमात्र उपदेश-कर्ता-रूप निमित्त हैं और जो निमित्त होता है, वह सिर्फ धर्मास्तिकाय के समान उदासीन ही होता है, अन्य रूप से नहीं। जैसे धर्मास्तिकाय द्रव्य, गमनशील, जीव और पुद्गलों के गमन में मात्र निमित्त है, प्रेरक नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस द्रव्य में स्वतः अपने आप में गमन करने की शक्ति नहीं है, उसे धर्मास्तिकाय गमन में सहायक कैसे हो सकता है? और जिसमें गमन करने की शक्ति तो स्वभावतः मौजूद है; पर गमन करने के लिये उद्यत नहीं है तो उसे धर्मास्तिकाय प्रेरक बनकर नहीं चलायगा। हां, जो गमनशील है, स्वयमेव गमन करने की शक्ति भी रखता है और गमन के लिये उद्यमशील है, उसे धर्मास्तिकाय उदासीन (बिना प्रेरणा किये) निमित्त है। ऐसा ही निमित्त सर्वत्र समझना चाहिये। ऐसा नहीं है कि नैमित्तिक को देखकर निमित्त का लक्षण ही बदल जाता हो। हां निमित्त तो बदल सकते हैं, क्योंकि भिन्न भिन्न कार्यों के भिन्न भिन्न निमित्त होते हैं। अतः निमित्त भेद तो स्वभाव सिद्ध है; परन्तु निमित्त के लक्षण में कभी भी विपर्यास नहीं हो सकता है—यह निश्चित सिद्धान्त है। चेतन को अचेतन करने का निमित्त और अचेतन को चेतन बनाने का निमित्त संसार में न था, न है, और न होगा। क्योंकि वह तो तब हो जब कि उपादान में वैसी परिणमन करने की स्वाभाविकी शक्ति हो। सो ऐसी शक्ति किसी भी चेतन में अचेतन होनेकी और अचेतन में चेतन होने की है ही नहीं। यही यथार्थ वस्तुस्थिति है। जो अबाधित है, और है, सिद्धान्त-सम्मत। कर्तृत्व-(कर्तापन) का अहंकारी तीव्र मिथ्यादृष्टि होता है, वह तो हरेक कार्य में अपने को कर्ता बताता रहता है; उसकी बुद्धि में सर्वत्र सर्वदा कर्तृत्व की कल्पनाएं जागृत होती रहती हैं; स्त्री पुत्र आदि चेतन और देह, गेह, धन-धान्य, क्षेत्र, वस्त्र आदि अचेतन पदार्थों का कर्ता भी अपने

को ही मानता है। वह तो यह भी कहता फिरता है कि मैंने ही भगवान जिनेन्द्र का मन्दिर बनवाया है; यदि मैं न बनवाता तो मन्दिर कभी भी नहीं बन सकता था; मैंने ही मन्दिर में प्रतिमाजी को बनवा कर और उनकी पंच कल्याणक प्रतिष्ठा कराकर उनको श्रीमन्दिरजी में विराजमान कराया है, यदि मैं न होता तो ये सब धर्मायतन के कार्य नहीं हो सकते थे; अतः मैं ही इनका कर्ता धर्ता हूं। आज मैंने ही इस आदमी को रुपया पैसा देकर व्यापार में लगाया है, आज यह आदमी जेल जा रहा था, मैंने ही राजकर्मचारियोंसे मिल जुलकर कुछ रुपया दे दिलाकर इसे जेल जाने से बचा लिया है। यह आदमी आज नदीमें बहता चला जा रहा था, मैंने ही नदी में कूदकर इसके प्राणोंकी रक्षा की है, मौतके मुंहमें से मैं ही निकाल कर इसे यहां लाया हूं, यदि मैं न होता तो यह किसी भी तरह से जिन्दा नहीं रह सकता था; मैं समाज के बड़े-बड़े झगड़े निवटाता रहता हूं; यह मेरी शक्ति ही है जो मैंने आज की पञ्चायत में बैठकर धर्मादा के पैसे का झगड़ा शान्त कराके सोलह आना मैंने उसकी रक्षा की है, नहीं तो ये धर्मादा का पैसा भी हड़प जाते, एक पैसा भी न बचने देते; यह मेरी ही ताकत है जो आज समाज का वातावरण बहुत शान्तिमय हो रहा है। समाज के ऊपर मेरा पूरा प्रभुत्व है, यही वजह है जो मैं जो कुछ कहता हूं, उसे समाज हर हालत में बिना कुछ कहे सुने ही मान लेती है। आज सारे समाज की बागडोर मेरे ही हाथ में है; मैं जैसा चाहूं, वैसा ही समाज से करा सकता हूं; सारा समाज मेरे इशारे पर ही नाच रहा है; मैं जिधर चाहूं, उधर ही समाज को घुमा सकता हूं; यह सब मेरे बायें हाथ का खेल है। मेरे द्वारा ही समाज के तमाम अच्छे से अच्छे कार्य हो रहे हैं; यह सब मेरा ही प्रभाव है; जो मैंने अपनी समाज को तमाम समाजों का शिरोमणि बना रक्खा है। यदि मैं चाहूं तो इसको एक ही बातमें नीचे गिरा दूं, इत्यादि। अहंकार के जितने भी भाव हैं; वे सब एकमात्र मिथ्यात्व की भूमि में ही उत्पन्न होते, बढ़ते और उसी में धराशायी होकर नये-नये अहंकारमय भावों के उत्पन्न होने में बीज बन जाते हैं। यह अनादि सन्तति-वृक्ष-बीज न्याय से चलती चली आ रही है; आज की नहीं है। यह तो इस मिथ्यादृष्टि की वाह्य पदार्थों के विषय में होनेवाली अहंकारमय कर्तृत्व की भावना है ही; किन्तु यह तो अपने विषय में भी यह घोषणा करता रहता है कि—मैं तो स्वयं ही सम्यग्दृष्टि हूं; मेरे में कभी कर्म-बन्ध नहीं होता है, मैं तो शुद्ध-बुद्ध नित्य निरञ्जन हूं। इस प्रकार के मिथ्या अभिमान से अपने मुंह को फुलाये हुए कहता फिरता है, ऐसा मिथ्याभिमानी भले ही दिगम्बर मुद्रा को धारण कर महाव्रतों का, समिति और गुप्तियों का पालन करे; परन्तु वह स्वपर का विवेकी-सम्यग्दृष्टि नहीं है, उसे अपने आत्मा और पर-अनात्मा का स्वरूपतः भेद-विज्ञान नहीं है, वह तो सिद्ध सरीखा शुद्ध अपने को मानकर बैठा हुआ है; और इसीलिये अपने को बन्धरहित मान रहा है। वह समझता है कि—जैसे सिद्धों के कर्मों का बन्ध नहीं होता है, वैसे ही मेरे भी कर्मों का बन्ध नहीं होता है। द्रव्यदृष्टि से मुझमें और सिद्धों में कोई फर्क (अन्तर) नहींहै; और जब अन्तर नहीं है, तब उनके समान मेरे आत्मा में भी बन्ध नहीं होता है; लेकिन वह यह नहीं विचारता है कि—सिद्ध का द्रव्य तो अशुद्ध दशा से निकल कर शुद्ध-

दशा में पहुंचता है। अतएव उसमें बन्ध का एक भी कारण नहीं है; और मेरे आत्मा में तो बन्ध के सभी कारण हैं। मेरे आत्मा में मिथ्यादर्शन हैं, अविरत हैं, प्रमाद हैं, कषाय हैं और योग भी हैं। जब कि सिद्ध परमेष्ठी के आत्मा में उन कारणों में से एक भी नहीं है; वे तो पूर्णतया कर्म-बन्ध के कारणों का समूल नाश कर चुके हैं; अतएव वे निर्बन्ध हैं। मैं कैसे उनकी सर्वथा शुद्ध दशा से अपनी सर्वथा अशुद्ध दशा की समानता मान रहा हूं ? यह तो मेरी मान्यता सर्वथा मिथ्या गलत है; और इसी गलत भ्रान्त धारणा के कारण ही मैं अनन्त संसार में भ्रमण का पात्र बन रहा हूं; जिस दिन मैं इस भ्रान्ति से छुटकारा पा लूंगा; उसी दिन से मेरा सच्चा सुधार प्रारम्भ हो जायगा। उसी दिन से मेरा कर्तृत्व का अभिमान दूर होकर मेरे में एकमात्र निजत्व की परम पवित्र भावना जाग उठेगी। लेकिन यह तो तभी सम्भव हो सकेगा जब यह आत्मा, परमात्मा, अर्हन्त परमेष्ठी की शरण ग्रहण करेगा, उनके स्वरूप से अपने स्वरूप का मिलान करेगा, उनके बताये हुए मार्ग पर चलेगा, उनके समान ध्यान करने का अभ्यास करेगा, उनको आदर्श मानकर ही सारी प्रवृत्तियोंसे निवृत्ति की ओर प्रयाण करेगा। प्रारम्भ में तो उसे तमाम अशुभ प्रवृत्तियों को छोड़ना पड़ेगा और शुभ प्रवृत्तियों को अपनाना पड़ेगा, कुछ ही समय के पश्चात् उसे शुभ प्रवृत्तियों से हटकर शुद्ध में आना पड़ेगा, तब कहीं जाकर इसे उस परम प्राप्य-पद परमात्म-पद की प्राप्ति हो सकेगी, जिसका प्राप्त करना इसके लिये अतिशय-रूप से अभीष्ट है। जैसे अर्हन्त बनने के लिये हमें अर्हन्त की उपासना का निमित्त लेना पड़ता है, वैसे ही हमें सिद्ध बनने के लिये भी सिद्ध का सहारा (निमित्त) लेना ही पड़ेगा। इससे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि हरेक आत्मा को परमात्मा अर्हन्त या सिद्ध बनने के लिये उनकी सद्भक्ति का निमित्त लेना ही पड़ेगा; उनकी भक्ति-रूप निमित्त के बिना प्रत्येक भव्य आत्मा के उपादान में रहनेवाली परमात्म शक्ति किसी प्रकार से व्यक्त नहीं हो सकती।

अर्हन्त-भक्ति का राग राग तो है ही, वह राग नहीं है; यह तो नहीं कहा जा सकता। हां; वह राग प्रशस्त राग है, उसे संसार के दुःखदायक अप्रशस्त से भिन्न प्रकार का राग मानना चाहिए। ऐसे राग के बाद वीतराग अवस्था के प्रकट होने में बहुत बड़ी सरलता आ जाती है, विषय कषाय का राग तो अप्रशस्त होने से संसार का वर्द्धक राग कहलाता है; जो नितान्त हेय है। ऐसे हेय(त्यागने योग्य) राग का त्याग अर्हन्तभक्ति में पूर्णतया सम्भव है। इसी बात को श्री पं० द्यानतरायजी ने सोलह कारण पूजा की, जयमाला में बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं :—

जो अरहन्त भगति मन आने, सो जन विषय-कषाय न जाने, अर्थात् जो भक्त पुरुष श्री अरहन्त परमेष्ठी की भाव पूर्ण भक्ति करते हैं, मन से उन्हीं के गुणों का चिन्तन और वचन से भी उनके गुणों का गान और काय से विनयपूर्वक अष्ट द्रव्यों का बड़ी ही सावधानी से चढ़ाना, आनन्द से विभोर हो नाचने लगना, ताली बजाने में भी काय का उपयोग करना आदि त्रियोग को भगवान् अर्हन्त प्रभु की

भक्ति में लगाना ही विषय-कषाय से विरक्त होकर वीतरागता के प्रति उन्मुख होना है; जो अरहन्त बनने का साधन है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी भगवान् जिनेन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं :—

न रागान्नःस्तोत्रंभवतिभवपाशच्छिदिमुनौ ।
नचान्येषुद्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ॥
किमुन्न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां ।
हितान्वेषोपायस्तवगुणकथासंगगदितः ॥

तात्पर्यार्थ यह है कि—हे भगवज्जिनेन्द्र ! आप संसार-रूप महान जालको छेदन करनेवाले मुनि हैं; अतएव आप के गुणों का स्तवन मैं राग से नहीं करता हूं; किन्तु संसार का पाश-राग है; उसका आपने नाश कर दिया है। अतएव आप वीतरागी हैं; आपके उक्त वीतराग-रूप गुण का अनुरागी होकर ही मैं आप का स्तवन करने के लिये प्रयत्नशील हो रहा हूं, यह वीतरागता का राग, राग तो है ही; परन्तु वह संसार वर्द्धक न होकर संसार का नाशक ही होगा; इसलिये वह वीतराग दशा को पा लेगा।

इसी प्रकार से आप से भिन्न जो कपिल आदि आप्ताभास हैं, उनसे मेरा कोई द्वेष नहीं है; इसलिये मैं द्वेष से प्रेरित होकर उनके दुर्गुणों-दोषों के कहने की खलता (अशिष्टता) भी नहीं कर रहा हूं, या नहीं करना चाहता हूं। किन्तु न्याय क्या है, और अन्याय क्या है ? प्रकृतमें गुण और दोष को जानने-वाले पुरुषों के हित को ढूढ़ने का उपाय मैंने आपके गुणों की स्तुति के साथ कह दिया है; अर्थात् जो राग-द्वेष का त्याग कर पूर्ण वीतरागी और पूर्ण वीत-द्वेषी हैं, वे ही सच्चे आप्त होने से स्तुति करने योग्य हैं, और जो रागी हैं; द्वेषी हैं, वे कथमपि आप्त नहीं हो सकते। अतएव वे स्तुति के पात्र नहीं है। यही न्याय और अन्याय है; और इन दोनों में जो न्याय है, वही आत्म-कल्याण का कारण है, उसे ही हितैषी पुरुषों को अपनाना चाहिए; इसी में उनके सारे कल्याण निहित हैं। मतलब यह है कि—जब आत्मा संसार के असह्य दुःखों से ऊब जाता है, तब उसे किसी ऐसे महान् आत्मा के समीप में जाने की स्वाभाविक इच्छा होती है, जिसने संसार की असारता को उसकी असलियत को जानकर उससे पार होने का मार्ग ढूंढ़ निकाला हो, और उसपर स्वयमेव चलकर अपनी दुःखद स्थिति से निकल कर पूर्ण आत्मिक सुख की स्थिति को प्राप्त किया हो। ऐसा जिज्ञासु आत्म सुखाभिलाषी, यदि किसी रागी, द्वेषी, दम्भी के पास जाता है तो उसे उसके पास भी अपनी ही जैसी दशा का थोड़े-बहुत अंशों में दर्शन होता है, तब तो वह और भी अधिक बेचैन हो जाता है; और सोचता है कि—अब तो मेरा दुःख का अन्त सर्वथा असम्भव है; लेकिन फिर वह अपने कर्तव्यमें दृढ़ रहता है; और आगे बढ़ता है। उसे कहीं न कहीं

ऐसे महान् परम वीतरागी का भी मिलन या दर्शन हो जाता है, जो दरअसल में पूर्ण वीतरागी हैं, परिपूर्ण ज्ञानी हैं एवं हैं, सर्वोपरि परिपूर्ण ध्यानी और अपरिमित आत्मिक बलशाली। उनकी उक्त प्रकार की परम-शान्त मुद्रा को देखते ही इसकी आत्मिक अशान्ति में स्वयमेव ही अकथनीय शान्ति आ जाती है, बस इसी को कहते हैं, आत्म-कल्याण का निमित्त।

ऐसा निमित्त, निमित्त इसीलिये कहा जाता है कि उसके रहते हुए आत्मा के उपादान में जो अशान्ति हो रही थी, वह उसी के उपादान में उसी पुरुषार्थ से शान्ति के रूप में परिणत हो गई; लेकिन उस समय उक्त वीतरागी परमात्मा का दर्शन उसमें निमित्त-रूप से स्वीकार किया गया है; कर्तृत्व-रूप से नहीं।

मुनि-वन में विचरण करनेवाले परस्पर जाति-विरोधी (जिनका जन्म से ही बैर-भाव हो) प्राणी भी अपना जन्म-जात विरोध (बैर) भूल जाते हैं; और आपस में बड़े ही प्रेम-भाव के साथ बरताव करने लगते हैं; यह क्या है? यह भी तो वीतरागी साधुके सान्निध्य (सामीप्य) का ही फल है; यह कहना निमित्त प्रधान है। तात्पर्य यह है कि—यदि साधु न होते तो उन जाति-विरोधी जीवों का अपना जन्म-जात विरोध भी न मिटता; और उनके रहने से मिट गया है; इसलिये कहा जाता है कि—साधु महाराज के कारण ही इनका बैर मिट गया है। यहां साधु महाराज मौन हैं, चुप-चाप ध्यान में लीन हैं; उन्होंने तो कुछ भी नहीं कहा है; फिर भी, वे विरोधी अपना साहजिक विरोध भूले हुए हैं। यह विरोध के भूलने का भाव उन्हीं के उपादानों में, उन्हीं के द्वारा हुआ है; सिर्फ उस समय मात्र साधु की उपस्थिति ही तो है। अतः यह कहना पड़ता है कि—निमित्त मात्र उदासीन होते हैं, कर्ता नहीं होते हैं। इस प्रकारसे निमित्त में कर्तृत्व कदाचिदपि नहीं हो सकता है। जितने भी निमित्त होते हैं, वे सब उदासीन अर्थात् उपादान में कुछ भी नवीनता नहीं ला सकते; जो भी नवीनता उपादान में आती है, वह मात्र अपने ही कारण से आती है। यह सर्वथा अबाधित और अकाट्य नियम है, इसमें कोई फेर-फार नहीं हो सकता है; यह युक्ति और आगम दोनों से प्रमाणित है।

स्थान :— तिथि : ज्येष्ठ सुदी ११ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० २६-५-५८

आचार्य शुभचन्द्रजी ने भी ज्ञानार्णव में यही कहा है; कि :—

सारङ्गीसिंहशावं स्पृशति सुतधियानन्दिनी व्याघ्रपुत्रम्।
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ताभुजंगम्॥
वैराण्याजन्मजातान्यपिगलितमदा जन्तवोऽन्येत्यजन्ति।
श्रित्वा साम्यैक रूढं क्षपितकलुषं योगिनंक्षीणमोहम्॥

तात्पर्यार्थ यह है कि—जिसने साम्य-भाव को अपनाया है; और जिसने राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, क्षोभ, दम्भ, मोह, इष्ट, अनिष्ट विकारी भावों को क्षीण कर दिया है, और जिसका मोह भी सर्वथा विलीन हो गया है; अतएव जो पूर्ण निर्मोह दशा को प्राप्त हो चुका है; उस परम वीतरागी योगी को आश्रय-रूप से पाकर मृगी सिंह के बच्चे को अपनी जीभ से चाट रही है, तो गाय व्याघ्र के बच्चे को अपना पुत्र समझ कर प्रेम कर रही है। बिल्ली हँस के बच्चे से स्नेह कर रही है, तो एक तरफ मयूरी सर्प को देख कर उससे अपना हार्दिक स्नेह कर रही है। इसके सिवाय और जो भी जन्मतः बैर रखनेवाले जीव जंगल में रह रहे हैं; वे भी अपना बैर-भाव भूल कर प्रेम-भाव में डूब रहे हैं। यह वीतराग परिणति प्रधान पवित्र आत्माओं के संसर्ग का साक्षात् फल है। जो बिना किसी उपदेश या प्रेरणाके स्वयमेव ही प्राणियोंमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है; यह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को ही सिद्ध करनेवाले उदाहरण हैं; जिन्हें कोई भी विवेकी विचारक बुद्धिमान निषेध नहीं करेगा; और इसे स्वीकार किये बिना भी नहीं रहेगा। ऐसे अनेकों उदाहरण शास्त्रों में पढ़ने को मिलते हैं; जो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को सिद्ध करने में अव्यर्थ समर्थ हैं। यहां पर यह भी समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि—जब उपादान स्वयमेव कार्य रूप में परिणमन करता है, तब ही बाह्य पदार्थ निमित्त कहे जाते हैं; और तभी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का व्यवहार होता है, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ हम सुकुमाल स्वामी को ही यहां स्मरण करते हैं। सुकुमाल स्वामी तो ध्यानस्थ हैं; और स्यारनी अपने बच्चों के साथ पूर्व-जन्म के बैर के कारण उन्हें भक्षण कर रही है। यह सब कारण-कलाप सुकुमाल स्वामी को दुःख पहुंचानेवाले हैं। ऐसा हम सभी संसारियों की दृष्टि में आता है; परन्तु हम शास्त्रों के आधार से यह निर्णय कर पाते हैं कि—सुकुमाल स्वामी तो अपने स्वरूप में इतने रत रहे कि—उन्हें स्यारनी आदि के भक्षण जन्य कष्ट का भान ही नहीं हुआ; उनका उपयोग तो आत्म-स्वरूप में ही निमग्न रहा, नतीजा यह हुआ कि वे इस नश्वर शरीर को छोड़ कर सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए। यदि वे शरीर के भक्षण से उत्पन्न होनेवाले दुःख को दुःख मान कर वेदन करते तो शुभ ध्यान से विचलित हो अशुभ ध्यान में आ जाते। तब तो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध सुचारु रूप से घटित हो जाता, परन्तु ऐसा नहीं हुआ, अतएव निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं बना। यही बात भगवान पार्श्वनाथ, पञ्च पाण्डवों और गजकुमार आदि महान आत्माओं के विषय में भी समझ लेनी चाहिए। क्योंकि इन महात्माओं के ऊपर भी क्रमशः कमठ के जीव द्वारा, दुर्योधनादि द्वारा एवं सोम शर्मा के द्वारा तरह-तरह के भयंकर उपसर्ग किये गये जिनका उद्देश्य एकमात्र उन उन महात्माओं को तीव्र से तीव्र दुःख पहुंचाने का था; पर वे सब के सब उपसर्ग निरर्थक सिद्ध हुए। अर्थात् उन उन महापुरुषों ने उन तमाम उपसर्गों की ओर अपने उपयोग को न लगाकर एकमात्र आत्मा के स्वरूप की स्थिरता में ही लगाया; जिसका फल उन्हें कैवल्य की प्राप्ति होना ही रहा। अर्थात् उन्हें दुःख की प्राप्ति न होकर अनन्त आत्मिक सुख की प्राप्ति हुई। अतएव उद्देष्टाओं के उद्देश्य के बिलकुल विरुद्ध कार्य होने के कारण, कारण-

कार्य या निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं बन सका—इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरणों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि निमित्त की सफलता कार्य होने पर ही होती है, कार्य के पूर्व निमित्त रहते हैं और वे निमित्त अवश्य हैं। पर वे निमित्त सच्चे अर्थ में तो तभी कहलायेंगे जब उनकी उपस्थिति में उपादान भी तदनुकूल कार्य रूप में परिणत हो; यदि उपादान निमित्त (वाह्य पदार्थ) से निरपेक्ष होकर ही कार्य रूप में परिणत होता है, तो वह वाह्य कारण-कलाप निमित्त नहीं कहा जायगा। यह बात ऊपर के उदाहरणों से साफ तौर पर जाहिर होती है कि वे महान आत्माएं स्वयमेव ही अपने प्रबल पुरुषार्थ से मोहका, विध्वंसकर परमातिशय सम्पन्न अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय से मण्डित हो अखण्डित, अलौकिक, आत्मिक, सर्वोच्चपद को प्राप्त हुईं। निमित्त प्रायः उदासीन होते हैं, यह बात हम पहले सिद्ध कर आये हैं। इसी को पुनः प्रकारान्तर से एक दो दृष्टान्तों द्वारा स्पष्टीकरण के तौरपर कहते हैं। जो वस्तु उदासीन रूप से कार्य करने में कारण होती है, वह तो जैसी है वैसी ही है; परन्तु वही वस्तु किसी रागी को राग के होने में कारण होती है, तो वही वस्तु किसी वीतरागी के लिये वीतरागता में कारण होती है; तो वही वस्तु किसी द्वेषी के लिये द्वेष में कारण होती है, पर वस्तु में कोई भी, जरा सा भी हेर फेर नहीं होता है। उदाहरणार्थ आप उस वेश्या को (बाजारू स्त्री को) ले लीजिये जो अपनी आयु को पूर्ण कर मृत्यु की गोद में पहुंच चुकी है। जब उसका जनाजा (शव) निकाला गया तो उसमें बहुत से लोग एकत्रित हुए। जब शव श्मशान में ले जाया गया, तब उसके शरीर पर का श्वेत वस्त्र ज्यों ही पृथक्-(अलग) किया गया त्यों ही एक कामी पुरुष की दृष्टि उसके शरीर पर पड़ी; देखते ही वह उसपर मुग्ध होकर विचार करता है कि ओह! इसका यह कितना सुन्दर, सुगठित और हृष्ट-पुष्ट लावण्यमय शरीर है, यदि यह जिन्दा अवस्था में मुझे कदाचित् देखने भी मिल जाती तो मैं अपना जीवन कृतकृत्य समझता। जहां देखनेमात्र से ही कामी अपने जीवन को कृतकृत्य मानने को तैयार हो, वहां उसके भोगने की तो बात ही क्या? वह तो उसे स्वर्गीय सुख से भी कहीं अधिक प्रतीत होता।

वहां पर एक कुत्ता भी बैठा हुआ था, जो उसके शवको देखकर मन ही मन यह सोच रहा था कि यदि ये दाह-संस्कार करनेवाले क्षण भर को भी इधर उधर हो जाते, तो मैं इसे झट से खाकर अपनी बुभुक्षा शान्त कर लेता। उसके मन में उसे खाने की तीव्र लालसा उत्पन्न हुई, क्योंकि उसने उसे अपना खाद्य मान रक्खा था।

इन दोनों के सिवाय एक दिगम्बर जैन साधु महाराज भी वहां पर ध्यान-निमग्न थे। जब वे अपना आत्म ध्यान पूर्ण कर चुके तब उनकी दृष्टि भी उस वेश्या के शव की ओर पड़ी। उन्होंने उसके सुन्दर, सुगठित और सुडौल शरीर को देखकर मन में विचार किया कि यदि यह जीवित होती और कदाचित् इसे किसी दिगम्बराचार्य या साधु के परम हितकारी सद्धर्मोपदेश का निमित्त मिलता, तो यह अपने इस नश्वर शरीर के द्वारा आत्मिक उन्नति के प्रमुख साधन स्वरूप परम धर्म का परिपालन कर

अभूतपूर्व आत्मिक सुख को प्राप्त करने में समर्थ होती। सम्यक्त्व को प्राप्त करके स्त्रीलिङ्ग को छेदकर सद्गति को प्राप्त कर आत्म-कल्याण की चरम सीमास्वरूप मुक्ति को भी प्राप्त करने में अग्रसर होती। इस विवेचन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि निमित्त एकमात्र उदासीन ही होते हैं, वे करते धरते कुछ नहीं। हां, करनेवाले स्वयं तो करते हैं, पर कहते यही हैं कि अमुक ने ऐसा कर दिया। ऊपर के दृष्टान्त से यह बात बिलकुल ही साफ मालूम देती है कि बाह्य वस्तु के होते हुए विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न प्रकार के भाव बनते और बिगड़ते रहते हैं। पर वस्तु न बनती है और न बिगड़ती है, वह तो जिस रूप में है, उस रूप में है; उसका बनना और बिगड़ना उसके ही अधीन है, अन्य के अधीन नहीं।

स्थान :— तिथि : ज्येष्ठ सुदी १२ सं० २०१५

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० ३०-५-५८

"निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध"

भगवान अमृतचन्द्र स्वामी ने 'समयसार' के कलश में यह बात बताई है कि यह आत्मा पर-भावों का कर्ता नहीं है, और न था, और न होगा। यह त्रिकाल स्वभाव सिद्ध वस्तु है; यह तो स्वभावसे निजभावों का ही कर्त्ता है और था और रहेगा। वह कलश निम्न प्रकार से है—

> कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्यचितोवेदयितृत्वत्।
> अज्ञानादेवकर्तायं तदभावादकर्तृकः ॥

तात्पर्य यह है कि चैतन्य ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा जैसे ज्ञान और दर्शन स्वरूप निज भावों का कर्ता है। वैसे अन्य राग द्वेष आदि भावों का कर्ता स्वभाव से नहीं है; किन्तु अज्ञान भाव से ही वह उक्त प्रकार के भावों का कर्ता है; इसलिये अज्ञान भाव के हट जाने पर यह आत्मा उक्त भावों का तीन काल में भी कर्ता नहीं होता। अतएव यह सिद्धान्त निश्चित एवं निश्चल रहा कि आत्मा स्वभावतः आत्मिक भावों का ही कर्ता है, अनात्मिक भावों का नहीं। यह तो वस्तुस्थिति है; जो कभी भी किसी के द्वारा भी नष्ट-भ्रष्ट नहीं की जा सकती। जिस द्रव्य का जो स्वभाव होता है; वह उसका कभी भी नष्ट नहीं हो सकता है। हां, उसमें किसी अन्य द्रव्य के संयोग से उसके ही उपादान से उसमें विभाव परिणमन अवश्य ही हो सकता है; क्योंकि जीव द्रव्य और अजीव द्रव्यों में से एक पुद्गल द्रव्य इन दोनों द्रव्यों में आचार्यों ने भगवान अर्हन्तदेव की वाणी, दिव्य वाणी से हम संसारियों को यह उपदेश दिया

है कि—हे संसारी प्राणियों! वास्तव में तुम्हारा आत्मा तो आपके स्वभाव से अपने ही भावों का कर्ता धर्ता और हर्ता भर्ता है; अन्य भावों का नहीं। परन्तु तुम्हारा आत्मा अनादि से पुद्गल द्रव्य के साथ बंधा हुआ चला आ रहा है। इसलिये अज्ञान भाव भी तुम्हारे साथ ही अनादि से है और उसका निमित्त कारण कर्म पुद्गल परमाणु हैं और उपादान कारण तुम्हारा आत्मा है; क्योंकि वह अज्ञानभाव चैतन्यमय विकारी भाव है और चैतन्य आत्मा का धर्म है, अतः यह भी कथञ्चित् आत्मा का ही भाव हुआ। नेमिचन्द्राचार्य ने भी (जो सैद्धान्तिक चक्रवर्ती थे) अपने 'द्रव्य-संग्रह' में कहा है कि यह आत्मा व्यवहार नय से ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का कर्ता है और अशुद्ध निश्चय नय से वही आत्मा चैतन्य-मय राग द्वेषादि भावों का कर्ता है और शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध अनादि आत्म भावों का ही कर्ता है।

णाणावरणादीणंकत्तावहारदोदुणिच्चयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणयासुद्धभावाणं ॥

तात्पर्य यह है कि—यह आत्मा व्यवहार-पराश्रित-नयसे-आत्मासे पृथक् भिन्न वस्तु के निमित्त से आत्मा ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मो का, पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है। ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म-रूप परिणमन करने की जिनमें खुद की योग्यता है; ऐसी असंख्यात लोक-प्रभाव लोकाकाश में अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाएँ भरी हुई हैं; जो आत्मा के राग-द्वेष आदि भावों के निमित्त से स्वयमेव ही कर्म-रूप दशा को प्राप्त कर आत्मा के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाहन-रूप से सम्बन्ध को प्राप्त कर दूध और पानी के समान एकमेक हो; कर्मत्व संज्ञा को पा लेती हैं। गर्ज कहने की यह है कि—कार्मण वर्गणाएं स्वयमेव ही आत्मा के साथ सम्बन्धित नहीं होती हैं; किन्तु आत्मा के विकारी भाव जो रागादि है, उनके निमित्त को पाकर ही उक्त वर्गणाएं कर्म-रूप अवस्था में आकर आत्मा से सम्बन्ध स्थापित करती है। इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य अमृतचद्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कितना स्पष्ट एवं मनोहर वचन कहा है। उसे आप ध्यान से पढ़िये :—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्यपुनरन्ये ।
स्वयमेवपरिणमन्तेऽत्रपुद्गलाःकर्मभावेन ॥

भावार्थ यह है कि—जीवों के द्वारा किये गये राग-द्वेष, मोह आदि परिणामों के निमित्त को प्राप्त कर के ही अन्य विजातीय कार्मण वर्गणा-रूप पुद्गल परमाणु स्वयमेव ही कर्म-भाव को प्राप्त हो जाते हैं। यदि आत्मा के विकारी-भावों का निमित्त न मिले तो, अविकारी कार्मण वर्गणा के पुद्गल भी कर्म-रूप विकारी दशा को प्राप्त नहीं कर सकते; भले ही उनमें कर्म-रूप होने की उपादान शक्ति बनी रहे। इससे यह फलित होता है कि—जीव के विकारी भाव अपने उपादान में ही होते हैं, परन्तु उन्हे पौद्गलिक

द्रव्य कर्मों के उदय की अपेक्षा लेना ही पड़ती है। यदि उनका निमित्त न मिले तो, वे तीन काल में भी आत्मा में नहीं हो सकते; और यदि आत्मा के रागादि भावों का निमित्त न मिले तो, पुद्गल कार्मण वर्गणाएं भी कर्म-रूप नहीं हो सकती। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनादि है, अनन्त है और अखण्ड है; इसका खण्डन कोई नहीं कर सकता है।

यही बात भोक्तृत्व-भोक्तापन के विषय में भी समझनी चाहिए। जैसे—आत्मा अपने ज्ञानादि-भावों का कर्ता है, वैसे ही वह अपने ही ज्ञानादि-भावों का भोक्ता है; अन्य के भावों का नहीं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखते हैं कि :—

परिणममानोनित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां सभवतिकर्ताचभोक्ताच॥

भावार्थ यह है कि—अनादिकाल से ज्ञान के परिणमनों से परिणमन करनेवाला यह आत्मा हमेशा से अपने ही परिणामों का कर्ता रहा है; और भोक्ता भी। अन्य द्रव्य के भावों का न तो कर्ता था; और न होगा, और न है।

यह बात केवल आत्म द्रव्य के विषय में ही नहीं समझनी चाहिए; बल्कि प्रत्येक द्रव्य के विषय में ऐसा ही मानना चाहिए कि—कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के किसी भी परिणमन का कर्ता या भोक्ता नहीं हो सकता है; सब अपने-अपने द्रव्य गुण पर्यायों के कर्ता या भोक्ता हैं। यह वस्तुस्थिति है, इसमें कोई भी रद्दो-बदल नहीं हो सकता है, यह तो स्वाभाविक है, अनादिकालिक है और है, अनन्त। अनन्त बल के धारी अनन्त ज्ञानी भगवान् अर्हन्त परमेष्ठी भी कभी किसी द्रव्य के परिणमन को एक समय के लिये भी इधर का उधर या एक-रूप से दूसरे-रूप में नहीं कर सकते। एक-रूप से दूसरे-रूप को प्राप्त करना यह उसी द्रव्य का निज का कार्य है; अन्य का नहीं। जब अर्हन्त जैसी महान् आत्माएं भी किसी द्रव्य के द्रव्यान्तर में या पर्याय के पर्यायान्तर करने में समर्थ नहीं है; तब अन्य क्षुद्र बलधारी संसारी प्राणी की तो बात ही क्या हो सकती है? अतः पर-भावों के कर्तृत्व का एवं भोक्तृत्व का अभिमान या अहंकार करना एकमात्र अनादिकालिक मिथ्यात्व का पोषण करना ही है; इस जीव को पुनः पुनः अनन्त संसार में परिभ्रमण कराता रहता है। इसलिये जो मुमुक्षु हैं, कर्म-बन्धन से अपने अचिन्त्य शक्तिशाली आत्मा को इस भयंकर संसार से मुक्त करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि—वे उक्त मिथ्या कर्तापन को अपने में से निकाल बाहिर करें; इसी में उनका कल्याण निहित है, भलाई सुनिश्चित है। बिना इसके संसार के चक्र से पार होने का दूसरा कोई चारा नहीं है। यह कर्तापन का दुरभिमान तभी दूर हो सकेगा, जब आत्मा अपने को पहिचानेगा; अपनी ओर ही अपनी सारी प्रवृत्ति को कायम

करेगा। शास्त्राधार से अपने स्वरूप को और अपने से भिन्न तमाम पर-द्रव्यों के स्वरूप को जानेगा, मानेगा और तदनुकूल होनेवाले सभी परिणमनों को यथार्थ कहेगा।

सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदासचैतन्यमचलमाप्नोति।
भवतितदाकृतकृत्यःसम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः॥

तात्पर्य यह है कि—जब यह आत्मा अपने में होनेवाले सभी प्रकार के राग-द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि विकारी-भावों को छोड़ कर, जब परम निश्चल चैतन्य-भावों में जो आत्मा के स्वभाव-भाव हैं, स्थिरता को धारण करता है; तब ही यह कृत-कृत्य सबही करने योग्य कार्यों को कर चुका; अब जिसे कुछ भी सांसारिक कार्य करना नहीं रहा है, हो जाता है। सच्चे पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त हुआ कहा जाता है। वस्तुतः पुरुषार्थ का प्रारम्भ एकमात्र सम्यक्त्व-सच्ची आत्म-श्रद्धा से शुरू होता है; क्योंकि पुरुषार्थों में मुख्य पुरुषार्थ मोक्ष है; और उसका प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है। जैसा कि—मोक्ष-मार्ग के निरूपण में भगवान् उमा स्वामी महाराज ने सर्वप्रथम *"सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"* सूत्र से स्फुट किया है कि—मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ होकर सम्यक्चारित्र से परिपूर्ण होता है। मुक्ति की भूमिका सम्यक्त्व से बनती है; ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। इसके विपरीत प्रवृत्ति करनेवाला पुरुषार्थी नहीं है, वह तो संसारवर्द्धक संसारी ही है; क्योंकि उसने संसार-भावों को करने में पुरुषार्थ माना है।

इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं कि :—

एवमयंकर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपियुक्तइव।
प्रतिभातिबालिशानां प्रतिभासःसखलुभवबीजम्।

फलितार्थ यह है कि—उक्त प्रकार के कर्म-कृत भावों से अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मोदय से होनेवाले नाना प्रकार के भावों से असंयुक्त सम्बन्ध-रहित होता हुआ भी यह आत्मा अज्ञानियों को, विपरीत ज्ञानियों को ऐसा प्रतीत होता है कि—यह आत्मा उन कर्म-कृत विभाव-भावों से सहित है। यही इसका मूल बीज है; अर्थात् इसी अज्ञान के कारण ही आत्मा कर्म-बन्धन में पड़ता है; क्योंकि जिसने पर-भावों को अपना माना, और अपने भावों को नहीं पहिचाना; वही तो बन्धन में पड़ेगा। इससे पर-भावों को छोड़ने योग्य जान कर छोड़े और निज-भावों को ग्रहण करने योग्य मान कर ग्रहण करें; तभी आत्मा का कल्याण हो सकता है।

पुरुषार्थ सिद्धि का सच्चा उपाय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है कि :—

विपरीताभिनिवेशंनिरस्य सम्यग्विवस्यनिजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचालनं सम्यक्पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥

भावार्थ यह है कि अनादितः प्रवाह रूप से चले आ रहे विपरीत (सर्वथा उल्टे) अभिप्राय-(विचार) को दूर करके और आत्म स्वरूप का भले प्रकारसे अविचल निश्चय करके पुनः उससे तीन काल में कभी भी विचलित न होना यही पुरुषार्थ-सिद्धि मोक्ष प्राप्ति का सच्चा अव्यर्थ उपाय है। बिना आत्म स्वरूप के निश्चय के मोक्ष; पुरुषार्थ, बन ही नहीं सकता है? "मूलोनास्तिकुतोवृक्षः" जब जड़ ही नहीं है, तब वृक्ष कहां से और कैसे हो सकता है। यह नीति अक्षरशः सत्य है, वैसे ही बिना सम्यग्दर्शन के मोक्ष का होना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। वह सम्यग्दर्शन एकमात्र, आत्मतत्व का निश्चय करना ही है, अन्य नहीं; अन्य प्रकार भी नहीं है। इसी तत्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं कि—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानधनस्यदर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्
सम्यग्दर्शनमेतदेवनियमा दात्माचतावानयं ।
तन्मुक्त्वा नव तत्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तुनः ॥

भावार्थ यह है कि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से पूर्णज्ञान घन स्वरूप अनन्त ज्ञानमय यह बात द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से कही जा रही है। क्योंकि द्रव्यार्थिक नय से वस्तु जैसी है वैसी ही कही जाती है; उसमें न्यूनाधिकता (कमती बढ़ती) नहीं होती है, वह तो शक्ति की अपेक्षा से उतनी ही है, कमबढ़ नहीं है। एक है, यह निश्चय है, व्यापक है, शरीर प्रमाण है या अन्तिम शरीर से कुछ कम है, या ज्ञान की दृष्टि से सभी पदार्थों को जो जड़चेतन रूप हैं, सभी में व्यापक हैं। उन्होंको ज्ञेय रूप से जानता है। ऐसे आत्म द्रव्य का दूसरी तमाम द्रव्यों से भिन्न अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाला है, कोई किसी में स्वरूपतः मिला हुआ नहीं है। ऐसा दृढ़ श्रद्धान करना ही वास्तविक सम्यग्दर्शन है और जितना सम्यग्दर्शन है, उतना ही आत्मा है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन आत्मा के श्रद्धागुण का परिणमन है जो आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में तिल में तैल की तरह भरपूर है; गुण गुणी के प्रमाण होता है। अतः वह भी आत्मा के बराबर है, या आत्मा उसके बराबर, यह दोनों कहने के प्रकार हैं; वस्तु भेद नहीं हैं। इसलिये, हे स्वपर भेदविज्ञानिन् आत्मन्! तुम विवेकपूर्वक जीव, अजीव,

आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष रूप सप्त तत्व तथा पुण्य और पाप के मिलाने पर नव तत्त्व की सन्तति को छोड़कर तुम स्वयं अपने स्वरूप को प्राप्त कर स्वयमेव स्वभावतः एक रूप हो जाओ। कहने की गर्ज यही है कि वास्तव में आत्मा ही उक्त नव तत्त्व में अनादि से प्राप्त है, इनमें इसी आत्म-तत्त्व की ही प्रधानता है। यों भी नामकरण की दृष्टि से जीव ही प्रथम स्थान रखता है। कारण कि जीव में ही एक स्वयं को और अन्य तमाम ज्ञेयों को जानने की स्वाभाविकी शक्ति है, अन्य द्रव्यों में वह शक्ति नहीं है। उक्त प्रकार की शक्ति से सम्पन्न वह जीव अनादितः स्वर्णपाषाण की तरह अजीव द्रव्य के साथ सम्बद्ध है। बस इन दोनों का एकत्व-एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध ही अन्य आस्रव और बन्ध इन दो तत्त्वों का उत्पादक है, जो संसार के मूल आधार हैं; अर्थात् संसार कोई आस्रव और बन्ध तत्त्व से पृथक् (जुदा) नहीं है; किन्तु इन दोनों की सृष्टि ही वास्तविक संसार है। ऐसे संसार का प्रति समय होनेवाली सविपाक निर्जरा से सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है, तभी तो आस्रव और बन्ध की सन्तति रूप संसार अनाद्यनन्त कहा जाता है। इस संसार का विरोधी मोक्ष तत्त्व है, जो संवर और निर्जरा मूलक है, बिना संवर और निर्जरा के मोक्ष तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती। संसारोच्छेदक और मोक्षोत्पादक संवर निर्जरा का पात्र उक्त प्रकार का सम्यग्दृष्टि ही होता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही अविपाक निर्जरा एवं नवीन कर्मों का निरोध रूप संवर होता है। इन दोनोंके होनेपर मोक्ष तत्त्व की संसिद्धि बन जाती है।

फलितार्थ यह हुआ कि जो संसार में ही रहना चाहते हैं; जिन्हें संसार ही रुचिकर है, वे तो आस्रव और बन्ध को ही अपनाते रहेंगे, लेकिन जो संसार से ऊबकर मोक्ष के इच्छुक हैं उन्हें सर्व प्रथम आत्म श्रद्धा को जागृत करना पड़ेगा। उसके होने पर तो संवर निर्जरा प्रारम्भ हो ही जाती है; परन्तु उतने मात्र से मुक्ति लाभ सम्भव नहीं है। उसे तो देशव्रत और महाव्रत के रूपमें चारित्र का पालन करना पड़ेगा बिना उनका पालन (आचरण) किये मुक्तिकी प्राप्ति बहुत दूर समझनी चाहिए। जो सम्यग्दृष्टि उक्त प्रकार के व्रतों का पालन करते हैं; वे ही यथाशीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। अतः चारित्र धारण करने से ही संवर और निर्जरा तत्त्व की परिपूर्णता पूर्वक मोक्ष की उपलब्धि होती है। यह निर्विवाद सिद्ध और सुनिश्चित है।

स्थान :— तिथि : ज्येष्ठ सुदी १३ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० ३१-५-५८

अपने और परके स्वरूप का निर्णय कर आत्म-स्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न प्रारम्भ करो। जीव तो स्वयं ही अनादि और अनन्त है; स्वभावतः सर्वप्रकार की चञ्चलता से शून्य है, इसके स्वभाव में किसी भी प्रकार की उथल-पुथल नहीं है, यह पूर्ण रीत्या स्थिर है, यह स्वयं ही अपने द्वारा जानने योग्य है; बहुत ही स्पष्ट है, स्वच्छ है, निर्मल है, पवित्र है, सर्वविकारों से रहित है; और खासकर चैतन्यमय ज्ञानदर्शन-स्वरूप है। अतएव सभी पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ-रूपसे प्रकाशमान है, अन्य पदार्थों में नहीं पाये जानेवाले चैतन्य चमत्कार से यह अत्यन्त ही चमत्कृत हो रहा है। शेष वस्तुओं में यह विशेषता नहीं है। अतएव अपने उक्त प्रकार के चैतन्य को हर तरह से चमकाने के लिये इस जीवात्मा को सतत (निरन्तर) उद्योग करना चाहिए; इसीमें इस जीवात्मा की भलाई है। अपने स्वरूप में स्थिर होने के लिये नीचे लिखे अनुसार विचार करना चाहिए।

जिस वस्तु को मैं देख रहा हूं, वह यह नहीं जानता है कि—मैं कौन हूं, कैसा हूं, क्या मेरा स्वरूप है, कहां से आया हूं, कहां मुझे जाना है, क्या मेरा कर्तव्य है, क्या-क्या मैंने किया है आदि। और जो जाननेवाला और देखनेवाला, सुख-सत्ता-चैतन्यमय तत्त्व है, उसे कोई देखने में समर्थ नहीं है; जानने में भी प्रबल नहीं है। ऐसी स्थिति में मैं किससे बात करूं; कौन मेरी बात को सुन और समझ सकता है? अतः सब तरफ से अपनी मनोवृत्ति को हटाकर मैं अपने ही ज्ञानदर्शन सुख-सत्ता-रूप-स्वरूप में ही स्थिर होने का प्रयत्न करूं; जो मेरे सच्चे-स्वरूप को प्राप्त कराने में हर तरह से समर्थ है।

हरेक आत्म-हितेच्छु को सब तरफ से निश्चिन्त होकर यह विचार करना चाहिए कि—मैं कौन हूं, मेरा स्वरूप क्या है; पर कौन है, और पर का स्वरूप क्या है; संसार का कारण क्या है, बन्ध क्या है, आस्रव क्या है, संवर क्या है, कर्म-बन्ध का विनाश कैसे होता है, मेरा निर्बाध स्थान कौन-सा है, और कहां है? इत्यादि बातों के निर्णय में अपने उपयोग को सब तरफ से हटाकर स्थिर करने से ही अपार आत्मिक आनन्द की अनुभूति हो सकती है। यही वास्तविक संसार बन्धन से छुटकारा पाने का सर्वोत्तम उपाय है; इसलिये उक्त बातों के निर्णयपूर्वक सुचारु आचरण करने से ही आत्मा के सच्चे-स्वरूप की प्राप्ति होना हर हालत में सम्भव है; ऐसा समझ कर प्रत्येक आत्मा को उक्त बातों के निर्णय करने में निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए; इसी में अपने जीवन की सफलता और कर्तव्य-निष्ठा की पराकाष्ठा समझनी चाहिए। इसी से आत्मा कृत-कृत्य या कृत-कर्म हो सकता है; अन्यथा नहीं।

उदात्त हृदय और उन्नत चारित्र एवं उच्चतम विचार प्रधान मोक्षार्थियों को यह सुनिश्चित निर्बाध सर्वहितकर सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए कि—मैं शुद्ध चिन्मय, चैतन्य-स्वरूप, एक अद्वितीय—जिसमें अन्य किसी का भी प्रवेश नहीं है; परम सर्वश्रेष्ठ-सर्वोत्तम, ज्योति, ज्ञानतेजोमय अखण्ड पिण्ड हूं। इसके सिवाय और जो भी भाव मेरे में समय-समय पर उद्‌भूत होते रहते हैं; वे सभी तरह-तरह के भाव मेरे स्वभाव से पृथक् लक्षणवाले हैं; अतएव पर हैं; पर के निमित्त से मेरे में होते हैं; परन्तु मेरे नहीं हैं; अतएव मैं उन स्वरूप नहीं हूं। वे सब पर-द्रव्यजनित संयोगज भाव हैं, इसलिये ही वे सब पर-भाव हैं, आत्म-स्वभाव भाव नहीं हैं, किन्तु पर-निमित्तज औपाधिक विभाव भाव हैं, जो निमित्त से पृथक् (जुदा) होते हैं; आत्मा से हमेशा के लिये जुदे हो जाते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि—पर के निमित्त से होनेवाले जितने भी भाव हैं, वे सब पर ही हैं; आत्म-भाव नहीं हैं। ऐसा एकान्त-रूप दुराग्रह सिद्धान्त कैसे हो सकता है? यह तो सिद्धान्त का घातक एक प्रकार का महामिथ्यात्व है। यहां तो सिर्फ स्वभाव भावों का विचार-विमर्श चल रहा है, जिसमें एकमात्र उपादान ही विवक्षित है; निमित्त नहीं। यह ठीक है कि—निमित्त से होनेवाले भाव भी आत्मा के उपादान में होते हैं। अतएव वे निमित्त प्रधान होने से निमित्तज या नैमित्तिक भाव कहे जाते हैं; अतएव आत्मा के उपादान में होते हुए भी आत्मा के स्वभाव भाव न होकर विभाव भाव होते हैं। जो उपादान को भूल कर सिर्फ निमित्त को ही मुख्य मान कर उसी के ऊपर अपना सिद्धान्त स्थापित करते हैं; वे संसार समुद्र से कदाचित् पार नहीं हो सकते। "इसी भाव को लेकर आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने समयसार कलश" में कहा है :—

रागादिजन्मनि निमित्ततां।
पर-द्रव्यमेवकलयन्तियेतु ते ॥
ऊत्तरन्ति नहिंमोहवाहिनीं।
शुद्धबोधविधुरान्धवुद्धयः ॥

तात्पर्य यह है कि—जो लोग राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिकी उत्पत्तिमें सिर्फ पर-द्रव्य को ही निमित्त मानते हैं, आत्म-द्रव्य को बिलकुल ही भूल जाते हैं या उसे एकमात्र शुद्ध ही मानते हैं; वे मोह-रूप महानदी को कैसे पार कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते हैं। क्योंकि उन्हें शुद्ध आत्म-स्वरूप का ज्ञान या भान नहीं। अर्थात् वे नय विवक्षा के ज्ञान से सर्वथा अपरिचित हैं; तभी ऐसा मान बैठे हैं।

स्थान :—
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : ज्येष्ठ सुदी १५ सं० २०१५
ता० १-६-५८

ध्यान तप की उत्कृष्टता

संसार के कारण-रूप आर्तध्यान और रौद्रध्यान का वर्णन हम पहले कर चुके हैं; जिनमें अशुभ परिणति की ही प्रधानता है। दूसरे शब्दोंमें अशुभोपयोग ही का नाम आर्त-रौद्र-ध्यान है। इसी सिलसिले में यह भी कहा गया है कि—ये दोनों ध्यान अशुभ परिणति-मूलक होने से प्रत्येक संसारी प्राणी के पाये जाते हैं; उनमें इन्द्रियों की न्यूनाधिकता से न्यूनाधिकता भी पाई जाती हैं। जीवों के ज्यों-ज्यों इन्द्रियां बढ़ती जाती हैं त्यों-त्यों उनकी इन्द्रियजनित परिणति भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है; और वही ध्यान की वृद्धि का मूल कारण है। इस तरह से संज्ञी पंचेन्द्री मनवाले प्राणी के उक्त ध्यानों की उत्कृष्टता, जो मानसिक परिणति पर निर्भर है, पाई जाती है। वही प्राणी जब अशुभ परिणति का परित्याग करके शुभ परिणति में आता है, तब उसके सम्यग्दर्शन के साथ होनेवाला शुभोपयोग ही धर्म्य-ध्यान में परिगणित होता है। ऐसे धर्म्य-ध्यान के स्वरूप का भी भेदों सहित वर्णन हम पहले कर आये हैं। उसके चौथे भेद का वर्णन करना शेष रह गया था; जिसे कि अब हम यहां पर संक्षिप्त में वर्णन करते हैं।

संस्थान-विचय धर्म्य-ध्यान में उपर्युक्त जीव के पांच प्रकार की धारणायें पाई जाती हैं; जो कि ध्यान से सम्बन्धित हैं; अथवा यों कहिये कि—वे ध्यान की ही धारायें हैं—(१) पार्थिवी धारणा, (२) आग्नेयी धारणा, (३) वायवी धारणा, (४) वारुणी धारणा (५) तत्वरूपवती धारणा। *पार्थिवी धारणा*—इस धारणा में स्थित जीव यह विचार करता है कि—मध्यलोक के बराबर एक क्षीर-सागर है। उसके ठीक बीच में एक लाख योजन विस्तारवाले जम्बूद्वीप के बराबर हजार पत्रवाला एक कमल है, उस कमल के मध्य में एक लाख योजन की ऊँचाई में सुमेरु के समान एक कर्णिका है, उस कर्णिका के ठीक मध्य में शरद् पूर्णिमा के समान अत्यन्त स्वच्छ स्फटिक मणि का एक सिंहासन है। उसके ऊपर मैं ध्यानस्थ हूं। *आग्नेयी धारणा*—पार्थिवी धारणा में ध्यानस्थ आत्मा जब इस धारणा में आता है, तब सर्वप्रथम नाभि-स्थान में षोडश दलवाले कमल की कल्पना करता है; और उन कल्पित कमल-दलों में एक एक के ऊपर क्रमशः अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः—इन १६ अक्षरों की कल्पना करता है और मध्यमें ह इस बीजाक्षर की स्थापना करता है। तत्पश्चात् हृदय-स्थान में अष्ट पत्रवाले कमल की कल्पना करता है; और उनपर भी क्रमशः ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इन आठ कर्मों की काल्पनिक रचना करता है। पुनः ध्यान-रूपी अग्नि जो कि ऊपर मध्य में स्थापित हुये हं बीजाक्षर के रेफ से प्रकट होकर एक-एक कर्म को दग्ध करते हुये तिरछी व्याप्त होकर मेरे शरीर को भी दग्ध कर चुकी है; और मेरा शरीर भस्म-रूप में परिणत हो चुका है। *वायवी धारणा*—आकाश-मण्डल में घनघोर

वायुमण्डल चल रहा है; जो देव विमानों को भी चञ्चल करता हुआ देवसेना को भी भयभीत कर रहा है। उस वायुमण्डलसे बड़े-बड़े पहाड़ भी उड़ते हुये दिखाई दे रहे हैं, और उसीके द्वारा मेरे शरीर की भस्म भी तितर-वितर हो चुकी है। *वारुणी धारणा*—अनन्त आकाश में चारों ओर से मेघमण्डल छाया हुआ है, उसकी मूसलाधार वृष्टि से सारा भूमण्डल जलसे आप्लावित हो गया है; उसी जल-धारासे मेरे शरीर के अवशिष्ट भस्मकण भी धुल करके अभाव को प्राप्त हो गये हैं। इस तरहसे मेरा आत्मा पूर्ण स्वच्छ हो गया है। *तत्वरूपवती धारणा*—मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हूं। समवशरण में सिंहासन के ऊपर विराजमान हूं, चतुर्निकाय के देवों द्वारा नमस्कृत हूं; द्वादश सभाओं में उपस्थित देव, दानव, मानव, पशु, पक्षी आदि सबके द्वारा स्तुत और वन्दित हूं। उक्त पञ्च धारणायें पिंडस्थ ध्यान में स्थित ध्यानी के द्वारा कल्पित की गई है। उनकी कल्पना निरी कल्पना नहीं है; किन्तु उनका अपना एक विशेष महत्व है, जो ध्यानी को ध्यान के समय अपनी शुभ परिणति की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि में सहायक है।

उक्त धर्म्य-ध्यान के चतुर्थ भेद-संस्थान-विचय के भी आगम में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—ऐसे चार भेद पाये जाते हैं; जिनका विस्तार के साथ वर्णन 'श्री ज्ञानार्णव जी' से जानना चाहिए। यहां तो हम सिर्फ उनका संक्षेप में सारात्मक अंश दे रहे है, जिसे पाठक पढ़कर आत्म-विशुद्धि में अग्रसर हों; पूर्वोक्त पांच धारणायें पिण्डस्थ ध्यान के ही रूपान्तर हैं या उक्त धारणाओं का ही नाम पिण्डस्थ ध्यान है; आत्म-स्वरूप का चिन्तन करने का वह एक मार्ग है। विषय-कषायों से हटकर आत्म-स्वरूप के विचार में निमग्न होने का नाम ही *पिण्डस्थ-ध्यान* है। पदस्थ-ध्यान का अर्थ है—अरहन्त आदि पञ्च परमेष्ठियों के तथा चौबीस तीर्थङ्करों के वाचक पद, मन्त्र व वाक्य आदि में कहे हुए उन परमात्माओं के स्वरूप से अपने स्वरूप का मिलान करते हुए जो चिन्तन किया जाता है, वह *पदस्थ-ध्यान* है। इसमें मन्त्र, शास्त्रों के आधार पर विभिन्न प्रकार के परमेष्ठी वाचक मन्त्रों का जाप तथा उन मन्त्रों के जरिये अर्थात्मक चिन्तन करना भी पदस्थ-ध्यान है। इस ध्यान में भी परमात्मा के ध्यान-पूर्वक आत्म-ध्यान की मुख्यता है। क्योंकि जो सर्वप्रथम परमात्मा के स्वरूप को समझता है, वही अपने आत्मा के स्वरूप को भी जानता है। बिना परमात्मा के स्वरूप को समझे अपने आत्मा के स्वरूप का समझना नितान्त कठिन ही नहीं; प्रत्युत सर्वथा असम्भव है। अतः कहना पड़ता है कि जो आत्म-स्वरूप के जिज्ञासु हैं, उन्हें चाहिए कि—वे सर्वप्रथम अर्हन्त परमेष्ठी के स्वरूप को जानने का सुप्रयत्न करें; उनके स्वरूप को जानने पर तो जानकार को अपने स्वरूप का ज्ञान भी अवश्यम्भावी है। इसी बात को भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने 'प्रवचनसार' में स्फुट करते हुए लिखा है कि :—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहोविय तस्सजादिलयं ॥

भाव यह है कि जो मुमुक्षु या स्वरूप जिज्ञासु देवाधिदेव भगवान् अर्हन्त देव के स्वरूप को द्रव्य से, गुणों से और पर्यायों से जानता है, वह अपने आत्मा को भी द्रव्य से, गुणों से और पर्यायों से जानता है। ऐसे ज्ञाता आत्मा का अनादिकालिक पर में आत्मत्व का ज्ञान करानेवाला मिथ्यादर्शन मोह भी सर्वथा और सर्वदा के लिये विनाश को प्राप्त हो जाता है; और वह सच्चा आत्म-श्रद्धानी होकर कालान्तर में स्वयं ही अर्हन्त परमेष्ठी बन जाता है। यह अर्हन्त परमेष्ठी के विवेकपूर्वक ध्यान-चिन्तन करने का साक्षात् फल है; ऐसा विचार कर प्रत्येक विचारशील को उनके स्वरूप को जानने की कोशिश कर आत्म-स्वरूप को समझने की ओर ध्यान ध्यानपूर्वक देना चाहिए। यही पदस्थ-ध्यान का साक्षात् फल मुख्य उद्देश्य है; अन्य कोई सांसारिक पद पदार्थ को प्राप्त करने का नहीं है।

रूपस्थ-ध्यान में मुख्यतया अर्हन्त परमेष्ठी के स्वरूप का विचार किया जाता है। जिन्होंने अपने परम पुरुषार्थ से आत्म-स्वरूप के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—इन चार घातिया कर्मों को नाश कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य—ये अनन्त चतुष्टय प्राप्त कर अर्हन्त परमेष्ठी जैसी महान् विभूति को प्राप्त किया है, जो वास्तविक है, आत्मिक है; और है अविनश्वर। हां, तीर्थंकर प्रकृति के उदय विशेष से जो वाह्य में समवशरण की रचना इन्द्रादि देवों द्वारा की जाती है, वह सब कर्म-कृत होने से समय पर विघट जाती है, सो ठीक ही है; उसके विघटने का कारण मौजूद है। पर आत्मिक निधि का विघटना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है; क्योंकि वह कर्म क्षय से आत्मा के उपादान में कार्य-रूप से परिणत हुई है।

इसी बात को सैद्धान्तिक चक्रवर्ती, आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी महाराज ने 'द्रव्यसंग्रह' में स्पष्ट किया है :—

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईयो।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धोअरिहोविचिंतिज्जो॥

भावार्थ :—जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है; अतएव जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति से परिपूर्ण हैं। यह तो उनके वर्तमान पुरुषार्थ का फल है; जो एकमात्र आत्मा पर ही निर्भर है। इसके सिवा शुभ शरीर में स्थित—अर्थात् शुभ नाम-कर्म और शरीर नाम-कर्म के उदय पर आधारित परम औदारिक सप्त धातुओं से शून्य शरीर में जिनकी आत्मा स्थित है, जो स्फटिक रत्न के समान अत्यन्त स्वच्छ, निर्मल और पवित्र है। ऐसे आत्मा के अनुजीवी गुणों का घात करनेवाले कर्मों के घातक, विनाशक श्री अर्हन्त परम देवाधिदेव का निरन्तर ध्यान करो। तात्पर्य यह है कि—जब आत्माराधक मुनि धर्म्य-ध्यान से ऊँचे उठ कर शुद्धोपयोग-रूप ध्यान का आलम्बन लेकर कैवल्य अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं; तब उनका वही औदारिक शरीर जो छद्मस्थ अल्पज्ञ अवस्था में सप्त धातुमय था; वही परिपूर्ण केवलज्ञान अवस्था में सर्वधातु शून्य हो परम औदारिक

कहलाने लगता है। उसमें अब निगोद जीवों का निवास भी नहीं होता है, वह तो स्फटिक रत्न पाषाण जैसा निर्मल स्वच्छ हो जाता है। ऐसे पवित्रतम शरीर में स्थित श्री अरहन्त परम भट्टारक ही वास्तव में भट्टारक हैं; क्योंकि भट्टारक पद का अर्थ कर्म-शत्रुओं को जीतनेवाला महान आत्मा है। यह अर्थ श्री अरहन्त परमेष्ठी में सोलह आना घटित होना है; ऐसे अरहन्त परमेष्ठी के ध्यान की प्रेरणा करते हुए आचार्यश्री ने ध्यान का प्रत्यक्ष फल अरिहन्त होना प्रकट किया है; जो अक्षरशः सत्यास्पद है।

रूपस्थ-ध्यान में—रूप शब्द का अर्थ रूपवान् शरीर है, उसमें स्थित जो परमात्मा उनके ध्यान का नाम ही रूपस्थ-ध्यान है। इसमें उक्त प्रकार से श्री अरहन्त का ध्यान करते हुए यह भी ध्यान में लावे कि—मेरा आत्मा भी ऐसा ही है; शक्ति की अपेक्षा से। जैसा इन अरहन्त परमेष्ठी का आत्मा पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण दर्शनी, पूर्ण सुखी और पूर्ण शक्तिशाली है, वैसा ही मेरा आत्मा भी उनके बताये हुए मार्ग पर चल कर अपने ही पुरुषार्थ से पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण दर्शनी, पूर्ण सुखी और पूर्ण शक्ति सम्पन्न हो सकता है। क्योंकि मेरे आत्माके उपादानमें भी उन-उन गुणोंके रूपमें प्रकट होने की स्वाभाविकी शक्ति विद्यमान है। इसी अभिप्राय को ही हृदयंगम करते हुए आचार्यश्री 'पूज्यपाद स्वामी ने' सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए लिखा है कि :—

मोक्षमार्गस्यनेतारंभेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारंविश्वतत्त्वानां वन्दे तद्‌गुण लब्धये॥

अर्थात् मोक्षमार्ग के नेता (प्रवर्तक) कर्म-रूप महापर्वतों के भेत्ता (भेदक) समस्त तत्त्वों के ज्ञाता ज्ञायक महान परमात्मा को मैं उनके उक्त गुणों को (अपने आत्मा में जो शक्ति-रूप से विद्यमान हैं; उन्हें युक्त करने के लिये) प्राप्त करने के लिये वन्दना करता हूं।

यहां यह बात विशेष-रूप से ध्वनित होती है कि—नेता वही हो सकता है, जो स्वयं उस मार्ग पर चल कर अन्य मुमुक्षुओं को भी चलाता हो। यह विशेषण अर्हन्त भगवान् में पूर्णतया घटित होता है; वे सर्वप्रथम मोक्षमार्ग को जान कर स्वयं ही उसपर चले; और अन्य मोक्षाभिलाषिओं को भी उसी मार्ग पर उन्होंने चलाया। स्वयं भी अनन्त चतुष्टय से मण्डित हुए; और दूसरों को भी अनन्त चतुष्टय से मण्डित (विभूषित) कराया। अतएव आप को मोक्षमार्ग का नेता यह विशेषण देकर आपके उस गुण की प्रमुखता का दर्शन कराया है; और स्वयं भी उस रूप होने की आन्तरिक भावना व्यक्त की है। यह बात दीक्षा के काल को सूचित करती है; उस ओर ही मुमुक्षु महानुभावों को संकेत करती है कि—बिना जिन-मुद्रा निर्ग्रन्थ दिगम्बर अवस्था के मोक्षमार्ग नहीं हो सकता है; और बिना मार्ग को अपनाये मुक्ति-रूप लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः तीर्थंकर देव भी छद्मस्थ अवस्था में दिगम्बरी दीक्षा से दीक्षित होते हैं; जो मोक्षमार्ग का साक्षात् साधन है। उसके बिना सम्यक्त्व के होने पर भी सम्यग्ज्ञान की परि-पूर्णता, केवल ज्ञान की प्राप्ति तथा सम्यक्चारित्र यथाख्यात संयम की उपलब्धि नहीं हो सकती; और इन

दोनों के हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। अतः अर्हन्त पद के अभिलाषी तीर्थंकर देव ने सर्वप्रथम मोक्षमार्ग का नेता बनना ही श्रेयस्कर समझा, उसे जीवन में उतारा और उसका फल आत्म-गुण घातक कर्मों का भेदन करना-रूप उन्हें प्राप्त हुआ; और इसीलिये आचार्यश्री ने उक्त गुण का उल्लेख करते हुए उस गुण की प्राप्ति की हार्दिक उत्कटता प्रकट की है। इससे यह साफ तौर पर जाहिर होता है कि—आत्म-गुणों को संवरण करनेवाले कर्मों का संहार (भेदन) करने पर ही आत्मा में वह अखण्ड तेजोमय ज्ञान-ज्योति जागृत होती है। जिससे चराचर (जगत) के अनन्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं; ऐसा अनुपम ज्ञानमय अनन्त प्रकाश आप की आत्मा में उद्‌भूत हुआ है; अतएव आप विश्व तत्त्वों के परमार्थतः ज्ञाता हैं। यह गुण भी मेरी आत्मा में ज्ञानावरण कर्म से आवृत है; वह निरावरण अवस्था में आ जाय। इसी निर्मलतर भावना से प्रेरित हो आचार्य श्री ने उक्त मंगलाचरण में परिपूर्ण आत्मिक गुणों में से यद्यपि नामतः दो तीन का ही उच्चारण या निर्देश किया है, तथापि उन गुणों के साथ अविना-भाव सम्बन्ध रखनेवाले अनन्त गुणों का विकास, जो उनकी आत्मा में प्रकट हुआ है; उन सबके प्राप्त करने की बलवती भावना उन्होंने नमस्कार करते हुए भायी है। इस प्रकार से की गई अरहन्त भक्ति प्रशस्त राग-रूप होने से शुभोपयोगमय है और जो शुभोपयोग है, वह धर्म्य-ध्यान है। ऐसा धर्म्य-ध्यान रूपस्थ धर्म्य-ध्यान कहा जाता है। ऐसा धर्म्य-ध्यानी आगे चल कर शुक्ल-ध्यानी हो। उन्हीं अरहन्तों की श्रेणि में जाकर विराजमान होता है। यह है, रूपस्थ धर्म्य-ध्यान का सुफल जिसको प्राप्त करने का हमें सतत् उद्योग करते रहना चाहिए; इसी में हमारा हित निहित है।

रूपातीत धर्म्य-ध्यान—रूपातीत का अर्थ है—रूप-रहित, आकार-रहित, शरीर शून्य, अशरीरी-सिद्ध परमात्मा। उनका ध्यान करना ही रूपातीत धर्म्य-ध्यान है। इस ध्यान में सहज शुद्ध चैतन्यमय मूर्ति—निर्विकार, निराकार, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक स्वभाव, निष्कर्म, परमाचिन्त्यचिच्चमत्काराकार, लोकाग्रशिखरावास, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सिद्ध स्वरूप परमात्माओं के गुणों का ही प्रामुख्य है। जैसा कि—भगवान् नेमिचन्द्राचार्य के वचनों से जाहिर है :—

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओदट्ठा।
पुरिसायारोद्रट्ठा अप्पा सिद्धोझाएइ लोयसिहरत्थो॥

अर्थात् जिसने अनादिके आत्मा से सम्बद्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इन अष्ट कर्ममय शरीर को नष्ट कर दिया है; अतएव जो लोक-अलोक को जानने और देखने वाला है; और जिसका आकार अन्तिम शरीर के समान है। ऐसे लोकाग्र शिखर पर-सिद्धालय में विराजमान जो सिद्ध परमात्मा हैं उनका तुम सब ध्यान करो। यहां आचार्यश्री ने सिद्ध-पद को चाहनेवाले भव्य जीवों को सम्बोधन करते हुए सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान की प्रेरणा की है; जो अति ही कल्याणकारिणी है।

स्थान :— तिथि : आषाढ़ बदी १ सं० २०१५

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० २-६-५८

सिद्धत्व अधिकार में भी आचार्यश्री ने श्री सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि :—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणाचरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता॥

अर्थात् जो अष्ट कर्म-रहित हैं, अतएव सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, वीर्यत्व, निराबाधत्व—इन आठ गुणोंसे सहित हैं; और जिनके आत्म-प्रदेशों का आकार अन्तिम शरीर के आकार से कुछ कम है। और जो लोक के अग्रभाग अर्थात् तनुवातवलय में स्थित हैं, विराजमान हैं, तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य-रूप द्रव्य के लक्षण से लक्षित हैं—वे सिद्ध हैं, शुद्ध हैं, अविनाशी हैं, सच्चिदानन्दमय हैं, पूर्ण निर्विकार हैं। यह सिद्ध पर्याय में स्थित शुद्ध जीव का स्वरूप बतलाया गया है। इस स्वरूप के बतलाने का प्रयोजन अपने आत्मा के स्वरूप का ज्ञान कराना है—कि वस्तुतः मेरे स्वरूप में भी वही गुण हैं; जो सिद्ध परमेष्ठी की आत्मा में हैं। अन्तर केवल यही है कि—उनके गुण गुण-रूप में प्रकट हैं; जब कि मेरे गुण गुण-रूप में अप्रकट हैं; कर्मों से आच्छादित हैं। पर हैं, उतने ही जितने कि—सिद्ध भगवान् के हैं; न्यूनाधिक नहीं। दूसरी बात यह भी प्रकाश में आई कि—आत्मा स्वभावतः निष्कर्मा (कर्म-शून्य) है; उसके स्वभाव में कर्म नहीं हैं। यह ठीक है कि—आत्मा अनादितः कर्मों से बंधा हुआ है, पर वह एक पर्याय-विशेष है—जिसकी सन्तति अनादि से है; और अनन्तकाल पर्यन्त रहती है; किन्हीं अनन्त जीवों की अनन्तकाल पर्यन्त रह कर भी सत्पुरुषार्थ से नष्ट होकर अबद्ध शुद्ध पर्याय-रूप में अनन्तकाल तक रहती है; वह पर्याय जीव की शुद्ध-पर्याय सिद्ध है। बस उसी शुद्ध पर्याय को जो अभी अप्रकट है, प्रकट करने के लिये ही यहां आचार्य ने उसका हमें ज्ञान कराया है कि—हे संसारी आत्माओ! तुम्हारे स्वरूप में और सिद्धों के स्वरूप में जरा भी फर्क (अन्तर) नहीं है; अतएव तुम भी उसी स्वरूप को जाहिर करने का उद्यम करो। तुम्हारी वर्तमान पर्याय की अशुद्धि से ही तुम्हारी भी अशुद्धि हो रही है, यदि तुम अपने स्वरूप को ध्यान में रख कर उसे प्राप्त करने का उद्योग करोगे तो निःसन्देह वह स्वरूप भी तुम्हें प्राप्त हो जायगा। अष्ट गुणों के कहने का तात्पर्य यह है कि—कर्म मूलतः संख्या में आठ हैं; और उनके द्वारा क्रमशः आत्मा के मुख्य आठ गुणों का घात हो रहा है; अतएव उनके दूर होने पर वे अष्ट गुण अपने-आप ही प्रकट हो जाते हैं। शेष गुण गौण हैं; वे भी उनके प्रकट होने पर प्रकट हो जाते हैं; इसलिये आठ गुण अनन्त गुणों का उपलक्षण हैं। उन आठ गुणों की अभिव्यक्ति में शेष अनन्तानन्त गुणों की अभिव्यक्ति समझ लेनी चाहिए; चरम देह से कुछ कम आत्मा का आकार रहता है। इसका भाव यह है—जब भी आत्मा

कर्म-बन्धन से मुक्त होगा, तब किसी औदारिक चरम शरीर धारक मनुष्य के शरीर से ही होगा; अन्य के शरीरसे नहीं। तब उस अन्तिम शरीर में जो स्थान पोलवाले हैं, छिद्रान्तरवाले हैं। जैसे—कर्ण-विवर, नासिका-विवर, नाभि-विवर अंगुलियों के परस्पर में सटाने पर भी अन्तर रह जाता है; जिसे अंगुलि-छिद्र कहते हैं। इसी प्रकार से दोनों हाथों के लटकाने पर और बगल में उन्हें सटाने पर भी अन्तर बना रहता है, आदि रिक्त स्थानों की पूर्ति कैवल्य प्राप्त होने के पश्चात् सयोगी गुणस्थान के अन्त में हो जाती है। कारण कि—सयोग केवली गुणस्थान के अन्तिम समय में औदारिक अङ्गोपाङ्ग नाम-कर्म की उदय व्युच्छित्ति हो जाती है। अतएव शरीरस्थ अङ्गोपाङ्गों के रिक्त (पोल) स्थानों की पूर्ति आत्म-प्रदेशों द्वारा हो जाती है; ध्यान की अवस्था में हाथों और पादों की (पोल) भी भर जाती है। बस इसी उद्देश से कहा गया है कि—आत्मा सिद्ध अवस्था में अन्तिम मुक्त होनेके समय के शरीर से कुछ कम आकार वाला होता है। मुक्त होने पर लोक के अग्रभाग में अर्थात् तनुवातवलय में सिद्ध भगवान रहते हैं। इसका भाव यह है, जीव और पुद्गलों के गमन में सहकारी कारण धर्म-द्रव्य है और उपादान कारण जीव और पुद्गल स्वयं हैं और उनमें गमन करने की स्वाभाविकी शक्ति भी अनन्त है; परन्तु वाह्य में धर्म द्रव्य जहां तक है, वहां तक ही वे गमन करते है, आगे नहीं। इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता है कि जीव और पुद्गलों में भी वहां तक ही गमन करने की शक्ति है, आगे नहीं। नहीं, नहीं, उनमें तो प्रत्येक शक्ति अनन्त है, उसमें सान्तता का कथन करना उनकी अनन्तता का लोप करना है। अत: जीवों और पुद्गलों की स्वाभाविकी गतिशक्ति में भी धर्म द्रव्य की उपस्थिति उदासीन रूपसे स्वीकार करना आगम-सम्मत ही है। बिना धर्म द्रव्य के उनकी उक्त शक्ति का परिणमन क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरित होना-रूप क्रिया नहीं हो सकती। इसका यह मतलब नहीं है कि इस रूप से कर्ममुक्त सिद्ध जीव भी पराधीन ही रहे। नहीं, पराधीन तो तब कहलाते, जब कि परकी प्रेरणा से हठात्-जबरन कार्य करना पड़ता। यहां सिर्फ स्वयं ही एक समय में सात राजू ऊंची सिद्ध-शिला पर जाकर विराजमान होना है, उससे अधिक नहीं; और उससे अधिक उनका गमन होता ही नहीं है। क्योंकि सिद्धक्षेत्र, जो मनुष्यलोक के प्रमाण से पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाला है; अर्थात् मनुष्यलोक-(अढ़ाई द्वीप) में कहीं से भी जीव कर्मबन्धन से मुक्त हो सीधा एक समय में सात राजू ऊंचे सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जाता है। यहां कोई यह शंका कर सकता है कि बन्धनमुक्त जीव सीधा ऊपर ही क्यों जाता है नीचे या तिरछी दिशाओं में अथवा विदिशाओंमें क्यों नहीं जाता? तो इसका उत्तर यह है कि जीवका स्वभाव ऊर्ध्व गमन ही है। इस-लिये वह ऊपर ही जाता है, अन्यत्र नहीं। यदि जीव का स्वभाव ऊर्ध्व-गमन है तब तो सभी जीवोंको ऊपर ही जाना चाहिए। पर ऐसा देखा नहीं जाता है। संसारी जीव तो इससे विपरीत ही गमन करता है। इसका उत्तर यह है कि कर्मबद्ध संसारी जीव को तो कर्म के अनुसार ही गमन करना पड़ता है। आयु कर्म जिधर इसे ले जायगा, उधर ही इसे जाना पड़ेगा। इसकी गति तो उस चोर के समान है जो चोरी के अपराध में गिरफ्तार होकर कोतवाल के द्वारा बन्धन-बद्ध हो अपनी इच्छानुसार ले

जाया जाता है। वह जिधर ले जाना चाहें, उधर ही चोर को जाना पड़ता है। वैसे ही इस जीव को भी अपने द्वारा पूर्वोपार्जित आयु-कर्म के उदयानुसार ऊपर, नीचे, तिरछे, अगल बगल में जाना पड़ता है। उसे अपने द्वारा किये हुए कर्म का फल भोगना ही पड़ता है क्योंकि कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है, वह चाहे जैसा अच्छा और बुरा कर्म कर सकता है; परन्तु करने के बाद तो उसे उसका फल भोगना ही पड़ेगा; भोगने में उसकी स्वतन्त्रता नहीं है। ऐसा ही कर्ता-कर्म का सम्बन्ध है, क्योंकि उक्त प्रकार का कर्ता-कर्म का सम्बन्ध एक मात्र संसारी जीव के ही होता है, मुक्त के नहीं। अतः जीव का ऊर्ध्वगमन-स्वभाव कर्म के द्वारा आच्छादित है, इसलिये ही वह प्रकट नहीं हो पाता है। यदि मुक्त जीव का स्वभाव कर्म मुक्त होने से प्रकट हो जाता है; तो उसे स्वभावतः ऊपर चले जाना चाहिए। फिर तो उसे धर्म द्रव्य की भी सहायता नहीं लेनी चाहिए फिर वह धर्म द्रव्य की सहायता क्यों लेता है? तो इसका कुछ उत्तर तो हम ऊपर दे ही आये हैं। तो भी यहां कुछ और स्पष्टता के हेतु दिये देते हैं। बात यह है कि जीव तो अपने स्वभाव से ही ऊपर जाता है; परन्तु उदासीन निमित्त रूप से धर्म द्रव्य सारे लोकाकाश में अनादि से है और वह अपना कार्य करता ही रहता है, और अनन्तकाल तक करता रहेगा। यही उसका धर्म है, कर्तव्य है, स्वभाव है; उसका वह स्वभाव किसी भी प्रकार से छूट नहीं सकता। अतः वह इतर-द्रव्यों के समान मुक्त जीव द्रव्य को भी सहायक स्वयमेव बन जाता है। ऐसा ही उनका दोनों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है जो अत्याज्य है। दोनों ही द्रव्य अपने अपने कार्य में स्वयं ही कारण हैं; कोई किसी का प्रेरक नहीं है, सब अपने अपने स्वरूप में परिणमन कर रहे हैं और जहां तक जिसको जाने का होता है, वह वहां तक जाता है। जबरन कोई द्रव्य उसे नहीं ले जाता है और नहीं जाना चाहता है। तो कोई उसे चला नहीं सकता है, यह वस्तुस्थिति है; जो अपरिहार्य है। दूसरी बात यह भी है कि कर्म बन्धन से मुक्त होते ही वह मुक्त जीव एक समय में ही लोकाग्र शिखरपर ही पहुंच जाता है। क्योंकि उस जीव ने संसार अवस्था में अनन्तों बार यह भावना भायी थी कि मैं कब ऐसी शक्ति पाऊंगा कि जिससे मैं उस लोकाग्र शिखर पर जाकर विराजमान होऊं। जिसमें अनन्तानन्त सिद्ध भगवान विराजमान हैं। उसकी उक्त प्रकार की भावना जब सफलीभूत होती है, तब वह अनायास ही एक समय में ७ सात राजू लोकाग्र शिखर पर पहुंच जाता है। "यादृशीभावनायस्यसिद्धि र्भवति तादृशी" के अनुसार ही वह एक समय में उक्त स्थान पर पहुंचने की स्वाभाविकी शक्ति प्रकट कर लेता है जो सदा से उसमें अव्यक्त रूप से विद्यमान थी। एक समय के बाद वह शक्ति रूप में अनन्तकाल तक बराबर विद्यमान रहती है। उसका नाश कभी नहीं होता; वह स्वभावतः अविनश्वर है। हां, उसका प्रति समय परिणमन अवश्य ही होता रहता है। क्योंकि वह आत्मिक शक्ति गुण है। जो गुण होता है उसके परिणमन को ही पर्याय शब्द से कहा जाता है। तत्वार्थ सूत्रकार भगवान् उमा स्वामी महाराज ने मोक्षतत्त्व का निरूपण करते हुए लिखा है कि "तदनन्तर मूर्ध्वंगच्छत्यालोकान्तात्" अर्थात् कर्मबन्धन से विप्रमुक्त यानी सर्वथा छूटा हुआ जीव छूटते

ही ऊपर को जाता है; लोक के अन्ततक। लोकान्त से आगे क्यों नहीं जाता ? ऐसा प्रश्न होने पर उन्होंने सूत्र रूप से उत्तर दिया कि "धर्मास्तिकायाभावात्"। लोकान्त से आगे नहीं जाने का कारण धर्मास्तिकाय का न होना ही है। यह निमित्त की अपेक्षा से उत्तर दिया गया है। उपादान की अपेक्षा से नहीं। उपादान में तो वह शक्ति अनन्त है; किन्तु उसका कार्यात्मक परिणमन एक समय मात्र ही है, शेषमें वह उपादान रूपमें अनन्तकाल तक बना रहता है। ऐसा ही प्रत्यक्षदर्शी भगवान सर्वदर्शी सर्वज्ञदेव ने देखा है और जाना है और ऐसा ही दिव्य ध्वनि द्वारा निरूपण किया है। उक्त सूत्र में "ऊर्ध्वंगच्छति" इस वाक्य से स्वामीजी ने जीव के ऊर्ध्व गमन स्वभाव को प्रतिपादित किया है और उसकी पुष्टि के लिये निम्न प्रकार का सूत्र कहा है—

"आविद्धकुलालचक्र व द्व्ययगतलेपालावुवदे रण्डबीजवदग्निशिखावच्च" अर्थात् घुमाये हुए कुम्हार के चाक के समान, लेप रहित तुम्बी के समान, एरण्ड बीज के समान और अग्नि की शिखा के समान मुक्त जीव ऊपर को जाता है—लोकाग्र भाग तक। तात्पर्यार्थ यह है कि मिट्टी के बर्तनों का निर्माता कुम्भकार जब मिट्टी को चाकपर चढ़ाता है और उसे ठीक करके चाक को घुमाता है। घुमाने के बाद वह उसे छोड़ कर दूसरे बर्तन के बनाने में लग जाता है, तब वह चाक अपने वेग के अनुसार स्वयमेव ही घूमा करता है। वैसे ही आत्मा भी कर्म-बन्धन से छुटने के पश्चात् भी पूर्व संस्कारवश ऊपर को जाता है। अथवा जैसे मिट्टी के लेप से लिप्त तुम्बी पानी में डालने पर लेप के वजन (भार) से नीचे दबी (डूबी) रहती है; किन्तु जैसे-जैसे उसका लेप घुलता जाता है, वैसे-वैसे ही वह ऊपर को उठती आती है; और लेप पूर्ण-रूप से घुल जाने पर एक साथ ऊपर आकर तैरने लगती है, वैसे ही कर्म-लेप से मुक्त हुआ जीव भी ऊपर को ही जाता है। अथवा जैसे एरण्ड का बीज, बीजकोश से निकल कर ऊपर को ही उचट कर जाता है, वैसे ही कर्म-रूप बीजकोश से निकला हुआ जीव भी ऊपर को ही जाता है; इधर-उधर अगल-बगल में नहीं। अथवा (अग्नि-शिखा अग्नि की लौ) चारों दिशाओं से आनेवाली हवा के रुक जाने पर ऊपर को ही सीधी जाती है, वैसे ही चतुर्गति में घुमानेवाली कर्म-रूप हवा के रुक जाने पर, नाश हो जाने पर यह जीव भी ऊपर को ही जाता है, अन्यत्र नहीं। ऐसा ही इसका स्वभाव है; और इस स्वभाव का पूर्ण प्रकाश, विकास या साक्षात्कार मुक्त होने पर ही होता है, अन्यथा और अन्यदा नहीं। अगर कोई यह कहे कि – आत्मा तो असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश के बराबर है; जब वह कर्मों से बंधा हुआ था, तब तो वह कर्मोदय से प्राप्त शरीर के बराबर ही बना रहता था; किन्तु अब तो वह कर्मों से मुक्त (छूट चुका) है—ऐसी स्थिति में उसको पूरे लोकाकाश में व्याप्त होकर रहना चाहिए। तो इसके उत्तर में यही कहना पर्याप्त एवं उपयुक्त होगा कि—आत्मा-प्रदेशों की अपेक्षा लोकाकाश के बराबर है, अर्थात् लोकाकाश असंख्यात प्रदेशोंवाला है। वैसे ही प्रत्येक आत्मा भी है; परन्तु जैसे लोकाकाश सारे लोक में व्याप्त है, वैसा आत्मा अनादिकाल से अनन्तकाल तक कभी व्याप्त होकर नहीं रहा। वह तो अनादि से ही अपनी संकोच और विस्तार शक्ति के कारण

नाम-कर्म के उदयसे प्राप्त शरीर के प्रमाण ही रहा है। हां, जब तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोग केवली भगवान् की आयु-कर्म की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण रहती है; और शेष अघातिया कर्मों, वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मों की स्थिति आयु-कर्म की स्थिति से अधिक होती है, तब वे केवली जिनेन्द्र दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण—ये चार समुद्घात करते हैं; तब आत्मा लोकपूर्ण समुद्घात के समय में लोकपूर्ण, सारे लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी समय में ऐसी लोकपूर्ण स्थिति आत्मा की नहीं होती। इससे इतना तो दर्पण की तरह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा लोकाकाश के बराबर है; परन्तु वे भगवान लोकपूर्ण समुद्घात के पश्चात् पुनः क्रमशः आत्मा-प्रदेशों को प्रतर, कपाट और दण्ड-रूप करनेके बाद ही अपने परम औदारिक शरीरके प्रमाण कर लेते हैं। इसमें उन्हें कुल ८ (आठ) समय लगते हैं। इन आठ समयों के पहले और पीछे वे अपने ही शरीर के प्रमाण रहते हैं; अन्तर्मुहूर्त के बराबर जब सब अघातिया कर्मों की स्थिति हो जाती है, तब वे सूक्ष्म और बादर मनोयोग, वचन योग और बादर काय योग का निरोध कर सूक्ष्म काय-योग का आलम्बन करके सूक्ष्म-क्रिया प्रतिपाती नामक तीसरे शुक्ल-ध्यान को माड़ते है। यह सब कहने का भाव इतना ही है कि—केवली भगवान् का आत्मा ही लोकाकाश के बराबर होता है, अन्य का नहीं। और अन्य आत्मा भी नहीं; सो भी उक्त आठ समयों के अतिरिक्त समय में नहीं। अन्य समयों में तो उसे शरीर के प्रमाण ही रहना पड़ता है। शरीर सम्बन्ध का सर्वदा के लिये विच्छेद करनेवाले मुक्तात्मा का आकार भी उसी अन्तिम शरीर से कुछ कम रह जाता है। जैसा कि हम पहले सिद्ध भगवान् के स्वरूप के वर्णन में कह आये हैं कि—अनादि से शरीर-रूप बन्दीगृह में अनन्तकाल तक बद्ध रहा। आत्मा जिस शरीरसे मुक्त होता है, उससे कुछ कम आकार को ही अनन्तकाल तक रखता है, ऐसा ही वस्तु-स्वरूप है; और ऐसा भगवान् जिनेन्द्र देव ने अपनी दिव्य-वाणी से निरूपण किया है, जो निःसन्देह श्रद्धाके योग्य है। इस प्रकार से सिद्ध परमेष्ठी के अनेक विशेषणों का वर्णन कर चुकने के बाद अब हम "णिच्चाः (नित्या)" नित्य' विशेषण का अर्थ खुलासा करते हैं। वे अनन्तानन्त सिद्ध भगवान् नित्य हैं। अर्थात् अनन्तानन्त काल तक उसी सिद्ध पर्याय में रहेंगे; पुनः संसार में लौट कर नहीं आयेंगे; और वहां पर रहते हुए भी उनके स्वरूपमें कोई विकार नहीं होगा; वे पूर्ण अविकारी दशा में ही बने रहेंगे। इस विशेषण का एक दूसरा प्रयोजन भी है। वह है, सदाशिव मतवादियों के मत का निराकरण करना। सदाशिव मतवाले ऐसा मानते हैं कि—सिद्ध जीव सौ कल्पकाल बीत जाने के पश्चात् पुनः संसार में लौट आते हैं; उनकी उक्त मान्यता का खण्डन करने के हेतु ही 'णिच्चाः—नित्या' ऐसा विशेषण दिया है। जिसका अर्थ है—वे कभी भी इधर दुःख-सागर-रूप संसार-सागर में लौट कर नहीं आयेंगे; क्योंकि यहां पर आने का कोई भी कारण अब उनके पास शेष नहीं है; और अकारण कोई कार्य नहीं होता है, ऐसा नियम है। अन्तिम विशेषण है—"*उप्पादवयेहिंसंजुत्ता. उत्पादव्ययैःसंयुक्ताः*" अर्थात् जो उत्पाद-व्यय से सहित हैं।

तात्पर्य यह है कि—"सद्द्रव्यलक्षणं"—ऐसा सूत्र भगवान उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में कहा है। जिसका अर्थ है—सत्-द्रव्य का लक्षण है। अर्थात् जो द्रव्य होगा, वह नियम से सत् होगा; अर्थात् उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से सहित जो होता है; उसे सत् कहते हैं। ऐसा सत् ही द्रव्य का लक्षण है। जैसा कि 'तत्त्वार्थसूत्र' के कर्ता उन्हीं भगवान् उमास्वामी ने कहा है कि—उत्पाद-व्यय ध्रौव्य-युक्तं सत् अर्थात् जो नवीन पर्याय का उत्पन्न-होना-रूप उत्पाद और पूर्व-पर्याय का विनाश-होना-रूप व्यय से सहित होता है, उसे सत् कहते हैं। ऐसा सत हरेक द्रव्य में पाया जाता है; अतएव वह द्रव्य का लक्षण कहलाता है। यह लक्षण सिद्ध परमेष्ठियों में भी पाया जाता है; क्योंकि वे भी द्रव्य हैं। उनमें यह लक्षण दो प्रकार से घटित होता है—एक स्व-प्रत्यय से, दूसरा पर-प्रत्यय से। स्व-प्रत्यय से तो आगमोक्त अगुरु-लघु-गुण की षड्-गुण हानि-वृद्धि की अपेक्षा से; जैसे—अनन्त भाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि; संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि अनन्त गुण वृद्धि। यह अगुरु लघुत्व गुण की षड् गुण हानि वृद्धि की अपेक्षा से सिद्धों में प्रति समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-रूप द्रव्य का लक्षण बनता है। पर-प्रत्यय की अपेक्षा से जैसे—त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थों का प्रतिसमय जो परिणमन होता रहता है, वह सिद्धों के ज्ञान में भी उसी रूप में प्रतिबिम्बित होता रहता है। अतएव उन पदार्थों के परिणमन के साथ सिद्धों के ज्ञान में भी परिणमन होता है; यही पर-प्रत्यय-हेतुक उत्पाद-व्यय सिद्धों में बनता रहता है।

पूज्यपाद स्वामी ने सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करते हुए उनके स्वरूप की, उन्हें किस प्रकार से प्राप्ति हुई, इसका बड़े ही सुन्दर ढंग से संक्षेप में वर्णन किया है, वह यह है कि :—

येनात्माबुध्यतात्मैव परत्वनैव चापरम्।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः॥

अर्थ यह है कि जिसने आत्मा को (ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वान पदार्थ को) आत्मा रूप से और आत्मा से भिन्न पुद्गल तत्त्व को पुद्गल रूप से जाना, निश्चय किया। पश्चात् आत्म-स्वरूप को पूर्ण रूप से प्रकट करने के लिये शास्त्र-विहित मार्ग पर चलकर स्वयमेव अक्षय अनन्त ज्ञान को प्राप्त कर अन्य संसारी आत्माओं को भी परमात्मा बनने का मार्ग सुझाया, उन सिद्ध परमेष्ठी को हमारा नमस्कार है। यहां आचार्यश्री ने स्वयं सिद्ध होने की भावना भाई है और यह चाहा कि—हे सिद्ध भगवन्, प्रारम्भ में आपने जिस मार्ग को अपनाया वही मार्ग मुझे भी प्राप्त हो, जिससे कि मैं भी उस मार्ग पर चल कर आप जैसा निर्मल अविनश्वर मोक्ष पद प्राप्त कर सकूं।

स्थान : तिथि : आषाढ़ बदी २ सं० २०१५

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० ३-६-५८

यहाँ यह भी समझने का भाव प्रतिभासित होता है कि प्रत्येक भव्यात्मा को सबसे पहले अपने आत्मा को जानने का सत्प्रयत्न करना चाहिए। यही निश्चय मार्ग है, इससे यह साफ तौर पर जाहिर होता है कि वास्तव में निश्चय ही उपादेय है। मुख्यता से वही सेवनीय और संग्रहणीय है, बिना निश्चय के व्यवहार व्यवहार नहीं हो सकता है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर पण्डित प्रवर श्री दौलतरामजी ने भी छहढ़ाला में कहा है कि—

पर द्रव्यनतैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है।
आप रूपमें जानपनो सो सम्यक्ज्ञान कला है॥
आप रूप में लीन रहे थिर सम्यक् चारित्र सोई।
अब व्यवहार मोक्षमार्ग सुनिये हेतु नियत का होई॥

भाव यह है कि पर पदार्थों से अपने आत्मा को भिन्न (जुदा) श्रद्धान करना ही निश्चय सम्यग्दर्शन है। निश्चय सम्यग्दर्शन के होते हुए जो अपने आत्मा का पर से भिन्नता का निश्चयात्मक ज्ञान होता है वही सच्चा निश्चय सम्यग्ज्ञान है। और इन दोनों के रहते हुए जो आत्म-स्वरूप में तन्मयता या तल्लीनता है, वही निश्चय सम्यक् चारित्र है। इस तरह से निश्चय मोक्ष-मार्ग ही वास्तविक मोक्ष-मार्ग है, वही यथार्थ है। आश्रयणीय है। उसके पश्चात् उसका साधन-रूप व्यवहार मोक्ष-मार्ग भी सहायक-रूप से सेवनीय है। इस प्रकार से दोनों प्रकार के मोक्ष-मार्ग का मुमुक्षु-जनों को क्रमशः यथायोग्य रीति से समझ कर अपने आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए शास्त्रोक्त विधि से अपनाना चाहिए, तभी आत्म-कल्याण कर मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी। किसी एक को छोड़ने और किसी एक को अपनाने से नहीं हो सकेगी। ऐसा निश्चय कर दोनों को धारण करने में ही इष्ट सिद्धि है, अन्यथा नहीं। इसी बात को खुलासा करते हुए एक आचार्यश्री ने लिखा है कि—

मोक्ष हेतुः पुनर्द्वेधानिश्चयव्यवहारतः।
आद्यःसाध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्यसाधनम्॥

तात्पर्य यह है कि मोक्ष के हेतु, (कारण) दो हैं; एक निश्चय और दूसरा व्यवहार। उनमें पहला साध्य है, सिद्ध करने के योग्य है और दूसरा उसका साधन है; अर्थात् एक कार्य है और दूसरा कारण है। इससे यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है—कि निश्चय ही वास्तविक है, व्यवहार उसकी दृष्टि में

अवास्तविक है, अग्राह्य है; परन्तु निमित्त-रूप से—उदासीन-रूप से आश्रयणीय संसेवनीय, अवश्य है; क्योंकि उसके बिना निश्चय की उपलब्धि-(प्राप्ति) प्रायः असम्भव ही है। ऐसा जान कर एवं निर्णय कर दोनों को ग्रहण करना चाहिए। पूज्यपाद स्वामी का एक और नमस्कारात्मक श्लोक हम यहां दे रहे हैं, जो इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालता है। वह यह है—

यस्यस्वयंस्वभावाप्तिरभावेकृत्स्नकर्मणाम् ।
तस्मैसंज्ञानरूपाय नमोऽस्तुपरमात्मने ॥

तात्पर्यार्थ यह है कि जिसके स्वभावकी प्रगति, स्वभाव की प्राप्ति स्वयमेव अपने पुरुषार्थ से ही सभी कर्मोंके अभाव होनेपर हुई उस सम्यग्ज्ञान, केवल ज्ञान स्वरूप परमात्मा को मेरा नमस्कार है। यहां स्वयं शब्द का सम्बन्ध आत्म-स्वभाव की प्राप्ति में और समस्त कर्म-समुदाय के अभाव में लगाने से यह अर्थ निकलता है कि—आत्मा अपने पुरुषार्थ से ही निज-स्वभाव को प्राप्त करता है; और कर्म भी अपने पुरुषार्थ-उपादान से अभाव-आत्मा से जुदाई को प्राप्त करती हैं। अर्थात् उनकी कर्मत्व दशा भी अपने ही उपादान से ही अभाव-आत्मा से जुदाई को प्राप्त करती हैं। अर्थात् उनकी कर्मत्व दशा भी अपने ही उपादान से अभाव को प्राप्त होती है। दोनों ही अपने-अपने विषय में पूर्ण स्वतन्त्र हैं, निश्चय की दृष्टि में कोई किसी के अधीन नहीं है। सब अपने-अपने में ही परिणमन कर रहे हैं, कोई किसी अन्य में नहीं। ऐसा ही निश्चय निश्चित सिद्धान्त है, इसमें जरा-सा भी अन्तर नहीं हो सकता है। यहां पर भी आचार्य महाराज ने निश्चय-प्रधान वर्णन करते हुए उसी के ऊपर जोर दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। यह प्रतीति भी सचाई से खाली नहीं है; किन्तु हमें पूर्ण वस्तु-स्वभाव को समझने की ओर संकेत करती है, जिसके समझने से हमारा महान् लाभ हो सकता है। इस तत्त्व को समझाने के लिये ही आचार्यों ने महान् से महान् शास्त्रों की रचना की है; और उनसे हमें भारी से भारी प्रकाश मिला है; परन्तु उस प्रकाश में रह कर हमें जो लाभ लेना चाहिए, वह हमने नहीं लिया है; यह हमारा ही दुर्भाग्य है। अब समय रहते हुए हमें चेत जाना चाहिए, इसी में हमारी भलाई है कि हम वस्तु-स्थिति को समझें।

उन्हीं आचार्य श्री नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक चक्रवर्ती ने 'श्री गोम्मटसार जीव काण्ड' में गुणस्थानातीत, सिद्ध-परमेष्ठियों के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि :—

अट्ठविह कम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणाणिच्चा ।
अट्ठगुणा-किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणोसिद्धा ॥

अर्थ यह है कि—जो ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के द्रव्य कर्मों से सर्वथा रहित हैं; अतएव जो अनन्त आत्मिक सुख-शान्ति को प्राप्त हैं। और जो मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय-रूप कर्म-बन्ध के कारणों से बिलकुल शून्य हैं; नित्य हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरु-लघुत्व – इन आठ गुणोंसे सहित हैं; कृत-कृत्य हैं। अर्थात् अब जिन्हें कुछ भी कार्य करना शेष नहीं रहा है; और जो लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं, वे सिद्ध हैं।

तात्पर्यार्थ यह है कि—जो पूरी तरह से आत्मा के स्वरूप को शास्त्रोक्त मार्ग पर चल कर साध चुके हैं, वे सिद्ध हैं। उनके सिद्ध-पद प्राप्त करने पर जो मुख्य आठ गुण प्रकट होते हैं, वे संसार-अवस्था में भी शक्ति-रूप में थे, व्यक्त नहीं थे; और उनके व्यक्त न होने में बाह्य कारण ज्ञानावरणादि आठ कर्म थे, जो बाह्य आत्मा से भिन्न (पृथक्) सत्ता रखनेवाले कर्म-पुद्गल परमाणुओं से बने थे; और जिनके कर्म-रूप बनने में आभ्यन्तर कारण आत्मा के अतत्त्व-श्रद्धान, अनात्माचरण, असावधानता, क्रोधादि विकारी-भाव थे। दोनों प्रकार के कर्म-समुदाय का समूलोच्छेद करने पर ही वे प्रधान गुण उन सिद्ध आत्माओं में प्रकाशित हुए हैं, उनके साथ ही साथ और भी अनन्त आत्मिक गुण उनकी आत्मा में पूर्ण स्वच्छता को लिये हुए प्रकट हो चुके हैं। अतएव वे सिद्ध परमेष्ठी अनन्तानन्त आत्मिक गुणों से मण्डित हैं; और उसी रूप में अनन्तानन्तकाल पर्यन्त अखण्डित-रूप में रहेंगे; उनमें जरा भी कोई भी, विकार नहीं होगा; क्योंकि विकार के कोई भी कारण अब उनकी आत्मा में सत्ता-रूप से नहीं हैं। दूसरी बात यह भी है कि—उक्त गाथा में जो सात विशेषण दिये गये हैं, उनके अलग-अलग सात प्रयोजन हैं। जिनका उल्लेख नीचे की गाथा में किया है, वह गाथा यह है :—

सदशिव संखोमक्कडिबुद्धोणेयाइयोयवेसेसी।
ईसरमंडलि दंसणविदूसणट्ठं कयं एदं॥

अर्थात्—सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक वैशेषिक-कर्तृवादी ईश्वर को कर्ता मानने-वाले, मण्डली—इन सात प्रकार के मतवादियों के मत का खण्डन करने की दृष्टि को लक्ष्य में रख कर ही आचार्य ने उक्त सात विशेषणों का निर्देश उक्त गाथा में किया है। अब कौन क्या मानता है, इसका संक्षेप में दो श्लोकों द्वारा स्पष्टीकरण किया जाता है :—

सदाशिवः सदाऽकर्मा सांख्योमुक्तं सुखोज्झितं।
मस्करीकिलमुक्तानां मन्यतेपुनरागतिम्॥
क्षणिकं निर्गुणंचैव बुद्धो यौगश्च मन्यते।
कृतकृत्यं तमीशानो मण्डलीचोर्ध्वगामिनाम्॥

तात्पर्य यह है कि—सदाशिव मतानुयायी आत्मा को सदा (हमेशा) कर्मों से रहित मानते हैं। उनके मत का निरसन करने के लिये *अट्ठविहकम्मवियला*—आठ प्रकार के कर्मों से रहित—यह विशेषण दिया है। जबतक आत्मा आठ प्रकारके कर्मों का नाश नहीं करता है, तबतक वह कर्म सहित होने से शिव-मोक्ष-स्वरूप नहीं है। सांख्य मतानुसारी कहते हैं कि—बन्ध, मोक्ष, सुख, दुःख आदि सब प्रकृति को होते हैं, पुरुष को नहीं। उनकी उक्त मान्यता का खण्डन करने के लिये *सीदीभूदा-सुखमय-परम शान्तिमय*—यह विशेषण दिया है, अर्थात् पुरुष स्वभावतः अनन्त सुख सत्ता का आधार है। कर्म-बन्धन से मुक्त होने पर वह पूर्ण स्वाभाविक सुख का साक्षात्कार करने का अनुभव करने का अधिकारी हो जाता है। मस्करी मतवाले, मुक्त जीवों का पुनः संसार में लौटना मानते हैं। उनकी यह मान्यता निर्मूल है, इसको प्रकट करने के उद्देश्य से ही *णिरंजणा* यह विशेषण दिया है। अर्थात् जो संसार के कारणीभूत-द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के कर्मों से रहित हैं; वे फिर संसार में लौट कर कैसे आ सकते हैं ? अर्थात् नहीं आ सकते। बौद्धों का मत है कि—सभी पदार्थ क्षणिक है; क्षण-क्षण में नाश हो जाने-वाले हैं; उनकी इस क्षणिकता का निरसन करने के लिये ही *णिच्चा-नित्याः*-'नित्य'—ऐसा विशेषण दिया है, जिसका अर्थ है कि—सिद्ध-परमेष्ठी नित्य है; उनका कभी नाश नहीं होता है। नैयायिक और वैशेषिक मतवाले कहते हैं कि—मोक्ष में पहुंचे हुए जीवों के बुद्धि आदि विशेष गुणों का नाश हो जाता है। उनकी उस प्रकार की कल्पना को दूर करने के लिये ही *अट्ठगुणा अष्टगुणाः*—ज्ञानादि आठ गुणवाले सिद्ध होते हैं, वे निर्गुण नहीं हैं। और जो ईश्वर को कर्ता माननेवाले हैं, वे ईश्वर कर्तृत्ववादी हैं। उनके मत का निराकरण करने के लिये *किदकिच्चा-कृतकृत्याः-कृतकृत्य*—सब कुछ कर चुके, अब जिन्हें कुछ भी करना बाकी नहीं रहा है; ऐसा विशेषण दिया है। मण्डली मतवाले यह मानते हैं कि—मुक्त जीव सदा ऊपर को ही गमन करते रहते हैं; कभी ठहरते नहीं। उनके उक्त मत का निराकरण करने के लिये *लोयग्गणिवासिणो-लोकाग्रनिवासिनः*—लोक के अग्रभाग पर निवास करनेवाले; अर्थात् वहां पर ही स्थिरता के साथ अनन्तकाल पर्यन्त रहनेवाले सिद्ध-परमात्मा हैं। इस प्रकार से विभिन्न प्रकार के मतों का खण्डन करने के साथ ही अबाधित सिद्धान्त का समर्थन करने के लिये ही सिद्ध भगवान् के स्वरूप के साथ उक्त प्रकार के विशेषणों का प्रतिपादन करके आचार्य ने यथार्थ वस्तु-स्वरूप का सयुक्तिक वर्णन करके हमें यथार्थ पदार्थ का ज्ञान कराया है; जो हमें निःसन्देह सुपथ पर ले जाने में समर्थ है। अर्थात् रूपातीत-ध्यान में सिद्ध परमात्मा के ध्यान की, उनके सच्चे गुणों का चिन्तन किया जाता है, मनोनिग्रह (मन) को विषय-कषाय की ओर न जाने देने में कारण हैं; और साथ ही आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में असाधारण कारण है, ऐसा समझ कर आत्मार्थियों को उस ओर अग्रसर होना चाहिए।

नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक चक्रवर्ती ने ध्यान करने की रीति को बतलाते हुए लिखा है :—

माझुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठ अत्थेसु ।
थिर मिच्छह जइ चित्तंविचित्तझाणप्पसिद्धीये ॥

अर्थात्—हे भव्य प्राणियो ! यदि तुम नाना प्रकार के ध्यनों को सिद्ध करना चाहते हो तो इष्ट (प्रिय) पदार्थ के साथ मोह मत करो; अनुराग, स्नेह (प्रेम) मत करो; अनिष्ट अप्रिय अहितकर पदार्थों से द्वेष (बैर) या घृणा मत करो; किन्तु दोनों प्रकार के पदार्थों से राग और द्वेष का त्याग करके स्थिरचित्त बनो; चित्त के स्थिर होने पर ही ध्यान की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। यहां पर ध्यान की सिद्धि में मन की स्थिरता (एकाग्रता) नाना चिन्ताओं का निरोध मुख्य कार्य है। क्योंकि मन में जो तरह-तरह के विकल्प प्रतिसमय उत्पन्न होते रहते हैं, उनसे मन चञ्चल होता है; और चञ्चल मन ही इस जीव को इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में भटका देता है; जिससे आत्म-स्वरूप का साधक ध्यान नहीं हो सकता है। अतएव आचार्य महाराज ने सर्वप्रथम मन को काबू में करने का उपदेश दिया है। मन के चञ्चल विषय-कषायों से हटकर आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने की ओर लगने पर ही ध्यान हो सकता है। ऐसा समझ कर प्रत्येक ध्यानार्थी को अपने मन को स्थिर या निश्चल करने के लिये निम्न प्रकार के मन्त्रों का जाप करना चाहिए :—

पण तीस सोल छप्पण चदु दुगमेगंचजवहझायेह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णंच गुरूवयेसेण ॥

अर्थात्—पैंतीस अक्षर, सोलह अक्षर, छः अक्षर, पञ्च अक्षर, चार अक्षर, दो अक्षर, एक अक्षरवाले मन्त्रों का जाप करो। जो पञ्च-परमेष्ठियों में से किसी भी परमेष्ठी के या पांचों परमेष्ठी के वाचक हों, अथवा और भी इसी प्रकार के मन्त्र हों, जो सद्गुरुओं द्वारा उपदिष्ट हुए हों, उन सबका यथाशक्ति ध्यान या जाप करना चाहिए। ऐसे ध्यान या जाप से जो मन में निर्मलता आती है, वह विशेष पुण्यास्रव में कारण होती है, और पूर्व सञ्चित पाप का नाश कर देती है; या उस पाप को पुण्य-रूप में परिणत कर देती है। कहने का मतलब यह है कि—जो जीव पाप से बचना चाहते हैं, और पुण्य में जाना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे जाप और ध्यान में तत्पर हों।

अब हम ऊपर कहे हुए अक्षरों की संख्यावाले कुछ मन्त्रों को यहां जाप या ध्यान के हेतु दे रहे हैं। ३५ अक्षरवाला मन्त्र—

णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहूणं ॥

१६ अक्षर का मन्त्र—अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः। ६ अक्षर का मन्त्र—अरहन्त सिद्ध। ५ अक्षर का मन्त्र—अ सि आ उ सा। ४ अक्षर का मन्त्र—अरहन्त। २ अक्षर का मन्त्र—सिद्ध, ओं ह्रीं। १ अक्षर का मन्त्र—ओं-ओम् ॐ यहां एक अक्षर का जो 'ओम्' मन्त्र है, वह पञ्च-परमेष्ठियों के स्वरूप का वाचक है। जैसा कि—नीचे की गाथा से स्पष्ट होता है :—

अरहन्ता असरीरा आइरिया तह उवज्झयामुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारोपंचपरमेट्ठी॥

अर्थात्—अरहन्तों का अ; अशरीर (सिद्धों) का अ; आइरिय (आचार्यों) का आ; उवज्झया (उपाध्यों) का उ; और मुणिणो (मुनियों) का म्। ये प्रत्येक परमेष्ठी के नामाक्षरों में से आदि के अक्षर हैं। जिनके परस्पर मेल से ओम् बना है, वह इस प्रकार है। अ-अ आ—इन तीनों का आपस में मेल होने पर एक आ बनता है, उसका 'उकार' के साथ मेल करने पर 'ओ' बनता है, इसका 'म' कारके साथ सम्बन्ध होने पर 'ओम्' ऐसा रूप बनता है; जिसका अर्थ पञ्चपरमेष्ठी है। अर्थात् ओम् का जाप या ध्यान करने से अरहन्तादि पांचों परमेष्ठियों का जाप या ध्यान होता है; जो विशेष-रूप से पुण्यार्जन में कारण है। हम ऊपर ॐ के तीन रूप दर्शा आये हैं, वे वास्तव में शास्त्र-निरूपित हैं; उनमें ओं; ओम ये दो रूप तो परस्पर में सन्धि करने पर बने हैं। जैसा कि—हम ऊपर लिख आये हैं। ॐ यह बीजाक्षर है, जो उन दोनों के समान पञ्च-परमेष्ठी का वाचक है। इस प्रकार से भावों को निर्मल बनाने के लिये, आत्मिक बल को बढ़ाने के लिये तमाम सांसारिक (घर-गृहस्थी) की झंझटों से छुटकारा पाने के लिये निराकुलता के साथ उक्त मन्त्रों में से किसी भी मन्त्र का आश्रय ग्रहण करके मन को स्थिर बना कर शान्ति के साथ जपना या ध्यान करना चाहिए; क्योंकि मन्त्र का जाप या ध्यान आत्म-स्वरूप को जागृत करने में आद्य कारण है। विषय-कषाय की ओर से मनोवृत्ति को हटा कर आत्म-स्वरूप में केन्द्रित करनेवाला है, आत्मा को निर्विकल्पक दशा में पहुंचानेवाला, ध्यान ही है। जैसा कि—उन्हीं आचार्य श्रीनेमिचन्द्रजी महाराज ने कहा है कि :—

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंत्तहकिंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इयमेव परं हवे झाणं॥

अर्थात् हे भव्यजीवो! यदि तुम लोग स्थिरता के साथ आत्म-स्वरूप में मग्न होना चाहते हो तो शरीर से किसी भी प्रकार की चेष्टा मत करो, वचन से भी कुछ मत जपो, और मन से भी कुछ विचार मत करो; किन्तु आत्मा को अपने आत्मा के स्वरूप में ही निमग्न करो, यही उत्कृष्ट ध्यान है। ऐसे ध्यान को निर्विकल्प-ध्यान कहते हैं। यह निर्विकल्प-ध्यान शुद्धोपयोग- रूप है, जो आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है और चौदहवें गुणस्थान में पूर्णता को प्राप्त करता है।

स्थान : तिथि : आषाढ़ बदी ३ सं० २०१५

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० ४-६-५८

ध्यान के हेतुओं का वर्णन करते हुए एक आचार्य ने कहा है :—

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषहजयाश्चेति पञ्चैतेध्यानहेतवः॥

अर्थात्—वैराग्य, तत्त्वज्ञान, निर्ग्रन्थता (दिगम्बरत्व) समचित्तता, और परीषहजय ये पांच ध्यान के कारण हैं। यहा आचार्य ने ध्यान के कारणों का नामोल्लेख किया है, जिनमें प्रथम वैराग्य को लिखा है। वैराग्य का अर्थ विरक्तता है—अर्थात् राग का मूल कारण शरीर है, शरीर से ही राग का प्रारम्भ होता है। जब बच्चा माता के गर्भ में आता है, तभी से उसकी वृत्ति अपने शरीर को बनाने और बढ़ाने की ओर शुरू होती है; इसलिये वह शरीर पर्याप्ति के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। माता के द्वारा भुक्त (खाये हुए) अन्नादि को भी अपने शरीर की अभिवृद्धि के हेतु ग्रहण करता है। यह क्रिया उसकी साधारण तौर पर नौ महीने तक बराबर जारी रहती है; और जब वह नौ महीने पूर्ण कर जन्म लेता है यानी माता के उदर से बाहिर आता है, तभी से माता के स्तनों से दुग्ध का पान कर-करके अपने शरीर को बढ़ाता है, पुष्ट करता है। ज्यों-ज्यों वह अपने शरीर को बढ़ाता है, त्यों-त्यों अपने जीवन के कारणभूत आयु-कर्म को घटाता जाता है; यह सिलसिला उसका मरण पर्यन्त बराबर चलता रहता है। वही शिशु जब शिशु अवस्था से बढ़ कर बालक अवस्था में आता है, तब उसकी उस शरीर को हृष्ट-पुष्ट करने के हेतु दुग्ध के सिवा अन्य अन्नादि खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय पदार्थों के भक्षण की ओर प्रवृत्ति होने लगती है। उस समय उसे यह ज्ञान नहीं होता है कि कौन वस्तु भक्ष्य है; और कौन अभक्ष्य है। उसे तो अपनी भूख और प्यास बुझाने की धुन सवार रहती है, उस धुन में अन्धा हुआ, वह अच्छे और बुरे का विचार न करता हुआ एकमात्र उदर-पूर्ति में ही दत्तचित्त रहता है, जो शरीर पुष्टि में कारण है। यह शरीर सम्बन्धी राग जिस किसी योनि में जीव जाता है, उसके साथ-साथ चला जाता है। यह इस संसारी जीवधारी की अनादि की आदत है; इसी आदत के कारण ही इस जीव को इस संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्तकाल बीत गया है, और यदि यही हालत रही, तो भविष्य में भी अनन्तकाल बीतेगा; यह कोई असम्भव बात नहीं है। हां, जो जीव इस शरीर की अशुचिता का, अपवित्रता का, इसकी मूल उत्पत्ति का विचार करेगा, वह जीव निःसन्देह इस शरीरसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने का सफल प्रयास करेगा। वह इस सप्त धातुमय शरीर के स्वरूप का, उसकी वर्तमान-दशा का, उसकी समय-समय पर होनेवाली अवस्थाओं का, हालतों का जब विचार करेगा; तब उसे इससे घृणा, (नफरत) ग्लानि हुए बिना न रहेगी। इसके भीतरी भाग पर जब दृष्टि जायगी, तब तो वह जीव क्षण भर के लिये भी इस शरीर में रहने की इच्छा नहीं करेगा। वह तो यही चाहेगा कि—जितनी जल्दी हो

सके, उतनी जल्दी मैं इस शरीर से अपना पिण्ड हमेशा के लिये छुड़ा लूं। ऐसे अपावन शरीर में मेरा एक पल भर रहना भी मेरे लिये महान् दुःखदायी है। 'समाधिमरण' मे भी यही बताया है कि :—

यह तन सात कुधातमयी है, देखत ही घिन आवै।
चर्म लपेटी ऊपर सोहै, भीतर विष्ठा पावै॥
यह तन जीर्ण कुटीसम आतम, यातैं नेह न कीजै।
नूतन महल मिलै जब भाई, तब यामें क्या छीजै॥

हे आत्मन! यह शरीर जिसमें तू रह रहा है, इसका भीतरी भाग अत्यन्त घृणित (अपवित्र) सात धातुओं से भरा हुआ है, जिसके देखते ही बड़ी घृणा आती है, इसके भीतर मल ही मल समा रहा है, ऊपर का चमड़ा ही उसे ढाके हुए हैं; जिससे वह वीभत्स (भयावना) भाग दिखाई नहीं देता। इस चमड़े की सुन्दरता ने ही इस जीव को लुभा रखा है, जिससे यह जीव उसकी भीतरी हालत को नहीं देख पाता है; अतएव विरक्त भी नहीं हो पाता है। यदि कदाचित् इसका भीतरी हिस्सा इस जीव को देखने को मिल जाय तो यह नियम से विरक्त हो जाय। ऐसे जीर्ण शीर्ण झोपड़ी के समान इस नश्वर शरीर से हे जीव! तू नेह मत कर। जब तुझे इस सड़े-गले, मैले-कुचैले शरीर से मोह त्यागने पर सुन्दर से सुन्दर सप्त धातु से रहित अत्यन्त सुगन्धित शरीर मिल सकता है, तब इसमें रीझने से तुझे क्या लाभ है? ऐसा समाधिमरण के सुअवसर पर जीव को सावधान करते हुए, जीव को शरीर से ममत्व त्यागने के लिये उपदेश दिया जा रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि—संसार का मूल कारण शरीर-नेह है; और वैराग्य का मूल कारण शरीर के स्वरूप का चिन्तन है; और वैराग्य मोक्ष का मूल है। ऐसा समझ कर संसार-बन्धन से मुक्त होने की इच्छा करनेवालों को अपने अन्तर-आत्मा में विरक्ति का भाव (वैराग्य) उत्पन्न करने के लिये शरीर के स्वरूप का विचार अवश्य ही करना चाहिए।

'तत्त्वार्थसूत्र' में भगवान् उमास्वामी महाराज ने भी यही कहा है :—

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्।

संवेग और वैराग्य के लिये जगत् और शरीर के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। अर्थात् संसार की दशा का विचार करने से संवेग (संसार) से भय (भीति) और शरीर के स्वरूप का विचार करने से उससे अरुचि उदासीनता (वैराग्य) पैदा होती है।

अतएव आचार्यश्री ने शरीर के स्वरूप के चिन्तन की ओर लक्ष्य दिलाया है। शरीर के स्वरूप का विचार करने से वैराग्य का अंकुर उद्भूत होता है। वह अंकुर जब बढ़ कर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, तबही इस आत्मा में ध्यान करने की प्रबल भावना जाग उठती है; जो साक्षात् मोक्ष

का कारण है। वैराग्य के बाद तत्त्व विज्ञान का होना जरूरी है, तत्त्व विज्ञान का अर्थ है—वस्तु स्वरूप का यथार्थ सच्चा निर्णय। उसमें भी आत्म-निश्चय मुख्य है। कारण कि—आत्म-निश्चय हुए बिना आगे की सीढ़ी चढ़ना बहुत ही कठिन है। इसके लिये उसे 'आभीक्ष्ण्य ज्ञानोपयोग भावना' को अपना लक्ष्य-केन्द्र बनाना पड़ेगा। निरन्तर ज्ञान की तरफ उपयोग-ध्यान होने से आत्मा सांसारिक झंझटों से पृथक् (जुदा) होता जाता है, जिससे उसे निज-स्वरूप के निर्णय करने की बड़ी भारी सुविधा (सरलता) आ जाती है। बिना तत्त्व निर्णय किये संसार-सन्ताप का शमन करना बहुत ही कठिन एवं दुर्लभ है। इसी बात को 'राजवार्तिककार' ने एक जगह लिखा है कि—*ऋतेतत्त्वज्ञानान्नमुक्तिः* बिना तत्त्व ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती। तत्त्व ज्ञान में यद्यपि जीव तत्त्व की प्रधानता है, तथापि गौणता से अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इनका भी समझना जरूरी ही है— क्योंकि इन्हें परमागम में प्रयोजनीभूत तत्त्व माना है, इन सातों में दुनिया के तमाम तत्त्वों का समावेश हो जाता। उनमें जीव और अजीव ये दो स्वतन्त्र तत्त्व हैं। जिनमें एक (प्रथम) जीव तो चैतन्य धर्मात्मक तत्त्व है, जो सच्चिदानन्दमय है। सत्-उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यमय है; और चित्-चैतन्य-ज्ञानदर्शन-स्वरूप है; और आनन्द-सुख-निराकुल परिणति से परिपूर्ण है। शेष अजीव-तत्त्व सत् तो है, उत्पाद-व्यय ध्रौव्य-रूपतो हैं ही; परन्तु अन्य दो धर्म चित् और आनन्दमय नहीं है। वे दो धर्म खास कर जीव में ही पाये जाते हैं। जीव और अजीव इन दोनों के सम्बन्ध से ही आस्रव-तत्त्व तैयार होता है। उसमें भी दो विभाग हैं—एक भावास्रव, दूसरा द्रव्यास्रव। भावास्रव में जीवके राग-द्वेष, मोह, काम, क्रोध, लोभ आदि भाव हैं, जिनके कारण से कर्म आते हैं, वे भावास्रव कहे जाते हैं और पौद्गलिक कार्मण वर्गणाओं का आना ही द्रव्यास्रव है। इसी तरह से आत्मा के जिन भावों से कर्म बंधते हैं, वे भाव-बन्ध हैं; और जो कार्मण वर्गणायें आत्मा से बंधती हैं; वे द्रव्य बन्ध हैं। आत्मा के जिन भावों से कर्मों का आना रुक जाता है, वे भाव संवर है; और कर्मों का नहीं आना द्रव्य संवर है। आत्मा के जिन भावों से कर्मों का एक-देश जीर्ण आत्मा से पृथक् हो जाता है, उसे भाव-निर्जरा और पौद्गलिक कर्मों का एकदेश पृथक् होना द्रव्य निर्जरा है। भाव कर्मों का सर्वदा के लिये आत्मा से, आत्मा के भावों से पृथक्, (जुदा) हो जाना भाव मोक्ष है; पौद्गलिक कर्मों के पृथक् (जुदे) होने को ही द्रव्य मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार से सप्त तत्त्वके स्वरूप का जानना ही तत्त्व-विज्ञान है। तत्त्व विज्ञान के पश्चात् नैर्ग्रन्थ्य है। नैर्ग्रन्थ्य का अर्थ है—जिनमुद्रा-नग्न दिगम्बरत्व-अचेलकत्व। यह वह मुद्रा है, जिसके बिना मोक्ष का प्राप्त करना नितान्त असाध्य है। इस मुद्रा में अट्ठाईस मूल गुणों का निर्दोष पालन करने की प्रमुखता है। इस मुद्रा में बाल के अग्रभाग प्रमाण भी परिग्रह नहीं होता है; यह तो रही बाह्य परिग्रह की बात। अन्तरङ्ग परिग्रह में तो प्रायः सारा मोहनीय कर्म आ जाता है; जिसका परित्याग करना जिन-मुद्राधारी के लिये नितान्त आवश्यक है। यद्यपि यह बात जिन-मुद्रा की चरम सीमा में ही होती है; प्रारम्भ में नहीं; प्रारम्भ में तो अन्तरंग परिग्रह के चौदह भेद ही बताये गये हैं, जिनका त्याग करना अत्यावश्यक है।

स्थान :— तिथि : आषाढ़ बदी ४ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० ५-६-५८

उनमें मिथ्यात्व परिग्रह ही प्रमुख है, उसके होने पर ही शेष परिग्रह—परिग्रह कहे जाते हैं; क्योंकि मिथ्यात्व परिग्रह ही संसार का मूल है। उसका नाश होने पर तो शेष परिग्रह जड़रहित वृक्ष के समान हैं। जो बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जानेवाले हैं। अतएव वे परिग्रह होते हुए भी शीघ्रातिशीघ्र नाश हो जानेवाले हैं; ऐसा समझ कर ही उन्हें नहीं के बराबर कह दिया गया है, अन्य कोई दूसरा तात्पर्य नहीं है। निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र-रूप, निश्चय मोक्षमार्ग तथा इसके साधनभूत व्यवहार मोक्षमार्ग का साधन करते हैं; इसलिये ही उन्हें साधु कहते हैं। ऐसे साधु की जो आत्म-निष्ठा है, वही साधुता है। वह साधुता ध्यान में कारण है। बिना उक्त साधुता के उत्कृष्ट मोक्षोपयोगी-ध्यान का होना नितान्त असम्भव है; इसी अभिप्राय से ही आचार्यश्री ने ध्यान के हेतुओं में इसे रखा है।

समचित्तता—सुख में, दुःख में, मित्र में, शत्रु में, बन्धु में, योग में, वियोग में, भवन में, वन में, हानि में, लाभ में, यश में, अपयश में, आदर में, अनादर में, सुवर्ण में, लोहे में, चांदी में, पीतल में, रत्न में, कांच में, महल में, मशान में, प्रशंसा में, निन्दा में, मान में, अपमान में, गुण में, दोष में, स्वजन में, परजन में, सज्जन में, दुर्जन में जो समानता का भाव रखते हैं; अर्थात् उनमें राग द्वेष नहीं करते हैं; वे समता-प्रधान पुरुष हैं। ऐसे महापुरुष ही ध्यान के अधिकारी हैं। लेकिन यह समता यदि मिथ्यात्व के साथ होगी तो उस समतासे आत्मा को कोई लाभ नहीं। भले ही उस समतासे इस लोकमें कुछ मान-मर्यादा, पूजा; प्रतिष्ठा, ख्याति आदि प्राप्त हो जांय, और परलोक में, उत्तम गति में जन्महो जाय, और वहां भी इन्द्रियों के भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थ भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो जांय, तो भी उनसे कोई आत्मिक उन्नति नहीं हो सकती। आत्मिक उन्नति तो तभी होगी जब कि आत्मामें जैसे—रथ हाथियों से; घोड़ागाड़ी घोड़ों से और बैलगाड़ी बैलों से चलाई जाती है; उनमें चलाने की चीज जड़ है, अचेतन है; और चलानेवाले चेतन हैं—वैसे ही यह शरीर स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवान पौद्गलिक है, अचेतन है; और चेतन जीव के द्वारा ही वहन किया जाता है। इसका वहन करनेवाला आत्मा तो स्वभावतः स्वच्छ है, पवित्र है, निर्मल है, निर्विकार है; परन्तु दुर्गन्धित, अशुचि, अपवित्र, मलपुञ्ज, घृणित, विनश्वर, सन्तापजनक, असुहावने शरीर के सम्पर्क से ही स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी अशुद्ध (विकारी) बन रहा है। इसकी निर्विकारता तो तभी निखरेगी, प्रकट होगी, जब यह जीवात्मा शरीर के स्वभाव का विचार करेगा।

यह जीवात्मा तो उस शुक (तोते) के समान है, जो पिंजड़े में पड़ी हुई नलिनी को पकड़ कर नीचे की ओर लटक रहा है और समझता है कि—हाय! मुझे किसी नलिनी ने पकड़ रखा है। नलिनी

तो जड़ है, अचेतन है, नासमझ है; वह तो किसी को पकड़ती-धकड़ती नहीं है। परन्तु यह अज्ञानी मूढ़ शुक (तोता) ऐसा ही मान बैठा है; और दुःखी होता है, यदि वह चाहे तो अपनी नासमझ छोड़ कर बन्धन-मुक्त हो सकता है; और दुःख की सन्तति से पार पा सकता है। ठीक वैसे ही यह आत्मा अज्ञान के कारण ही इस शरीर को अपना मान रहा है। शरीर तो नहीं कहता है कि तू मुझे अपना मान, वह तो विचारा अचेतन है, अज्ञानी है, वह क्योंकर ऐसा कहेगा ? परन्तु यह मूढ़ मोही अज्ञानी आत्मा अपने ज्ञान-स्वरूप को भूला हुआ है। अतएव शरीर में ही अपनापन मान कर सतत् दुःख की सन्तति को भोगता आ रहा है। इस शरीर की रचना नाम-कर्म का फल है, जीवन आयु-कर्म का फल है, ऊँचता और नीचता गोत्र-कर्म के कार्य है, सुख-दुःख सब साता और असाता वेदनीय के कार्य हैं। ये चारों ही कर्म अघातिया हैं; इनके कार्यों को यह अज्ञानी अपने मानता है। इसलिये ही इसका चतुर्गति-संसार सदा से चला आ रहा है। यदि यह जीवात्मा इनको अपना न माने तो ये नहीं कहते हैं कि तुम हमें अपना मानो। पर इसकी इनको अपना मानने की अनादि की लत (आदत) पड़ी हुई है। यदि यह चाहे तो अपनी इस आदत को छोड़ कर शाश्वतिक आत्मिक सुख का भागी बन सकता है; लेकिन इसकी दशा तो उस बन्दर के समान हो रही है। जो चने के घड़े में हाथ डाल कर मुट्ठी को बाँध कर बैठा हुआ रो रहा है; और कह रहा है कि हाय रे हाय ! मेरे हाथ को तो किसी ने भीतर ही भीतर पकड़ रखा है, अब तो मैं मरा। बस, यही दशा इस मोही संसारी प्राणधारी की बन रही है।

शरीर के स्वरूप का वर्णन करते हुए-तत्त्व-ज्ञान-तरंगिणी-में उसके कर्त्ता श्रीज्ञानभूषण भट्टारक ने लिखा है कि :—

दुर्गन्धंमलभाजनं कुविधिनानिष्पादितंधातुभि ।
रंगंतस्य जनैर्निजार्थमखिलैराख्याधृतास्वेच्छया ॥
तस्याः किं स्तुतिवर्णनेनसततं किं निन्दनेनैवच ।
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहोतत्त्वतः ॥

अर्थात्—यह शरीर दुर्गन्धमय है, विष्ठा मूत्र आदि मलों का घर है। निन्दित कर्म की कृपा से मल-मज्जा आदि धातुओंसे बना है। तथापि मूढ़, मोही, अज्ञानी मनुष्योंने अपनेस्वार्थ की सिद्धि एवं पुष्टि के लिये इच्छानुसार इसकी खूब प्रशंसा की है। परन्तु मुझे इस शरीर की प्रशंसा और निन्दा से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि मैं निश्चय नयसे शरीर-कर्म और उनसे उत्पन्न हुए विविध विकारों से रहित शुद्ध चिद्रूप हूं। तात्पर्य यह है कि—यदि शरीर मेरा या मेरे समान होता तो मुझे इसकी प्रशंसा व निन्दा करनी पड़ती; सो तो है नहीं। क्योंकि यह महा अपवित्र है, जड़ है; और मैं शुद्ध चिद्रूप हूं। इसलिये कभी इसकी मेरे साथ समानता नहीं हो सकती। इसलिये मुझे इसकी प्रशंसा व निन्दा से कोई लाभ नहीं है। आगे वे लिखते हैं कि :—

कीर्ति वा पररंजनं स्वविषयं केचिन्निजं जीवितं ।
सन्तानं च परिग्रहं भयमपि, ज्ञानं तथा दर्शनं ॥
अन्यस्याखिलवस्तुनोरुगयुतिं तद्धेतुमुद्दिश्यच ।
कुर्युः कर्मविमोहिनोहि सुधियश्चिद्रूप लब्ध्यैपरम् ॥

तात्पर्य यह है कि—इस संसार में बहुत से मोही अज्ञानी मनुष्य कीर्ति (यश) के लिये काम कर रहे हैं। अनेक दूसरों को प्रसन्न करने लिये, इन्द्रियों के विषयों को प्राप्त करने के लिये, बहुत से अपने जीवन की रक्षा के लिये, कोई सन्तान-पुत्र आदि के लिये, कोई परिग्रह, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि चेतन रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, रत्न आदि अचेतन वस्तु के लिये; कोई ज्ञान, दर्शन आदि के लिये; कोई रोग आदि अहितकर वस्तुओं के अभाव के लिये कार्य करते है। परन्तु विवेकी ज्ञानी जीव सिर्फ अपने शुद्ध चैतन्यमय आत्मा को ही प्राप्त करने के लिये उद्योग करते हैं; उनका आत्मा के सिवा अन्य किसी पदार्थ को प्राप्त करने की ओर ध्यान नहीं रहता है। वे आत्मा के स्वरूप को ही जागृत करने में अपने कर्तव्य की परिसमाप्ति मानते हैं। जब कि अन्य मोही विभिन्न प्रकार के मानव, विविध प्रयोजनों को लेकर नाना प्रकार के कार्यों को करते हैं। जिनसे इसलोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी कार्यों की सिद्धि यथा-सम्भव होती हुई देखी जाती है; उनसे तो संसार ही बनता है, और बढ़ता है, उनसे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। आत्मिक लाभ तो तब हो, जब आत्मा को जाने, समझे; और उसे शुद्ध-स्वरूप में लाने का प्रयत्न करे। यह तभी हो सकता है, जब यह मोही मोह से निकले।

'आत्मानुशासन' में श्रीगुणभद्राचार्य ने लिखा है कि :—

शमबोधवृत्त तपसां पाषाणस्यैव गौरवं पुंसः ।
पूज्यं महामणेखि तदेव सम्यक्त्व संयुक्तम् ॥

अर्थात्—शम, शान्ति, क्षमा, बोध, शास्त्रज्ञान, वृत्त, एकदेश या सर्वथा पञ्च पापों का त्याग-रूप चारित्र और अनशन, ऊनोदर आदि तपश्चरण यदि मिथ्यात्वके साथ होंगे तो वे उस पाषाण (पत्थर) के समान भारी वजनदार होंगे, जिसकी कीमत नहीं के समान है। अर्थात् वे सब आत्मा के लिये भार-स्वरूप होंगे; उनसे आत्मा को कोई विशेष लाभ यानी मोक्ष की प्राप्ति में सहायता नहीं मिल सकती। उनसे तो संसार की ही कोई विभूति हाथ लग सकती है, जो अनन्तों बार इस जीव ने प्राप्त की है; और जो कर्मानुसार फल देकर नाश को प्राप्त हुई। ऐसी नश्वर क्षणिक विभूति से आत्मा को क्या लाभ ? हां, यदि वे शम आदि सम्यक्त्व के साथ हों तो महामणि (बहुमूल्य) रत्न के समान आदरणीय और भवभञ्जनमें कारण हो सकते हैं। जैसे महारत्न के मिलनेपर दरिद्रता का विनाश होकर महान् सम्पत्ति की प्राप्ति होती है; वैसे ही सम्यक्त्व के साथ शम, बोध, वृत्त आदि संसार के संहार में कारण होकर

परमाचिन्त्य अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी के प्राप्त करने में कारण हो सकते हैं। इसलिये सम्यक्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न सबसे प्रथम होना चाहिए।

परीषह-जय—क्षुधा, तृषा आदि कष्ट को यथार्थ वस्तु-स्वरूप के बल से सहन करना, पूर्व जन्म में जो कर्म जिस रूप से इस जीव के द्वारा अर्जन किये गये, वे जब उदय में आकर अपना अच्छा या बुरा फल देने लगते हैं। तब वही सम भाव प्रधान सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु मुनि उन कर्म-कृत सुफलों या दुष्फलों को समता भाव के साथ बड़ी ही वीरता से सहन करता है। जिसका साक्षात् फल तो ध्यान की उत्कृष्टता का लाभ है, और उस ध्यान का प्रत्यक्ष फल तद्भव मुक्ति की प्राप्ति है, ऐसा समझ कर ही परीषह-जय को ध्यान में हेतु माना गया है। सैद्धान्तिक चक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्य ने भी ध्यान की प्राप्ति में तप, श्रुत और व्रत इन तीनों के परिपालन का उपदेश दिया है। वे कहते हैं कि :-

तव सुद वदवं चेदा झाण रह धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीयेसदाहोह ॥

अर्थात्—ध्यान-रूप रथ की धुरा को धारण करने में समर्थ तप, श्रुत और व्रतवान आत्मा है। इसलिये उस ध्यान को प्राप्त करने के या धारण करने के लिये, हे भव्यात्माओ! तुम निरन्तर उन तप, श्रुत और व्रतों के पालन करने में संलग्न रहो। तात्पर्य यह है कि—ध्यान एक अद्वितीय असाधारण एवं अनुपम रथ है। जिसमें बैठ कर मुमुक्षु प्राणी शीघ्र ही संसार-बन्धन का मोचन कर यानी अनादिकाल के कर्म-रूप महान् शत्रुओं पर विजय कर हमेशा के लिये अविनाशी सुख-सत्ता, अवबोध एवं चैतन्यमय अनन्तानन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड-स्वरूप सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है। जैसे वीर योद्धा किसी समर्थ वे-रुकावट गतिवाले श्रेष्ठतम रथ पर आरूढ़ हो समरस्थलमें असंख्य योद्धाओं को पछाड़ कर वीर-लक्ष्मी का स्वामी बनता है; वैसे ही कर्म-शत्रुओं पर विजय को चाहनेवाला वीर सेनानी आत्म-ध्यानी आत्मध्यान-रूप महान् रथ पर चढ़ कर उन अनन्त कर्म-शत्रुओं पर पूर्ण विजय को पाकर मुक्ति लक्ष्मी के द्वारा स्वयमेव ही पति-रूप से अंगीकार कर लिया जाता है; जिनका परास्त होना एकमात्र आत्म-ध्यान-रूप रथ से ही सम्भव है। उस आत्म-ध्यानात्मक रथ पर आरूढ़ होने के लिये सर्वप्रथम अशुभ क्रियाओं का त्याग और शुभ क्रियाओं का पालन-रूप व्रत (शास्त्रों) का स्वाध्याय करके श्रुत ज्ञान का बढ़ाना-रूप श्रुत और अनशन आदि बाह्य तथा प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तपों का आचरण-रूप तप -ये तीन हर हालत में होना ही चाहिए। बिना इनके मन का एकाग्र करनाब हुत ही कठिन है, और मन की एकाग्रताके बिना आत्म-स्वरूप का चिन्तन-रूप ध्यान का होना सर्वथा असम्भव है। अतएव उक्त तीनों में निरत होने के लिये आचार्य ने प्रेरणा की है। वे तप, श्रुत और व्रत आत्मध्यान रूप रथ पर आरोहण करने के लिये तीन सोपान (सीढ़ियां) हैं। जैसे बिना सीढ़ियों की सहायता के

किसी ऊँचे रथ पर नहीं चढ़ा जा सकता है, वैसे ही ध्यान-रूप रथ पर भी बिना व्रत, श्रुत और तप-रूप सीढ़ियों की सहायता के नहीं चढ़ा जा सकता है। अतएव ध्यानाभिलाषियों को उनका धारण और पालन अवश्य ही करना चाहिए।

यहां कोई यह कहे कि—व्रतों का पालन करना तो शुभ क्रिया-रूप है, और जो शुभ क्रियायें हैं वे सब मुख्यता से पुण्यास्रव में कारण मानी गई हैं। अतएव उनसे तो पुण्य कर्मों का आस्रव एवं बन्ध होगा, जो संसार ही का कारण है। और जो संसार का कारण है, वह हेय है, छोड़ने योग्य है। अतएव उसे पालन करने का उपदेश देना संसार को बनाये रखने का उपदेश देना है। ऐसी कुतर्क करना ठीक नहीं हैं; क्योंकि यहां तो पाप क्रियाओं के त्याग को प्रधानता देकर पुण्य क्रियाओं के पालन में लगाना है, और जो पुण्य क्रियाओं के पालन में लगेगा वह स्वयं ही उन्हें त्याज्य (छोड़ने योग्य) समझ कर उनका त्याग कर के शुद्धोपयोगी बनेगा। जबतक उसकी आत्मा में शुद्धोपयोग-रूप परिणति को प्राप्त करने की शक्ति व्यक्त नहीं हुई है, तभी तक ही उसका शुभोपयोग में रहना है। ज्योंही वह शुद्धोपयोग को, अपनी आत्मा में अपने ही प्रबल पुरुषार्थ से प्रकट करने की सामर्थ्य सञ्चित कर लेता है, त्योंही वह शुभोपयोग से हट कर शुद्धोपयोग में स्थिर हो जाता है। उसका शुभोपयोगमें रहना मात्र शुद्धोपयोग को प्राप्त करने के लिये ही है, क्योंकि बिना शुभोपयोग को अपनाये शुद्धोपयोग में युगपत् एक साथ पहुंचना सम्भव नहीं है। पूर्वकाल में जितने भी महापुरुष निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, वे सब अशुभोपयोग का परित्याग कर शुभोपयोगी बने, और पश्चात् उसका भी पिण्ड छोड़ कर शुद्धोपयोगी बन मुक्ति को प्राप्त हुए। ऐसा ही क्रमिक वर्णन शास्त्रों में पढ़ने को मिलता है। रही तप और श्रुत की बात। सो तप और श्रुत—ये दोनों तप ही हैं; और जो तप है, वह संवर और निर्जरा का कारण है। और जो संवर एवं निर्जरा का कारण है, वह मोक्ष का कारण है। उनमें भी ध्यान नाम का तप तो साक्षात् मोक्ष का कारण है। इसलिये ही आचार्य ने ध्यान के अभ्यास की ओर विशेष रूप से प्रेरणा की है।

अब तो कुछ लोग यह भी कहने लगे हैं कि—इस कलिकाल पञ्चमकाल में तो ध्यान हो ही नहीं सकता; क्योंकि इस काल में ध्यान के योग्य संहनन ही नहीं है। सो उनका उक्त कथन शुक्लध्यान की अपेक्षा से तो ठीक ही है, क्योंकि पञ्चमकालमें इस भरतक्षेत्रमें ऊपर के तीन उत्तम संहनन नहीं होते। शेष के तीन संहनन तो होते हैं; और उनमें धर्म्यध्यान का कहीं पर भी निषेध नहीं है। अर्थात् धर्म्यध्यान पञ्चमकाल में भी हो सकता है। गुणस्थानों में सातवां गुणस्थान अप्रमत्त विरत जो धर्म्यध्यान के लिये भी निश्चित किया गया है, हो सकता है।

और ऐसा ही भगवान् कुन्दकुन्दस्वामी ने षट् पाहुड़ में लिखा है कि :—

भरहे दुस्समकालेधम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्प सहावठ्ठिये णहु मण्णदि सोदु अण्णाणी॥

अर्थात्—इस भरतक्षेत्र में पञ्चमकाल में ज्ञानी के धर्म्यध्यान हो सकता है। उस धर्म्यध्यान को जो आत्म-स्वभाव में स्थित नहीं मानता है; वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है।

अर्थात्—जो पञ्चमकाल में और भरतक्षेत्र में रहनेवाले जीवों के सर्वथा धर्म्यध्यान का निषेध करते हैं, वे अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं; उन्हें आत्म-स्वरूप की खबर नहीं है। वे यह नहीं जानते कि—इस कलिकाल पञ्चमकाल में भी आत्मार्थी पुरुषों के प्रबल पुरुषार्थ से धर्म्यध्यान हो सकता है— ऐसा 'परमागम' में कहा गया है, जो सम्यग्दृष्टि के सर्वथा मान्य है।

'षट् पाहुड' में तो एक जगह यह भी लिखा है कि—आज इस पञ्चमकाल में इसी भरतक्षेत्र में रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र) से पवित्र आत्माएँ आत्मध्यान के प्रभाव से इन्द्र-पद को अथवा लौकान्तिक-देव-पद को प्राप्त कर के और वहां से आयु पूर्ण कर के मनुष्य का भव धारण करके उसी भव से ही निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। इस विवेचन से उन लोगों की यह शंका दूर हो जानी चाहिए कि इस पञ्चमकाल में इस क्षेत्र से जब मोक्ष का मिलना ही कठिन है, तब मुनि होने से क्या लाभ है ? उन्हें नीचे लिखी हुई गाथा से अपना समाधान कर लेना चाहिए :—

स्थान — तिथि : आषाढ़ बदी ५ सं० २०१५

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। — ता० ६-६-५८

अज्जवितिरयण सुद्धा अप्पाझाऊण लहइ इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुदाणिव्वुदिं जंति॥

अर्थात्—आज भी सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र-रूप रत्नत्रय से शुद्ध निर्मल आत्मायें अपना ध्यान कर के इन्द्र पद को अथवा लौकान्तिक देव पद को पाकर और वहां से च्युत होकर मनुष्य भव को प्राप्त कर उसी भव से मोक्ष जा सकती हैं। ऐसा समझ कर मोक्षमार्ग का निषेध नहीं करना चाहिए; किन्तु भरतक्षेत्र में पञ्चमकाल में जन्मे हुए जीव उस क्षेत्र से उस काल में मोक्ष नहीं जा सकते। परन्तु मोक्ष-मार्ग पर चल कर के तीसरे भव में अवश्य ही मोक्ष जा सकते हैं। यदि वे इन्द्र या लौकान्तिक देव हो जांय तो, इससे यह साफ तौर से जाहिर है कि—पंचमकाल में भी मोक्षमार्ग का साधन हो सकता है, और इसीलिये पंचमकाल के अन्त तक मोक्षमार्गी मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध संघ पाया जायगा;ऐसा आगम में लिखा गया है। इस प्रकार से मोक्ष का परम्परा साधन-रूप धर्म्यध्यान इस काल में भी हो सकता है। यह शास्त्र-सम्मत विवेचन है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं होना चाहिए। अब रही यह बात कि—जब इस कालमें द्वादशाङ्ग श्रुतका ज्ञान नहीं हो सकता है,तब ध्यान भी नहीं हो सकता; सो यह कहना भी शास्त्र-सम्मत नहीं कहा जा सकता, जैसा कि हम ऊपर स्पष्टकर आये हैं कि इस काल में धर्म्यध्यानके होने में कोई बाधा नहीं है, और धर्म्यध्यान के होने में यह आवश्यक नहीं है कि द्वादशाङ्ग

श्रुत का ज्ञान होना ही चाहिए। धर्म्यध्यान तो पंच समिति और तीन गुप्ति-रूप अष्ट प्रवचन माताओं के ज्ञान से भी हो सकता है। द्वादशांग श्रुत की जो बात कही गई है। वह शुक्लध्यान-शुद्धोपयोग-रूप ध्यान के लिये कही गई है; न कि धर्म्यध्यान की मुख्यता से। इतनी व्याख्या का सारांश इतना ही है कि धर्म्यध्यान इस काल और इस क्षेत्र में भी सम्भव है, और उसका फल साक्षात् तो नहीं; परन्तु परम्परा मोक्ष अवश्य ही है। ऐसा दृढ़ निश्चय करके प्रत्येक मुमुक्षु मानव को उसमें अग्रसर होने में निःसङ्कोच, निःसन्देह प्रवृत्ति करनी चाहिए, चूकना नहीं चाहिए; इसी में मानव जन्म की सफलता है।

उस शुद्धोपयोग-रूप ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं। शुक्लका अर्थ है—स्वच्छ, श्वेत जिसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं है; एकमात्र वीतराग (निर्दोष) दशा का ही जिसमें चिन्तन होता है। यहाँ दशा से तात्पर्य केवल पर्याय ही नहीं है; किन्तु पर्यायवान द्रव्य और उसके गुण—ये सभी विवक्षित हैं। उस शुक्लध्यान के आगम में चार भेद बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) पृथकत्व वितर्क वीचार, (२) एकत्व वितर्क अवीचार, (३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती, (४) व्युपरत क्रिया निवर्त्ति। इनमें प्रथम पृथकत्व वितर्क विचार नामक शुक्लध्यान का स्वरूप यह है कि—जिसमें द्रव्य-गुण और पर्याय की पृथकता के साथ भाव श्रुतज्ञानके बलसे या स्वानुभूति के द्वारा आत्मा के स्वरूप को तर्क-वितर्क ऊहापोहपूर्वक आत्म-द्रव्य का, उसके किसी गुण का, उसके गुण की किसी पर्याय का, किसी शास्त्र के वचन का, कभी काययोग का आश्रय लेकर, तो कभी वचनयोग का आश्रय लेकर, तो कभी मनोयोग का आश्रय लेकर आत्मा के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, वह पृथक्त्व-वितर्क वीचार नाम का शुक्ल-ध्यान कहलाता है। इसमें द्रव्य से द्रव्यान्तर; वचन से वचनान्तर; योग से योगान्तर की प्रधानता से, आत्म-स्वरूप के चिन्तन की मुख्यता रहती है। बाह्य पदार्थ में इष्ट-अनिष्ट कल्पना का सर्वथा अभाव रहता है, ध्याता की आत्मिक वृत्ति ही इसमें प्रमुख है। वाह्य वृत्ति भी यदा-कदा होती है; परन्तु वह इच्छापूर्वक नहीं होती है। अर्थात् उस वृत्ति में रागांश या द्वेषांश नहीं होता है; किन्तु आत्म-स्वरूप के वेदन, अनुभवन और स्थिरीकरण में ध्याता निमग्न रहता है। यह ध्यान गुणस्थानों की अपेक्षा से आठवें, नवमें, दशवें और ग्यारहवें—इन चार गुणस्थानों में होता है, आगे नहीं।

दूसरे एकत्व-वितर्क अवीचार नामक शुक्लध्यानमें स्थित ध्याता शुद्ध आत्म-द्रव्य का, या उसके शुद्ध स्वसंवेदन-रूप ज्ञान गुण का, या उसकी शुद्ध पर्याय का अपने भाव श्रुत ज्ञान के द्वारा चिन्तन करता है। ऐसा चिन्तक अन्तर्मुहूर्त में अनादिकाल से आत्माके साथ संयुक्त ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का समूल विनाश करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त शक्ति-रूप अनन्त चतुष्टय से मण्डित अर्हन्त परमेष्ठी बन जाता है; जिसे आगम में सकल परमात्मा शब्द से भी कहा जाता है। वे सकल परमात्मा सर्वज्ञ देव आर्य क्षेत्र में देश-देशान्तरों में विहार का दिव्य-ध्वनि द्वारा मोक्षमार्ग का

कारणभूत सप्त तत्व, नव-पदार्थ, पदार्थ का उपदेश करते हैं; जिसे सुन कर बहुत से भव्य-जीव तो तत्काल ही नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण कर घोर तपश्चरण द्वारा निर्वाण (सिद्ध-पद) को प्राप्त करते हैं।

कोई भव्य मुमुक्षु अपनी शक्ति के अनुसार अणुव्रतों को धारण करते हैं, कोई भव्य जीव उनके सदुपदेशामृत का पान कर अपने आत्मा से सम्बन्धित मिथ्यात्व-रूप महाविष को वमन कर सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। इस प्रकार से लाखों जीव भगवान् के उपदेश से आत्म-कल्याण में तत्पर हो मोक्ष-कल्याण को प्राप्त करते हैं। यह तो उनकी वर्तमान दिव्य देशना का सुफल है। उनके अनन्तर भी संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्राणी उनके उस उपदेश को शास्त्रों द्वारा, साधुओं द्वारा और अन्य सदुपदेष्टाओं द्वारा सुन कर आत्माके सुधार में समुद्यत हो स्वर्ग (मोक्ष) के सुख के भागी बनते हैं। इस तरह भगवान् जिनेन्द्र देव की वाणी का प्रभाव प्रायः प्रत्येक विवेकी मुमुक्षु प्राणी पर पड़ता है। यह सब उस एकत्व-वितर्क अवीचार नामक दूसरे शुक्लध्यान का साक्षात् सुफल है।

यह दूसरा शुक्लध्यान बारहवें क्षीण कषाय गुणस्थान में होता है। तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोग केवली भगवान्, आयु कर्मकी अन्तर्मुहूर्त स्थिति शेष रहने पर और शेष अघातिया कर्मों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त से अधिक होने पर उनकी स्थिति को आयु-कर्म के बराबर करने के हेतु दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण नामक समुद्घात को करते हैं। उसके प्रभाव से उन कर्मों की स्थिति आयु-कर्म के बराबर हो जाती है। तब वे भगवान् केवली जिनेन्द्र बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के मनोयोग, वचनयोग और बादर काय-योग का निरोध कर, सूक्ष्म काययोग का आलम्बन कर, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामक तीसरे शुक्लध्यान को आरोहण करते हैं। तब उनकी सयोग दशा से निकल कर अयोग दशा में पहुंचने की तैयारी प्रारम्भ हो जाती है। उस समय उनके श्वासोच्छ्वास और काययोग की क्रिया का निरोध और आत्म-प्रदेश परिस्पन्द भी रुक जाता है। उस समय वे भगवान् व्युपरत क्रिया निवर्ति नामक चौथे शुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं। उस समय उनके आस्रव निरोध-स्वरूप संवर तत्त्व की परिपूर्णता और सत्ता में रहनेवाले ८५ प्रकृतियों का क्षय होने पर, यथाख्यात संयम की परिपूर्णता होते ही, वे भगवान् निर्वाण (सिद्ध-पद) को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से यह उत्कृष्ट ध्यान ही वस्तुतः आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त करने में प्रधान है। इसीलिये *"न ध्यानात्परमं तपः"* ध्यान से बढ़ कर श्रेष्ठतम कोई अन्य तप नहीं है—यह उक्ति अक्षरशः सत्य है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु आत्मार्थी को इसमें लगना चाहिए; बिना इसमें लगे आत्म-सिद्धि का कोई दूसरा चारा नहीं है।

राजर्षि श्री भर्तृहरिने अपने 'वैराग्यशतक' में वैराग्य को प्राप्त करने के पश्चात् ध्यान की स्थिरता के हेतु कितनी पवित्र और उज्ज्वल भावना व्यक्त की है, जो किसी भी ध्यानी के लिये ध्यान में अग्रसर होने के लिये प्रेरणा करती है। वे कहते हैं कि :—

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य ।
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रांगतस्य ॥
किंतैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्रते निर्विशंकाः ।
संप्राप्स्यन्ते जरठहरिणा श्रृङ्गकंडूविनोदं ॥

अर्थात्—हे भगवन्! ऐसे उत्तम दिन कब आयेंगे जब कि मैं गंगा नदी के किनारे पर, हिमालय की शिला पर, पद्मासन से बैठ कर ब्रह्मध्यान-आत्मध्यान में लीन होकर योगनिद्रा को धारण करूंगा, जिससे वहां पर विचरण करनेवाले बूढ़े हिरण निःशंक होकर अपने सींगों को मेरे शरीर से खुजला कर अपनी खुजली दूर करेंगे? इसमें ध्यान की परम निश्चलता की भावना व्यक्त की गई है, जो किसी भी उत्तम ध्यानी के अतिशय रूप से वांछनीय है।

एक जगह उन्होंने समभाव की भावना को व्यक्त करते हुये अपने आराध्य देव से जो भावना प्रार्थना-रूप से प्रकट की है, वह भी समभाव प्रधान व्यक्ति को कितनी उपादेय है। वे कहते हैं कि :—

अहौवाहारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा ॥
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः ।
क्वचित् पुण्यारण्ये शिवशिवेति प्रलपतः ॥

हे भगवन्! किसी पवित्र वन में अत्यन्त प्रशान्त वनान्त प्रदेश में 'शिव-शिव' इस प्रकार से आप के नाम का जाप करनेवाले मेरे समस्त दिन समभाव के साथ व्यतीत हों। अर्थात्—मैं सर्पमें और हार में; बलवान बैरी में; और मित्र में; रत्न में; और मिट्टीके ढेलेमें; पुष्पोंकी शय्या में; और पत्थरकी शिला में; घास में और स्त्रियोंके समुदायमें यथायोग्य रीतिसे राग और द्वेष का परित्याग कर सबको समभाव से देखूं। अर्थात् किसी के प्रति मेरे मन में विषमता का बर्ताव न हो। मैं रागी और द्वेषी न बनूं। इस तरह राजर्षि कवि ने वीतरागता के प्रति महान् आदर दर्शाया है। श्री पद्मनन्दी आचार्य ने भी 'पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका' में उक्त प्रकार के भाव को प्रकट करते हुये लिखा है कि :—

तृणं वा रत्नं वा रिपुरथपरं मित्रमथवा ।
सुखं वा दुःखं वा पितृवनमदः सौधमथवा ॥
स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ ।
स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम् ॥

भाव यह है कि—तृण और रत्न में, शत्रु और मित्र में, सुख और दुःख में, श्मशान और राजप्रासाद में, स्तुति में और निन्दा में, मरण में और जीवन में समभाव धारण करनेवाले शान्त स्वभावी साधुओं के समानता ही वास्तविक-रूप से पाई जाती है। साधुता के पथ पर आरूढ़ साधु जब याचना परीषह से शिथिल होता है, तब उसे पुनः उसमें स्थिर करने के लिये आचार्य गुणभद्रसूरि 'आत्मानुशासन' में कितना सुन्दर मनोहारी वस्तुतल-स्पर्शी उपदेश देते हैं :—

गेहं गुहा परिदधासिदिशो विहाय।
संयानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धिः॥
प्राप्तागमार्थतव सन्ति गुणाः कलत्र।
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याच्ञाम्॥

हे मुने! जब तुम गुफा-रूप घर को धारण करते हो, तब तुम्हें अन्य मिट्टी या ईंट चूना के बने हुये मकान की याचना करना बेकार है। हे मुनिराज! जब तुम दिशा-रूप पवित्र वस्त्र को धारण करते हो तब तुम्हें अन्य कपास आदि के बने हुये वस्त्रों की याचना करना बेकार है। हे मुनीन्द्र! जब तुम आकाश-रूप सवारी पर चलते हो, तब तुम्हें दूसरी चेतन या अचेतन सवारी की चाह करना अशोभनीय है। हे यतीश! जब तुम तपस्या की महान् वृद्धि को धारण करते हो, तब तुम्हें अन्य प्रकार के भोजन की वांछा करना कैसे शोभा देगी? हे ऋषिराज! शास्त्रज्ञान ही जब आप का परिवार है तब आप को अन्य परिवार की इच्छा करना कैसे ठीक हो सकता है? हे अनगार! जब ज्ञान आदि गुण ही आप के कलत्र हैं तब आप को अन्य कलत्र की इच्छा करना सर्वथा अनुचित ही है।

तात्पर्य यह है कि—जब साधु आत्म-साधना के मार्ग पर आरूढ़ होता है, तब उसे किसी भी प्रकार से सांसारिक किसी भी वस्तु की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करनी चाहिये। याचना करना तो बहुत दूर की चीज है। जहां इच्छा करना पाप हो, वहां उसकी याचना करना तो महान् घोर पाप है। ऐसा समझ कर साधु को याचना परीषह विजयी होना चाहिये। तभी वह संवर और निर्जरा तत्त्व के द्वारा मोक्ष तत्त्व को सिद्ध करने में समर्थ हो सकता है। अन्तर्मुखी दृष्टि प्रधान ध्याता के ध्यान में साधन क्या हैं, और क्या नहीं हैं। इन बातों का निर्देश करते हुये आचार्य अमितगतिसूरि ने सामायिक पाठ (द्वात्रिंशत्का) में लिखा है कि :—

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी।
विधानतो नो फलको विनिर्मितः॥
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः।
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः॥

अर्थात्—ध्यान का साधन न तो चटाई है, न पाषाण है, न पियाल है, न घास है, न जमीन है, और न शास्त्रानुसार बनाया हुआ काष्ठ का तख्ता आदि है। किन्तु आत्म-ज्ञानियों ने इन्द्रिय-विजयी और क्रोधादि कषाय निग्रही निर्मल आत्मा को ही ध्यान का साक्षात् साधन स्वीकार किया है :—

न संस्तरोभद्रसमाधिसाधनम्।
न लोकपूजा न च संघमेलनम्॥
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशम्।
विमुच्य सर्वामपि वाह्यवासनाम्॥

उत्तम ध्यान का साधन बेंत आदि की बनी हुई न तो आसन ही है और न लोक प्रतिष्ठा है, न संघ में रहना ही है। इसी लिये हे आत्मन्! तुम समस्त बाहरी वस्तुओं से व्यामोह को छोड़कर आत्मस्वरूप में ही रत रहने का प्रयत्न करो।

न सन्ति बाह्या मम केचनार्थाः।
भवामि तेषां न कदाचनाहम्॥
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं।
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्रमुक्त्यै॥

हे भद्रात्मन्! तुम सर्वोत्तम मुक्ति को प्राप्त करने के लिये यह निश्चय पूर्वक निरन्तर विचार अपने आत्मा में स्थिर करो कि जितने भी बाहरी पदार्थ हैं वे मेरे नहीं हैं और मैं भी उनका नहीं हूं; और वे न तो कभी मेरे थे और न मैं ही कभी उनका था। और आगे वे न कभी मेरे होंगे तथा मैं भी उनका कभी नहीं हूंगा।

आत्मानमात्मन्यविलोक्यमानः।
त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः॥
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र।
स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्॥

अर्थात् हे आत्मन्! तुम स्वभावतः विशुद्ध ज्ञान और दर्शनमय हो, इसलिये अपने स्वरूप को अपने में ही देखते हुये उसी में स्थिरचित्त रहो। जिसमें स्थिर होने से साधु श्रेष्ठ समाधि को प्राप्त करता है। यहाँ आचार्यश्री ने आत्मस्वरूप में स्थिर होने का कारण एकमात्र आत्मस्वरूप का ज्ञान और दर्शन ही बताया है। इस प्रकार के विचार में निरत आत्मा का ध्यान ही वस्तुतः धर्मध्यान है। इसी का समर्थन करते हुए आचार्य आगे कहते हैं कि :—

स्थान :
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : आषाढ़ बदी ६ सं० २०१५
ता० ८-६-५८

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा।
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः॥
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः।
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः।

हे आत्मन्! तुम सर्वदा ऐसा ही चिन्तन करो कि मैं अनादि से एक हूं, नित्य हूं, निर्मल हूं, निर्विकार हूं, ज्ञान स्वभावी हूं। इसके अतिरिक्त जितने भी कर्म के निमित्त से होनेवाले भाव हैं वे मेरे आत्मा में होते हुये भी मेरे स्वभाव भाव नहीं हैं। किन्तु बाह्य पौद्गलिक कर्मों के संसर्ग से ही मेरे में हो रहे हैं। अतएव मैं उन रूप नहीं हूं; क्योंकि वे जितने भी विकारी भाव होनेसे हैं वे सबके सब विनश्वर हैं, जब कि मेरे स्वभाव भाव उनसे सर्वथा विपरीत अविनश्वर हैं। जो भाव क्षण नश्वर नहीं हैं, वे ही चैतन्य भाव मेरे निज स्वरूप में पाये जानेवाले हैं और अनन्त काल तक सदा शुद्ध स्वरूप में रहनेवाले हैं। शेष भाव कर्मोपाधिजन्य होने से क्षण-विध्वंसी हैं। उनके साथ मेरा क्या सम्बन्ध इत्यादि। श्लोकः--

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं।
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः॥
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः।
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये॥

हे आत्मन्! तुम्हारी जिस आत्मा की शरीर के साथ भी एकता नहीं है तुम्हारी उस आत्मा की पुत्र, कलत्र, मित्र, वस्त्र, शस्त्रादि के साथ एकता कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती है। शरीर से चमड़े के पृथक करने पर रोमराशि शरीर में फिर कैसे रह सकती है? क्योंकि रोमराशि का आधार चमड़ा है। और जब वह चमड़ा ही नहीं रहा तब उसके सहारे से रहनेवाले रोम कैसे रह सकते हैं? यही बात आत्मा की भी समस्त बाह्य पदार्थों के साथ समझना चाहिये। जब आत्मा जिस शरीर में रह रहा है उससे भी अपना सम्बन्ध विच्छेद कर जुदा हो जाता है तब बाहरी स्त्री पुत्रादि से अपना सम्बन्ध कैसे स्थापित रख सकता है? अर्थात् नहीं रख सकता है। तात्पर्य यह है कि जब आत्मा शरीर को ही अपना नहीं मानता जिसमें कि दूध और पानी की तरह एकमेक हो मिल रहा है तब बिल्कुल ही जुदे रहनेवाले स्त्री, पुत्रादि चेतन पदार्थ और महल, मकान, धन आदि अचेतन पदार्थों को अपना कैसे मानेगा? अर्थात् नहीं, कदापि नहीं।

संयोगतो दुःखमनेकभेदं।
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ॥
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो।
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥

हे आत्मन्! यह शरीरधारी जीवात्मा चौरासी लाख योनि रूप घनघोर बियावान जंगल में जन्म धारण करता हुआ परद्रव्य के संयोग के कारण अनन्त दुःखों को भोग रहा है। इसलिये यदि तुम अपने आत्मा को मुक्ति-सुख का पात्र बनाना चाहते हो तो तुम मन, वचन और काय से पर द्रव्यों के सम्बन्ध का परित्याग करो।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं।
संसारकान्तारनिपातहेतुम् ॥
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो।
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥

हे आत्मन्! संसार रूपी महान् भयंकर वन में भटकानेवाले तरह-तरह के अच्छे-बुरे, प्रिय-अप्रिय, इष्ट-अनिष्ट, दर्शनीय-दुर्दर्शनीय, आदि नाना जाति के पदार्थों को देखकर तुम्हारी आत्मा में जो विभिन्न प्रकार के राग-द्वेष रूप भाव पैदा होते हैं अथवा मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मै ज्ञानी हूं, मैं अज्ञानी हूं, मैं गृहस्थ हूं, मैं मुनि हूं। इस प्रकार के जो भी विकल्प मनमें पैदा होते हैं, वे सब त्याज्य हैं। ऐसा जान कर उनका त्याग करके एक अपने आत्मा को पर पदार्थों से सर्वथा शून्य देखते हुये और जानते हुये तुम सर्वश्रेष्ठ आत्म-तत्त्व में ही लीन रहो। यही परमात्मा बनने का प्रमुख साधन है।

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

हे आत्मन्! तुमने अपनी बुद्धिपूर्वक जो पूर्व जन्म में स्वयमेव कर्म किया है, उसका अच्छा और बुरा, सुख और दुःख स्वयं तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। यदि तुम्हारे किये हुये कर्म का फल कोई दूसरा देगा और उसे तुम भोगोगे तो तुम्हारे द्वारा किया हुआ कर्म बेकार हो जायगा। इसलिये तुम यह विचार करो कि जो जीव, जहां पर जो जितना, जैसा शुभ और अशुभ कर्म करता है, वही वहां पर वैसा उतना सुख और दुःख स्वयं ही भोगता है। उसको कोई देनेवाला और बांटनेवाला; और कोई अन्य लेनेवाला भी नहीं है, यह निर्विवाद सिद्धान्त सुनिश्चित है। इसमें तिल-तुष मात्र भी अन्तर नहीं हो सकता।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः, परो ददातीति विमुञ्चशेमुषीम् ॥

हे आत्मन्! अपने द्वारा कमाये हुये कर्म को छोड़ कर इस शरीरधारी को कोई दूसरा जरा भी अच्छा और बुरा फल नहीं दे सकता। ऐसा विचार करते हुये अपने मन को, अपने स्वरूप में स्थिर कर, दूसरा कोई कर्म के फल को देता है, इस प्रकार की बुद्धि को तुम छोड़ो।

रागं द्वेषं भयं शोकं प्रहर्षौत्सुक्यदीनताम्।
व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वामरतिं रतिमेव च ॥

सामायिक निष्ठ आत्मा यह विचार करता है कि—मैं राग, द्वेष, भय, शोक, प्रहर्ष, उत्सुकता और दीनता; समस्त अरति और रति को मन, वचन, काय तीनों से त्याग करता हूं। अभिप्राय यह है कि—ये रागादि रति पर्यन्त जितने भी भाव हैं, वे सब कर्मोपाधि-जनित होने के कारण मेरे निज भाव नहीं हैं। अतएव मैं उनका त्याग करता हूं। यहां त्याग एक तरह का व्यवहार है, निश्चय में न तो परभावों का ग्रहण ही है, और न त्याग ही।

जीविते मरणे लाभेऽलाभेयोगे विपर्यये।
बन्धावरौ सुखे दुःखे सर्वदा समता मम ॥

आत्म-निष्ठ जीव यह पवित्र भावना भाता है कि—जीवन में, मरण में, लाभ में और हानि में, इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग में, मित्र और शत्रु में, सुख में और दुःख में, मेरे सर्वदा समानता का भाव हो, अर्थात् मैं किसी से राग और द्वेष-रूप व्यवहार न करूं।

आत्मैव मे सदा ज्ञाने दर्शने चरणे तथा।
प्रत्याख्याने ममात्मैव तथा संसारयोगयोः ॥

समाधिस्थ योगी निरन्तर इस विचार में निरत रहता है कि—ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में मेरा आत्मा ही निरन्तर है, और त्याग में भी मेरा आत्मा ही प्रमुख है। सांसारिक क्रियाओं के और योगजनित व्यापारों के परिहार में भी आत्मा की ही प्रमुखता है। अर्थात् संसार के कारणीभूत क्रियाओं से दूर रहना और मन, वचन काय की प्रवृत्ति का निरोध करना; यह एकमात्र ज्ञानी, ध्यानी आत्मा के कर्तव्य में परिगणित है। ऐसे कर्तव्य का परिपालक ध्यान प्रधान जीव होता है।

एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा बहिर्भवाः भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥

मुमुक्षु आत्मा जब आत्म-स्वरूप की ओर लक्ष्य देता है, तब वह यही देखता, जानता और अनुभव करता है कि—मैं एक हूं, नित्य हूं, ज्ञानदर्शन-स्वरूप हूं। इसके अतिरिक्त जितने भी विकारी भाव हैं, वे बाह्य पदार्थ के निमित्त से होनेवाले बाहर के भाव हैं। और सभी संयोगज भाव हैं, क्योंकि वे पर-द्रव्य के निमित्त से या पर-द्रव्य के संयोग से पैदा होते हैं। अतएव उन्हें बहिर्भाव कहते हैं। ऐसे भाव मेरे स्वभाव भाव नहीं हैं, यह दृढ़ निश्चय है। इसलिये वह आत्म-स्वरूप में स्थिर होने का ही अन्तरंगतः अभिलाषी होता है।

संयोगमूलाजीवेन प्राप्ताद्दुःखपरम्परा।
तस्मात्संयोगसम्बन्धं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ॥

इस जीवात्मा ने जितनी भी दुःख की सन्तति का अनुभव किया है, उसका मूल कारण पर-द्रव्य का संयोग ही है। इसलिये अब मैं उस संयोग सम्बन्ध को जो अनादि से मेरे आत्मा के साथ प्रवाह-रूप से चला आ रहा है, मन, वचन तथा काय से बुद्धिपूर्वक त्यागता हूं।

एवं सामायिकं सम्यक् सामायिकमखण्डितम्।
वर्तताम् मुक्तिमानिन्या वशीचूर्णायितम् मम ॥

इस प्रकार आत्म-स्वरूप को प्राप्त करना ही एक प्रयोजन है, जिसका वह अखण्डित आत्म-स्वरूप स्थिरता-रूप सच्चा सामायिक मेरे आत्मा में उद्भूत हो जो, मुक्ति-रूपी मानवती स्त्री को वशी-करण चूर्ण के समान है। जिस प्रकार वशीकरण चूर्ण का प्रयोग करने पर इष्ट से इष्ट (अति प्रिय पदार्थ) अनायास ही वश में हो जाता है, उसी प्रकार से मुमुक्षु आत्मा के लिये अतिशय प्रिय मुक्ति-रूपी लोकोत्तर रमणी भी पूर्ण आत्म-स्वरूप में स्थिर होना रूप अखण्डित सामायिक के द्वारा बड़ी ही सरलता से प्राप्त हो जाती है।

पूर्वोक्त विवेचन का एकमात्र आत्म-स्वरूप को जागृत करने के लिये ध्यान ही प्रधान साधन है, ऐसा जान कर उसमें लीन होना चाहिये। तभी पूर्ण आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

परमात्मा का स्वरूप

अब योगीन्द्र देव अन्तरात्मा का स्वरूप वर्णन कर चुकने के पश्चात् परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुये गाथासूत्र कहते हैं :—

णिम्मलु णिक्कलु सुद्ध जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु।
सो परमप्पा जिणभणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥ ९ ॥

अर्थ--जो ज्ञानावरणादि अष्टविध द्रव्य-कर्मों से राग; द्वेष मोहादि भावकर्मों से और शरीरादि नो कर्मों से रहित है; जो पूर्ण आत्मिक विशुद्धि को प्राप्त कर चुकने के कारण शुद्ध है और जिसने आत्म-स्वरूप के घातक सभी विकारी भावों पर विजय प्राप्त कर ली है; अतएव जो विष्णु हैं अर्थात् आत्मिक केवल-ज्ञान के द्वारा चराचर पदार्थों का ज्ञाता होने से सर्व-व्यापक है और बुद्ध है अर्थात् जो स्व- पर के यथार्थ स्वरूप को जानता है और जो शिव हैं अर्थात् स्व-कल्याण कर चुकने के बाद पर-कल्याण करने में सर्वथा समर्थ है और जो परम शान्त वीतराग मुद्रा-सहित है वही परमात्मा है—ऐसा भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव ने अपनी दिव्यवाणी से उपदेश दिया है। अतः उस उपदेश पर प्रत्येक भव्य श्रद्धावान जीव को निःशंक भाव से श्रद्धान् करना चाहिये।

तात्पर्यार्थ--परम पवित्र आत्मा को परमात्मा कहते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ है, इसलिये इसी को परमेष्ठी कहा जाता है। परमेष्ठी वही होता है जिसमें पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों का सर्वथा अभाव हो। जिसमें क्रोधादि कषायें और राग, द्वेष, मोह आदि विकारी भाव त्रिकाल में भी संभव न हो; वह दूसरे संसारी प्राणियों के समान एक भी दोष का भागी न हो। संसारी प्राणी नाना प्रकार की इच्छाओं और विविध प्रकार की तृष्णाओं से उत्पीड़ित होकर उनके अनुसार बाह्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिये मन में नाना प्रकार के संकल्प और विकल्प करते रहते हैं। उनकी वचनरचना भी उन्हीं संकल्प और विकल्पों को लिये हुये बनती हैं। संकल्प का अर्थ बाह्य इष्ट (प्रिय) स्त्री, पुत्र, देह, गेहादि में यह मेरे हैं मै इनका हूं, इस प्रकार का विचार करना और विकल्प का अर्थ मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं रागी हूं, द्वेषी हूं, कामी हूं, क्रोधी हूं आदि अहंकार के भाव तथा उन भावों के अनुसार बाह्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिये जो शरीर से चेष्टा की जाती है और उसके करने पर जब सफलता प्राप्त नहीं होती; तब मन में बड़े खेद का अनुभव करता है। किसी के ऊपर क्रोध करता है, तो किसी को नीचा समझता है और यदि कार्य सिद्ध हो जाता है तो बड़ा सुखी होता है। तथा जिन्होंने उस कार्य में भाग लिया है उनके प्रति मित्रता का या बन्धुता का भाव बना लेता है। ये सारी कल्पनायें उस परमात्मा के स्वरूप में जरा भी स्थान नहीं पातीं। ऐसा परमात्मा व्यवहार और निश्चय दोनों मार्ग का साधन करने पर ही हो सकता है। किन्तु इसके विपरीत न तो केवल व्यवहार से ही और न केवल निश्चय से ही हो सकता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए 'अनगार धर्मामृत' में आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री आशाधर जी ने लिखा है कि :--

जइ जिणमयं पविज्जह तामान्यवहारणिच्चयेमुच्चइ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेणपुणतच्चं॥

कहने का अभिप्राय यह है कि हे भव्य जीव! यदि तुम लोग भगवान् जिनेन्द्र के बताये हुये मोक्षमार्ग में प्रवेश करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों को मत छोड़ो। यदि व्यवहार

को छोड़ोगे अर्थात् देशव्रती का मुख्य चिन्ह-खण्ड वस्त्र, कौपीन, (लंगोटी) और संयम का साधन-पीछी, कमंडलु इसी प्रकार मुनि का मुख्य चिन्ह-नग्न दिगमबर मुद्रा आर संयम कासाधन-पीछी और कमंडलु है। इसके सिवाय आर्यिकाओं काचिन्ह भी एक साड़ी और संयम का साधन पीछी और कमंडलु है। ज्ञान के साधन तीनों के लिये शास्त्र समान हैं। हां, श्रावकों में उत्कृष्ट उद्दिष्ट त्यागी क्षुल्लक के अतिरिक्त उनसे भी उत्कृष्ट ऐलक होते हैं, जिनके एक मात्र कौपीन अर्थात् लंगोटी ही होती है। संयम और ज्ञान के साधन क्षुल्लकों के समान होता है। ये सब व्यवहार धर्म को सूचित करनेवाले बाह्य वेष हैं। इनके बिना अन्तरंग निश्चय रत्नत्रय का साधन किसी भी प्रकार से संभव नहीं है। यदि इनको परित्याग कर दिया जायगा तो बाह्य-धर्म का सर्वथा लोप हो जायगा। और उसका लोप हो जाने पर निश्चय-धर्म का होना नितान्त असम्भव है। अगर कोई कदाग्रही निश्चय को छोड़कर केवल व्यवहार को ही पकड़ बैठे तो उसे यथार्थ धर्म की प्राप्ति होना बहुत ही दुर्लभ है। इसलिये जो यह चाहते हैं कि हम सच्चे वस्तु स्वरूप को अपनी आत्मा में प्रकट करें तो उन्हें उक्त दोनों प्रकार के मार्गों को अपनाना चाहिये। जैसा कि 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' के कर्ता आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है :--

स्थान : तिथि : आषाढ़ बदी ७ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० ८-६-५८

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः॥

तात्पर्य यह है कि निश्चय मोक्षमार्ग जो कि रत्नत्रयस्वरूप है वह सत्यार्थ है, यथार्थ है, वास्तविक है, उपादेय है और ग्राह्य है; क्योंकि वह आत्मगत धर्म है। इसके अतिरिक्त जो उसे प्रकट करने के लिये मार्ग अपनाया जाता है वह आत्मा से भिन्न पर पदार्थ के आश्रित होने के कारण वह अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, अवास्तविक है, अनुपादेय है, अग्राह्य है; क्योंकि वह आत्मस्वरूप न होकर पराश्रित होने से पर-स्वरूप है। जो पर-स्वरूप है वह स्व-स्वरूप को व्यक्त करने में सहायक कारण होते हुये भी आत्मस्वरूप का स्पर्श भी नहीं कर सकता। इसी दृष्टि से आचार्य ने व्यवहार को असत्यार्थ कहा है, वह सर्वथा ही मिथ्या है-- यह आचार्य के कहने का अभिप्राय नहीं है। किन्तु निश्चयमार्ग पर चलने के लिये व्यवहार-मार्ग का अपनाना आवश्यक है; क्योंकि व्यवहार मार्ग को अपनाये बिना निश्चयमार्ग पर आरोहण नहीं हो सकता। इसलिये व्यवहार असत्यार्थ होते हुये भी कथंचित् उपादेय है। उदाहरण के लिये हम एक ऐसे मनुष्य को उपस्थित करते हैं जिसके पैरों में चलने की शक्ति तो है, लेकिन बिना दूसरे की सहायता के वह अपनी शक्ति का सदुपयोग नहीं कर सकता। इसलिये उसे किसी मनुष्य की या किसी लाठी आदि की सहायता लेनी पड़ती है। उसकी सहायता से वह एक स्थान

से दूसरे स्थान पर अपने ही पैरों से जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सहायक आदमी या लाठी ने उसे चला दिया है। किन्तु उसके चलने में मुख्य उसके पैरों की शक्ति और गौण मनुष्य आदि की सहायता है। वही मनुष्य जब धीरे-धीरे उनकी सहायता से चल-चलकर अपनी शक्ति को पूर्ण-रूप से व्यक्त कर लेता है तब वह स्वयमेव ही उन सहायकों को छोड़ बैठता है या वे स्वयमेव ही छूट जाते हैं। यही बात निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग में समझनी चाहिये। अर्थात् आत्मा निश्चय का लक्ष्य रखकर जब व्यवहार पर चलता है तब उसे निश्चयानुसारी व्यवहारी कहते हैं। वह ज्यों-ज्यों निश्चय की श्रेणी में चढ़ता चला जाता है, त्यों-त्यों उसका व्यवहार छूटता चला जाता है। और जब वह निश्चय की चरम सीमा पर पहुंचता है, तब तो व्यवहार का नामोनिशान भी नहीं रहता हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि व्यवहार पर-द्रव्याश्रित होने के कारण उपचार से मोक्ष-मार्ग है; निश्चय से मोक्षमार्ग तो आत्मा ही है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सैद्धान्तिक चक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्य ने कहा है कि:--

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्सकारणं जाणे।
ववहारा णिच्चयदो तत्तियमयिओ णिओ अप्पा॥
रयणत्तयंणवट्टइ अप्पाणं मुयतु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइओ होदिहू मोक्खस्सकारणं आदा॥

अर्थात्—व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र मोक्ष का कारण है; किन्तु निश्चय नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय आत्मा ही मोक्ष का कारण है। क्योंकि सम्यग्दर्शनादि गुण गुणी आत्मा को छोड़ कर किसी अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते। इसलिये सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय-स्वरूप आत्मा ही मोक्ष का कारण है। तात्पर्य यह है कि—किसी अखण्ड द्रव्य के विवक्षा के वश से जो खण्ड किये जाते हैं या जो खण्ड-खण्ड करके वर्णन किया जाता है; वह भी एक तरह का व्यवहार है, जो पराश्रित न होकर विवक्षित द्रव्य के आश्रित ही होता है। जैसा कि ग्रन्थकार ने उक्त दो गाथाओं द्वारा प्रकट किया है। ऊपर की गाथा में अखण्ड आत्मा के रत्नत्रय-रूप गुणों का खण्डशः वर्णन करके व्यवहार की कोटि में उसे रक्खा है, और वहीं निश्चय की दृष्टि से उक्त रत्नत्रय-स्वरूप आत्मा को ही मोक्ष का कारण कहा है। उक्त दोनों बातों को प्रमाणित करने के लिये जो हेतु परक गाथा दी है, उससे तो एक अखण्ड आत्मा को ही मोक्ष का कारण निर्धारित किया है। इस विवेचन से आत्मा ही मोक्ष का कारण है, अन्य कोई पर-द्रव्य नहीं। यह साधना पथ पर चल कर जिन्होंने परिपूर्ण आत्म-सिद्धि को प्राप्त किया है, उन्होंने ही यह निष्कर्ष मुमुक्षु भव्य जीवों के हितार्थ उपदेश द्वारा प्रकट किया है। इसलिये अन्तरात्मा से परमात्मा बनने के लिये दोनों मार्ग आवश्यक हैं।

जो अन्तरात्मा परमात्मा बनने के लिये उद्यत होता है, वह परमात्मा के बताये हुये दोनों

प्रकार के मार्गों पर चलने का प्रयत्न करता है। क्योंकि उसे दोनों मार्ग, अपना लक्ष्य जो आत्म-स्वरूप है, उसे सिद्ध करने के लिये आवश्यक प्रतीत होते हैं। और वह यह भी समझता है कि जो अन्तरात्मायें परमात्म-दशा को प्राप्त हुई हैं, उन्होंने भी उक्त दोनों मार्गों को अपनाया था, और उसका फल परमात्म-दशा को प्राप्त किया। इसलिये मुझे भी उसी परमोक्ष-दशा में पहुंचने के लिये उक्त दोनों मार्गों को अपनाना चाहिये। उनमें प्रथम मार्ग व्यवहार मार्ग है। उसको अपनाये बिना निश्चय मार्ग पर पहुंचना बहुत ही कठिन है। उदाहरण के लिये किसी मनुष्य के पास सौ गज लम्बा एक कपड़े का थान है, और जो अपने आकारमें बंधा हुआ रक्खा है। उस थान में सौ गज जगह घेरने की शक्ति विद्यमान है। यदि थान का स्वामी उसकी तह को खोल कर उसे फैलाने की कोशिश न करे तो वह थान किसी भी प्रकार से फैल कर सौ गज जगह को नहीं रोक सकता। ठीक इसी प्रकार से आत्मा में परमात्मा बनने की निज की शक्ति है। यदि आत्मा उस शक्ति को व्यक्त करने की चेष्टा न करे तो तीन काल में भी वह परमात्मा नहीं बन सकता। अतः परमात्मा बनने के लिये आचार्यों ने जो देशव्रत और महाव्रत के रूप में चारित्र पालन करने का उपदेश दिया है, वही व्यवहार मोक्षमार्ग है। उस मार्ग को अपनाने पर निश्चय मोक्षमार्ग प्राप्त हो सकता है। आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी ने लिखा है कि :—

असुहादो विणिवित्ती सुहेपवित्तीयजाणचारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं ॥

अर्थ यह है कि—अशुभ क्रियाओं से दूर रहना और शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करना चारित्र कहा जाता है। वह चारित्र व्रत, समिति और गुप्ति-रूप है, ऐसा व्यवहारनय की अपेक्षा से भगवान् जिनेन्द्र ने अपनी दिव्यवाणी द्वारा प्रतिपादन किया है। तात्पर्य यह है कि—षट्काय के जीवों की हिंसा में प्रवृत्ति करना, झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार करना, और परिग्रह का संचय करना—इनमें जो प्रवृत्ति की जाती है, वह अशुभ प्रवृत्ति कहलाती है। ऐसी अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होकर प्राणी मात्र की रक्षा में, सत्य बोलने में, चोरी के त्याग करने में, ब्रह्मचर्य के पालन में और परिग्रह के त्याग में जो प्रवृत्ति की जाती है—उसे शुभ प्रवृत्ति कहते हैं। ऐसी शुभ प्रवृत्ति को आचार्य ने चारित्र शब्द से व्यवहार किया है। वह समिति और गुप्ति-रूप भी होता है। समिति से तात्पर्य है, स्व-पर की रक्षा का ध्यान रखते हुये जो कुछ भी प्रवृत्ति की जाती है, वह समिति कहलाती है। जो साधु आत्म-स्वरूप को साधने के लिये उद्यत होते हैं, वे मन, वचन और काय की क्रियाओं का त्याग कर आत्म-स्वरूप का रक्षण करते हैं। इसलिये उन्हें गुप्ति कहा जाता है। यह सब बाह्य शरीरादि द्रव्यों के आश्रित होने के कारण और जन साधारण की दृष्टिमें बाहरी और पर दृष्टिगोचर होनेसे भी व्यवहार चारित्र कहलाता है। यह चारित्र यदि आत्म-श्रद्धा के साथ होता है, तो व्यवहार सम्यक्चारित्र कहलाता है और यदि आत्म-श्रद्धाके साथ नहीं है, तो वह व्यवहार चारित्र भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चारित्र की व्याख्या में यह बात

मुख्यतया अपेक्षित है कि—जिस आचरण में आत्म-स्वरूप निखरता है, वही चारित्र है; इससे विपरीत नहीं। जैसा कि—उक्त आचार्य ने अपने शब्दों में निरूपण किया है।

बहिरब्भन्तरकिरिया रोहोभवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तंपरमं सम्म चारित्तं ।।

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की क्रियाओं को रोकना ही संसार के कारणों के नाश करने में कारण है। ऐसा ज्ञानी के चारित्र को भगवान् जिनेन्द्र ने सम्यक्चारित्र कहा है। तात्पर्य यह है कि—महाव्रत, समिति, और गुप्ति-रूप जो कुछ भी आचरण है, वह सब बाह्य क्रिया है, और आभ्यन्तर में उसके पालन करने का जो राग है; वही आभ्यन्तर क्रिया है। उन दोनों के त्यागपूर्वक जो आत्मा में वीतरागता आती है, वही सम्यक्चारित्र है।

ऐसे सम्यक्चारित्र की पूर्णता को प्राप्त हुआ आत्मा परमात्मा कहलाता है। यह परमात्म-पद किसी कर्म-विशेष का फल नहीं; किन्तु स्वाभाविक आत्मा का एक अद्वितीय पद है। अतएव उसमें कदाचित् भी किसी भी प्रकार का विकार पैदा नहीं हो सकता। ऐसा परमात्मा ही सच्चा विष्णु है। क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने के कारण उसके ज्ञान में और दर्शन में त्रिलोकवर्ती सभी द्रव्यों के गुण और पर्यायें एक साथ प्रतिबिम्बित होने के कारण विराजमान हैं। अतएव वह सर्वव्यापक होने से वास्तविक विष्णु है। वही सच्चा बुद्ध भी है, क्योंकि वह सभी पदार्थों का ज्ञाता और द्रष्टा है। और वही शंकर है, क्योंकि वह आत्मस्थ अनन्त ज्ञान के द्वारा स्वयं तो शान्तिमय है ही, और दूसरों को भी शान्तिमय करनेवाला है। निश्चय से यदि विचार किया जाय तो अरहन्त परमेष्ठी परम औदारिक शरीर में जो सप्त धातु रहित निर्विकार है, उसमें रहने के कारण सकल परमात्मा कहलाते हैं; किन्तु जो इस सकल परमात्म-पद से निकल कर विकल शरीर रहित या ज्ञान शरीरमय आत्म-पद में विराजमान हैं, वे ही सच्चे परमात्मा हैं। इन दोनों में शरीर सहितता और शरीर रहितता का ही अन्तर है। इसलिये जो परमात्म-पद के अभिलाषी हैं, उन्हें इनके स्वरूप का निरन्तर ध्यान करते रहना चाहिये; और उस पद पर पहुंचने के लिये उनके बताये हुये मार्गों पर चलना चाहिये। इसी बात को स्पष्ट करते हुये 'परमात्म प्रकाश' में आचार्य ने लिखा है कि :—

अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मविमुक्कें जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु, सो परु मुणहिं मणेण ।।
णिच्चु णिंजणु णाणमउ, परमाणंदसहाउ ।
जो एहउ सो सन्तु सिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ ।।

वेयहिं सत्थहिं इंदियहि, जो जिय मुणहु ण जाइ ।
णिम्मल-झाणहं जो विसउ, सो परमप्पु अणाइ ॥

जिसने कर्मों को दूर करके सर्व शरीरादि पर-द्रव्यों से सम्बन्ध विच्छेद करके ज्ञान-स्वरूप आत्मा को प्राप्त कर लिया है, वही परमात्मा है। उसका पवित्र मन से ध्यान करो। वह परमात्मा नित्य, निरञ्जन, ज्ञानमय तथा परमानन्द स्वभाववाला है; और वही शिव, शान्त स्वभाववाला है। उसके शुद्ध स्वभाव को पहचानो। जो वेदों के द्वारा, शास्त्रों के द्वारा, और इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह तो एकमात्र ध्यान में झलकता है। वह अनादि, अनन्त, अविनाशी, शुद्ध आत्मा परमात्मा है। 'समाधिशतक' के कर्ता श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि :—

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परमात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥

परमात्मा निर्मल है, स्वाधीन है, शुद्ध है, पर-द्रव्य से रहित है, अनन्त शक्तिशाली है, अविनाशी है, परम पद में स्थित है, वही श्रेष्ठ आत्मा है, और वही शुद्ध गुण-रूप ऐश्वर्य का धारी होने से ईश्वर है; और वही कर्म-शत्रुओं का विजयी होने से जिन है। इन तमाम विशेषणों से सहित जो भी आत्मा हो, वही परमात्मा है, अन्य नहीं।

स्थान : तिथि : आषाढ़ बदी ८ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० -६-५८

पर को आत्मा माननेवाले बहिरात्मा का स्वरूप

देहादि जे पर कहिया ते अप्पाणु मुणेइ ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुणु संसार भमेइ ॥ १० ॥

जो जीवात्मा शरीरादि पर पदार्थों को जिनको आचार्यों ने, आत्मज्ञ पुरुषों ने आत्मा से भिन्न जाना और माना है, और वैसा ही कहा है, उन स्वरूप आत्मा को मानता है, वह बहिरात्मा है— ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है। वह बहिरात्मा अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

तात्पर्य यह है कि—आत्मा एक स्वतन्त्र चैतन्य-स्वरूप अमूर्तिक अनन्त गुणों का पिण्ड अखण्ड द्रव्य है। यह स्वभावतः शुद्ध है, जलके समान निर्मल है, परम वीतराग और परमानन्दमय है। सिद्धालय

में विराजमान सिद्ध परमेष्ठी का आत्मा जैसा शुद्ध, एकाकी और निरञ्जन है, वैसा ही यह आत्मा प्रत्येक संसारी के शरीर में रहते हुये भी शुद्ध है, बुद्ध है, निर्विकार है, स्व-स्वरूप में अवस्थित है। संसारी आत्मा और परमात्मा में सत्ता की अपेक्षा से, आकार-प्रकार की अपेक्षा से तो भेद है ही; परन्तु गुणों की अपेक्षा से कोई न्यूनाधिकता नहीं है, किन्तु समानता है। एक आत्मा में जितने गुण उपलब्ध हो सकते हैं, उतने ही दूसरी आत्मा में भी। प्रदेशों की अपेक्षा से संसारी और मुक्त परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि प्रत्येक आत्मा प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी है। अतएव संसारी और मुक्त दोनों एक बराबर हैं। अन्तर केवल इतना है कि—संसारी अष्ट-कर्मों से सहित हैं, और मुक्त अष्ट-कर्मों से रहित। जो इस प्रकार के आत्म-द्रव्य को स्वीकार नहीं करते, किन्तु शरीर को ही आत्मा मान बैठे हैं, वे ही बहिरात्मा हैं। जैसे जल स्वभाव से तो शीतल है, पर अग्नि से संयुक्त होने पर वह अपने शीतल स्वभाव को छोड़ कर उष्णता को धारण कर लेता है। ऐसी स्थिति में जो अज्ञानी उसको शीतल जल मान करके पीयेगा, उसे उष्णता जन्य कष्ट को भोगना ही पड़ेगा। ठीक इसी तरह से जो कर्म-बद्ध आत्मा को आत्मा-रूप न मान कर शरीर-रूप मानेगा उसको तो निरन्तर अनन्त संसार का कष्ट भोगना ही पड़ेगा। संसारी आत्मायें कर्मोदय के कारण नाना प्रकार के विकारी भावों का अनुभव कर रही हैं। उनको असली स्वरूप का ज्ञान ही नहीं है। इसलिये वे शरीराश्रित जितने भी परिणमन हैं, उन सबको ही अपने परिणमन-रूप से स्वीकार करती हैं। शरीर से भिन्न आत्मा है, इसका उन्हें पता भी नहीं है। अगर वे जरा भी विवेक से काम लें तो उन्हें यह आसानी से समझ में आ जायगा कि दर असल में आत्मा शरीर से भिन्न और ज्ञानादि गुणों से अभिन्न चैतन्यमय स्वभाववाला है। एक नीतिकार ने आत्मतत्व को सिद्ध करते हुये लिखा है कि :—

हेये सती स्वयंबुद्धिः यत्नेनाप्यसती शुभे।
तद्धेतुकर्मतद्वन्तमात्मानपि साधयेत् ॥

तात्पर्य यह है कि—जिन हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, दम्भ आदि कुकर्मों को, जो कि छोड़ने योग्य हैं, और जिनको छोड़ने के लिये सत्पुरुषों की तरफ से प्रेरणा की जाती है, उपदेश दिया जाता है, उनमें तो बुद्धि रोकने पर भी स्वयमेव ही लग जाती है; और जिन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, पवित्रता, सरलता आदि शुभ कर्मों में प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती। गुरुओं के विशेष आग्रह करने पर उनके आग्रह को ठुकरा कर कुकर्मों में ही लग जाती है। इसका हेतु कारण कोई न कोई जबर्दस्त शक्तिशाली अदृश्य कर्म अवश्य है, और जब वह है तो वह अपने यानी कर्म को करनेवाले तत्व को यानी कर्मवान को सिद्ध करता है। वह कर्मवान एकमात्र जानने और देखने की शक्ति रखनेवाला चैतन्यमय तत्व आत्म-तत्व को सिद्ध करता है। उक्त नीति के आधार से हम संसार में, जीवधारियों में जो तरह-तरह की विषमताओं

को देख रहे हैं, वे विषमतायें अकारण नहीं हैं। हम ऐसे लाखों मनुष्यों को देखते हैं कि—जिनको सुबह से शाम तक भर पेट खाने को अन्न भी नहीं मिलता, शरीर ढकने को जिन्हें वस्त्र नसीब नहीं होता, स्वतन्त्रता से रहने के लिये जिन्हें हाथ भर जमीन मिलना भी दुर्लभ है, जिनके शरीर की दशा बड़ी ही दयनीय है, तरह-तरह की व्याधियां जिनके शरीर को घेरे हुई हैं, और जिनके दवा-दारू का कोई ठिकाना नहीं है। इसके विपरीत ऐसे बहुत से पुण्यात्मा जीव हैं; जो धन-धान्य से परिपूर्ण हैं, ऐश्वर्यशाली हैं, रूप-लावण्य से सम्पन्न हैं। जिनके रहने के लिये बड़े-बड़े विशाल भवन तथा सवारी के लिये मोटर, तांगा, बग्गी आदि वाहन विद्यमान हैं, पहरने-ओढ़ने के लिये तरह-तरह के बेशकीमती वस्त्राभूषण, भांति-भांति के अमूल्य रत्न (जवाहरातों) के अलंकार आदि शृङ्गार करने के लिये उपलब्ध हैं; और खान-पान के लिये विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय फल (पुष्पादि) बड़ी आसानी के साथ प्राप्त होते रहते हैं। यह सब कर्म-कृत विचित्रता है, जो किसी कर्म-विशेष को प्रकट करती है, और उस कर्म-विशेष को करनेवाला कोई न कोई ऐसा तत्व इस शरीर के अन्दर अपना अस्तित्व रखता है, जो इन तमाम विचित्रताओं का स्रष्टा है। ऐसे तत्व को जो हठात् स्वीकार नहीं करता है; किन्तु ये सब विशेषतायें एकमात्र शरीरके ही धर्म हैं। शरीर ही इनका कर्ता-धर्ता है दूसरा कोई नहीं, ऐसा शरीरम्मन्य आत्मा ही बहिरात्मा कहलाता है। ऐसा बहिरात्मा यह भी कहता है कि :—

न स्वर्गो नापर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां व्यवस्थाश्च फलदायिकाः॥

न तो स्वर्ग है, जिसमें पचेन्द्रियों के भोगोपभोग की विपुल सामग्री प्राप्त होती है, जिसमें उत्पन्न होनेवाले जीवों को देव, इन्द्र और अहमिन्द्र कहते हैं, जिसमें असंख्यातकाल पर्यन्त जीवों को सुख ही सुख मिलता है, दुःख ज़रा भी नहीं—वह कोई यथार्थ वस्तु नहीं है एकमात्र मिथ्या कल्पना है। इसी प्रकार अपवर्ग यानी मोक्ष जिसमें रहनेवाले जीवों को अनन्तकाल तक आत्मिक सुख ही सुख उपलब्ध होता है, दुःख का लेश भी नहीं, जो फिर कभी संसार में लौटकर नहीं आते, जो अनन्तकाल तक उसी सुरम्य भव्य स्थान में ही विराजमान रहते हैं, यह भी कोई चीज नहीं है। और परलोक के लिये साधना करनेवाला कोई आत्मा भी नहीं है। अर्थात् जो कुछ है सो यही है जिसे हम देख रहे हैं, इसके बाद कुछ भी नहीं है। जब कुछ भी नहीं है तब परलोक कहां से हो सकता है ? और जब परलोक ही नहीं है तब उसमें जानेवाला आत्मतत्व कैसे माना जा सकता है ? और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण तथा इन चारो वर्णों के लिये कल्पना की गई तरह-तरह की व्यवस्थायें जिनमें प्रत्येक वर्ण की आजीविका के विषय में जो जो वृत्तियां निश्चित की गई हैं वे वर्तमान जीवन के लिये भले ही उपयोगिनी सिद्ध हुई हों, किन्तु भविष्य के लिये उनका कोई महत्व नहीं है। उनका अच्छा या बुरा किसी भी प्रकार का फल नहीं है। जहां ब्राह्मण वर्ण का अध्ययन और अध्यापन, यजन और याजन, आदि जो

कर्तव्य कर्म निश्चित किये गये हैं वे दूसरे वर्णों से उनको पृथक रखते हैं। इस पृथकताका मानव जाति के लिये कोई गुण न होकर दोष ही है। इसी प्रकार वैश्योंके लिये नाना प्रकार के व्यापार, और कृषि-कर्म आदि की जो प्रधानता दी गई है वह भी उनके लिये भले ही सुखप्रद हो लेकिन दूसरे वर्णवाले इससे वंचित रह जाते हैं। उनमें जो इस कार्य को करने में विशेष निपुण हैं उनको भी मौका नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में उनके लिये वह व्यवस्था हानिकर ही सिद्ध होती है। इसी तरह क्षत्रिय वर्ण के लिये जो प्रजा-पालन, जिसमें शिष्टों का अनुग्रह और दुष्टों का निग्रह मुख्यता से अपेक्षित है राज्यसत्ता का संचालन करना ही जिनके जीवन का खास लक्ष्य और निर्वाह का साधन है, उसके विषय में भी वही दोष लागू होते हैं जो ऊपर बता आये हैं। इसी तरह से शूद्रों के लिये जो सेवा वृत्ति निश्चित की गई है, अपने से ऊपर वर्णवालों की ऊंच और नीच सभी तरह की सेवाओं को करना ही एक मात्र कर्तव्य निर्धारित किया गया है वह भी उनके लिये एक बड़ा कठोर बंधन है। उनमें बहुत से उन्नतिशील व्यक्ति जिनकी शारीरिक, मानसिक और वाचनिक शक्तियां निमित्त मिलने पर ऊंचे स्तर पर पहुंच सकती हैं उनके लिये बन्धन में पड़े रहने के कारण उनके विकास का कोई मौका नहीं मिलता। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है और माना जा सकता है कि वह वर्ण-व्यवस्था एक दूसरे के लिये फलप्रद हो। यह है बहिरात्मा की विचारधारा। वह किसी भी धर्म-कर्म में विश्वास नहीं रखता। उसका विश्वास दृष्ट जगत के सिवा और कोई जगत नहीं है। इसलिये वह कहता है कि:—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

जब तक जीना तब तक सुख पूर्वक मजा-मौज के साथ रहना और यदि पास में पैसा न हो और घी, दूध, दही, मक्खन आदि उत्तमोत्तम पदार्थों के खाने-पीने की इच्छा हो तो कर्ज लेकर उन वस्तुओं द्वारा अपनी इच्छाओं को पूर्ण करना चाहिये, क्योंकि इस शरीर के अग्नि में भस्म हो जाने पर फिर इसका अस्तित्व ही कहां? जो कि पुनः लौटकर वापिस आये। यह है बहिरात्मा के विचारों की चरम सीमा है। जिनमें एक शरीर ही सेवनीय है, अन्य कोई नहीं। यह अज्ञानी बहिरात्मा मूढ़ पर को अपना मान रहा है और जब तक यह पर को अपना मानता रहेगा तब तक इसका संसार परिभ्रमण का अन्त नहीं हो सकता। इसकी दशा उस सेठ के समान है जो विदेश में जाकर कठिन परिश्रम से धन कमाकर लाया। जिसमें बहुतायत से बेशकीमती रत्न जवाहरात थे। लौटते समय मार्ग में उसे एक बगीचा मिला। वह बड़ा सुन्दर, हरा-भरा, और चित्ताकर्षक था। उस बगीचे के वृक्षों की हरीभरी छाया जब उन बहुमूल्य हीरा आदि रत्नों पर पड़ी तब उसका वर्ण श्वेत की जगह हरित हो गया। वह सेठ थका हुआ था। अतः थकावट के कारण उसे नींद आ गई। नींद भी बहुत गहरी थी। इसलिये वह काफी समय के पश्चात् जब जागा तब क्या देखता है कि मेरे बहुमूल्य हीरा आदि रत्नों को कोई

चुरा ले गया है, और उनके स्थान पर बनावटी नकली हरे-हरे कांच के टुकड़े रख गया है। उन्हें देखते ही वह चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा और कहने लगा कि—हाय रे हाय! मेरी गाढ़ी कमाईके रत्नों को कोई ले गया है, और उनके स्थान पर अपने ये नकली कांच के टुकड़े को रख गया है। हाय, मैं तो लुट गया। उसके इस प्रकार के रुदन को सुन कर कोई दयालु ज्ञानी पुरुष वहां आया और उसने उसकी उस दशा को देख कर कुछ समय तक के लिये तटस्थता धारण की। उसने उसके रत्नों की स्थिति को देख कर जब उनकी असलियत को जान लिया, तब उसने उस सेठ से अपने तमाम रत्नों को लेकर बाहर चलने को कहा। ज्योंही वह बाहर आया, त्योंही उसने उस सेठ से कहा कि—अरे भाई! अब तुम अपने रत्नों को देखो और सम्हालो कि ये रत्न वे ही रत्न हैं या नहीं, जिन्हें तुम कमा कर लाये थे। जब उसने उन रत्नों को खोल कर देखा तो वे ही रत्न हैं, जिन्हें मैं कमा कर लाया था। देख कर बड़ा खुश हुआ और उस दयावान् ज्ञानी पुरुष की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। यही दशा प्रत्येक बहिरात्मा की हो रही है। यह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव आत्मा के रत्नत्रय-स्वरूप धर्म को भूला हुआ स्पर्श, रस, गन्धवर्णमय शरीर को ही अपना स्वरूप मान रहा है। जो जड़ है, अचेतन है, अतएव तरह-तरह के दुःखों का पात्र बन रहा है। दयालु परम गुरु जब उसके दुःख को देख कर उसके मूल पर विचार करते हैं, तब उनके हृदय में दया का स्रोत बह उठता है। जिससे प्रेरित होकर वे इस अज्ञानी बहिरात्मा को सच्चे रत्नत्रय-स्वरूप आत्मिक धर्म को समझाते हैं, और जब वह यथार्थ दृष्टि से उसे समझ लेता है, तब उसे अपार आनन्द आता है, और वह अनादि काल की भ्रान्त धारणा से निकल कर जब निज-स्वरूप में आता है, तब कृतज्ञता के नाते उन सद्गुरु के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है। वास्तव में सद्गुरुओं के निमित्त से ही इस संसारी बहिरात्मा प्राणी का महान् कल्याण होता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि—हे जीवात्मन्! जरा तो विचार करो, देश-विदेश में जाकर बड़े कठिन परिश्रम से जो तुम धनोपार्जन करके लाये हो, क्या उसमें से उसका अनन्तवां अंश भी तुम्हारे साथ जा सकता है? नहीं कभी नहीं। जो पर है वह पर ही रहेगा, वह अपना नहीं हो सकता है, अतएव वह अपने साथ भी नहीं जा सकता है। तुम्हारा स्वरूप, तुम्हारी जाति, तुम्हारी चाल-ढाल, तुम्हारा रहन-सहन, खान-पान, चैतन्यमय ही है और पर शरीर की जाति ही तुमसे सर्वथा भिन्न, अचेतन, जड़, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, वर्णमय पूरण (गलन) स्वभावमय है। अतएव तुम दोनों का सम्बन्ध विजातीय सम्बन्ध है। क्या कभी बैल और घोड़े का साथ हो सकता है? कदापि नहीं। यदि किसी गाड़ी में बैल और भैंसे जुते हुये हों तो बैल अपनी ओर खींचते हैं, और भैंसे अपनी ओर। नतीजा यह होता है कि गाड़ीवान जिस स्थान पर गाड़ी को ले जाना चाहता है, उस स्थान पर गाड़ी नहीं पहुंच सकती। यही दशा बहिरात्मा की है। वह शरीर की तरफ झुक कर अपनी शरीर शक्ति उसी की सेवा, टहल में लगा देता है। इसलिये मोक्षमार्ग से हट कर संसार मार्गी ही बना रहता है।

सद्गुरु सम्यग्दृष्टि उसको सच्चे मार्ग पर खींच लाने की भरसक कोशिश करते हैं, लेकिन

उसके मिथ्यात्व और अज्ञान के भैंसे इस ओर आने ही नहीं देते। वे तो अपनी ओर ही तेजी के साथ खींचते रहते हैं। हां, सद्‌गुरुओं का उपदेश-रूपी बैल शक्तिशाली हो और बहिरात्मा के मिथ्यात्व अज्ञान-रूपी भैंसे दुर्बल हों तो सम्भव है कि वह बहिरात्मा खींच कर सन्मार्ग की तरफ झुक जाय और उसका कल्याण हो जाय। जो अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि सद्‌गुरु होते हैं वे बड़ी ही कुशलतासे बहिरात्माको अन्तरात्मा बनाने में प्रयत्नशील होते हैं। इस विषयमें हम एक करोड़पति सेठ का दृष्टान्त देते हैं, जो दार्ष्टान्तमें पूर्ण रीतिसे घटित होता है। एक करोड़पति सेठ दुर्भाग्यवश दरिद्री (निर्धन) हो गया, और जब वह मरने लगा तब एक रत्न अपने बच्चों को दे गया; किन्तु वह रत्न असली नहीं, नकली था। बच्चा जब उस रत्न को बेचने के लिये ज्योंही बाजार में गया और वह रत्न ज्योंही जौहरी के हाथ में दिया, त्योंही जौहरी समझ गया कि यह रत्न नहीं, यह तो कांच है। जौहरी का उस लड़के के पिता से जो कि उसी के समान जौहरी थे, बड़ी मित्रता थी। उसने सोचा कि यह रत्न जो कि वस्तुतः रत्न तो नहीं, बल्कि कांच है। अगर मैं इसे कांच कहे देता हूं तो इसको और इसकी माता को बड़ा दुःख होगा, और दोनों यह समझेंगे कि हमारे रत्न को जौहरी कांच कह कर हड़पना चाहता है। इसलिये उसने उस लड़के से कहा कि—बेटा! तुम इस रत्न को अभी अपनी माता को दे आओ और उनसे कह आओ कि ऐसे रत्नों की अभी बाजार में मांग नहीं है। जब मांग होगी, तब हम तुम्हें भेज कर मंगवा लेंगे। अभी कुछ दिन तुम हमारी दूकान पर काम करो। हम तुम्हें मेहनताने के तौर पर थोड़ा-बहुत देते रहेंगे, जिससे तुम्हारा और तुम्हारी माता का निर्वाह होता रहेगा। बच्चा बुद्धिमान था, अतः उसने जौहरी की बात को अक्षरशः मान लिया। उसने जौहरी के पास रह कर एक साल में रत्न परीक्षा में निपुणता प्राप्त कर ली। जब जौहरी ने देखा कि लड़का रत्न-परीक्षा में होशियार हो गया है, तब उसने उससे कहा कि—बेटा! अब तुम अपनी मां के पास जाकर उस रत्न को खोल कर स्वयं देख लेना और अपनी मां को भी दिखा देना, पीछे मेरे पास ले आना। उसने सेठ की आज्ञा को शिरोधार्य किया और मां के पास जाकर उस रत्न को मांगा। मांग कर मां के सामने ही उसे खोल कर देखा तो मालूम हुआ कि यह रत्न नहीं, यह तो असली कांच है। तब उसने मां से कहा कि—मां, जिसे तुम रत्न समझ रही हो, वह रत्न न होकर कांच है। मां ने भी उस रत्न-पारखी अपने बच्चे की बात को सुन कर उस कांच के टुकड़े में रत्न के व्यामोह को छोड़ कर निश्चिन्तता को प्राप्त किया। वैसे ही अन्तरात्मा जौहरी के संसर्ग से बहिरात्मा भी असलियत को पहिचान कर बहिरात्मपन को छोड़ कर अन्तरात्मपन में आ जाता है। अन्तरात्मा धीरे-धीरे बहिरात्मा के स्वरूप को मद्दे नजर रखते हुये अन्तरात्मा के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न करता है, और जब यह देखता है कि मैं इस बहिरात्मा को अन्तरात्मा के स्वरूप को समझा चुका हूं, और यह भी उसे पूर्ण रीति से समझ चुका है, तब वह बहिरात्मा के स्वरूप को सामने रख कर फिर इस बहिरात्मा से पूछता है कि तुम्हें असलियत सचाई किधर मालूम होती है? जिधर तुम्हें अपना कल्याण दिखाई देता हो उधर ही तुम झुक जाओ। तब वही बहिरात्मा बहिरात्मत्व बुद्धि को छोड़ कर अन्तरात्मा

बन कर परमात्मा बनने की कोशिश करने लगता है। यह है बहिरात्मा की काया पलट करनेवाले अन्तरात्मा सद्गुरुओं का, सदुपदेश का साक्षात् फल! जिसे प्रत्येक बहिरात्मा को सुन कर और समझ कर अन्तरात्मा बनने के प्रयत्न में लगना चाहिये, क्योंकि इसी में उनकी भलाई है।

स्थान — तिथि: आषाढ़ बदी ९ सं० २०१५

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। — ता० १०-६-५८

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अनादि है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा गया है कि :—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता॥

यदि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध नहीं होता तो रत्नत्रय पवित्रिते नहीं कहते रत्नत्रय तो आत्मा का स्वभाव है। व्यवहार रत्नत्रय भी तो आत्माश्रित ही है। व्यवहार का अर्थ जब भेद-रूप करते हैं, तब भेद तो अभेद सापेक्ष ही होता है। भेद बिना अभेद नहीं, और अभेद बिना भेद नहीं। इस तरह भेदाभेद-रूप ही रत्नत्रय एक साथ रहते हैं। ऐसा निर्णय कर आत्मा और शरीर की सापेक्ष पूज्यता और शुद्धि जानना चाहिये। श्री विद्यानन्द स्वामी आप्त-परीक्षा में कहते हैं :—

परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानवत्त्वात्, हीनस्थानं हि शरीरं।

इस प्रकार शरीर के सम्बन्ध से आत्मा को पराधीन बताया गया है। शरीर को कारागृह का भी दृष्टान्त दिया है।

समयसार में वर्णादि गुणस्थानान्त भावों को निश्चय से निषेध किया है। वहां व्यवहार से शरीरादि आत्मा के बताये हैं। जीव अजीवाधिकार :—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स॥ ५६॥
एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
णय हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा॥ ५७॥

गाथा ६१ की टीका में लिखा है कि:—*संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्यभवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि ॥ इत्यादि ॥*

इससे भी संयोग संबंध सिद्ध होता है। व्यवहार से शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति बताई है।

ववहारणओ भासदि जीवो देवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्टो ॥ २७ ॥

जीवाजीव गाथा ६७

भावार्थ:—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है और निश्चय नय से भिन्न हैं। इसलिये व्यवहारनय से शरीर के स्तवन करने से आत्मा का स्तवन माना जाता है और यहां यदि कोई प्रश्न करे कि व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, पर शरीर जड़ है। तब व्यवहाराश्रित जड़ की स्तुति का क्या फल है? इसका उत्तर यह हैं कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। उसे निश्चय को प्रधान करके असत्यार्थ कहा है। छद्मस्थ को निज पर का आत्मा साक्षात् दिखाई नहीं देता, शरीर ही दिखाई देता है। उसकी शान्तरूप मुद्रा को देखकर अपने भी शांतभाव होते हैं। तथा शांत मुद्रा को देखकर अंतरंग में वीतरागभाव का निश्चय होता है। ऐसी नयविवक्षा से शरीर और आत्मा का परस्परावगाढ़ सम्बंध सिद्ध होता है। यदि कोई कहे कि :—

आत्मा और शरीर तो निश्चयनय से भिन्न-भिन्न पदार्थ है—एक नहीं हो सकते। उनकी क्रियाएं भी भिन्न-भिन्न होंगी। अतः सम्बन्ध कहना ठीक नहीं है? इसका समाधान यह है कि आप निश्चयनय कौन-सा लेते हैं, शुद्ध या अशुद्ध? अशुद्ध शब्द ही आत्मा के कर्म नो कर्म के सम्बन्ध को द्योतित करता है। इसलिये इस विवक्षा में अशुद्ध निश्चयनय व्यवहारनय दोनों एक ही हैं। तब सम्बन्ध सिद्ध हो ही गया। यदि शुद्ध निश्चयनय से कहते हों, तो शुद्ध निश्चयनय तो कथन मात्र है। अभी वर्तमान में आत्मा की शुद्ध पर्याय तो हैं ही नहीं। वर्तमान में बद्धस्पष्ट आत्मा है। आगामी जैसी सिद्ध पर्याय होगी, उसी वस्तु स्वरूप का स्वभाव से कथन करनेवाला शुद्ध निश्चयनय है। व्यवहारनय से बद्धस्पष्टपना आत्मा का हो रहा है, ऐसी गाथा १४१ समयसार में कहा है। वर्तमान में शरीर और आत्मा का कोई भेद नहीं है। व्यवहार से बद्धस्पष्टपना भूतार्थ है। निश्चय से अभूतार्थ है। ऐसी गाथा १४ की टीका में कहा गया है।

तथात्मनोऽनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ॥

अतः जब तक संसार है तब तक हमें व्यवहारनय का कथन प्रमाण (सत्यार्थ) मानकर आत्मा, शरीर को कथंचित् एक ही कहना चाहिये। यदि हम व्यवहारनय को छोड़ देते हैं, तो केवली भगवान् के स्थान विहारादि क्रियाएं नहीं बनेंगी। तथा समस्त संसारी जीवों के कर्मोदय से स्वभाव का घात नहीं बनेगा। देखो प्रवचनसार की गाथा ४५-४६ की टीका:—उसमें स्पष्ट कर दिया है कि केवली भगवान की क्रियाएं औदयिक हैं। मोह के अभाव से नवीन बन्ध न करने से क्षायिकी भी हैं। इससे सिद्ध होता है कि अभी कर्म का सम्बन्ध अर्हंत के भी हैं, तभी वे नो संसारी बने हुए आयुपर्यन्त शरीर के साथ ठहरते हैं।

वायु के निमित्त से समुद्र के उत्तरंग होने का दृष्टांत आत्मा की कर्म विपाक से संभव संसारावस्था का दृष्टान्त कथा में दिया है। उससे भी आत्मा शरीरी सिद्ध होता है। समयसार कर्त्ताकर्म अधिकार ८३ गाथा:—

टीका:— दृष्टान्तः तथा संसारनिःसंसारावस्थयोः पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभव निमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यान्तेषु ससंसारितःसंसारावस्थेव्याप्य ससंसारं निःसंसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत् ॥

भावार्थ—आत्मा के परद्रव्य-पुद्गल कर्म के निमित्त से संसारयुक्त और संसार रहित अवस्था हैं। आत्मा उस अवस्था-रूप से स्वयं ही परिणत होता है।

यहां स्वयं शब्द से यही अर्थ लेना कि निमित्तमंतरेण न परिणते। परन्तु निमित्त को उपादान नहीं बना लेता। उपादान दोनों हो जावे तो चेतन अचेतन हो जावे यानी कोई सीमा ही न रहे।

यदि इन कर्म नोकर्म-रूप निमित्तों को छोड़ दिया जाय और आत्मा को सर्वथा अबंध अमूर्तिक ही मानें, तो मतिज्ञानादिक की सिद्धि ही नहीं होगी।

क्योंकि मतिज्ञान आदिक क्षयोपशम से प्रकट होनेवाले विभाव-रूप आत्मा के निजतत्व हैं। विभाव का अर्थ अपूर्ण लेना, पर मिथ्या नहीं लेना। सम्यग्दर्शन हो जाने पर मतिज्ञानादि सम्यक् हो जाते हैं। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, तथापि तारतम्य क्षयोपशम बिना नहीं बन सकता। क्षयोपशम ने ज्ञायक-स्वभाव आत्मा को नहीं बनाया। ज्ञायक-स्वभाव तो स्वयंसिद्ध है। फिर क्षयोपशम ने क्या दे दिया ? गुण, द्रव्य, या पर्याय ? ऐसा बहुत से लोग पूछा करते हैं। सो स्वाभाविक नियम तो ऐसा ही है कि कोई द्रव्य के गुण पर्याय कोई द्रव्य में नहीं जाते। देखो गाथा १०३, तथापि परस्पर के निमित्त के

कारण जो शक्ति कर्मोदय से आवृत थी, सो क्षयोपशम के निमित्त से एकदेश व्यक्त हो जाती है। कर्म का आवरण आत्मा पर सिद्ध ही किया है। अतः क्षयोपशम भी मानना चाहिये। 'समयसार' गाथा ८० में परस्पर निमित्त नैमित्तिकपना कहा है:—

जीवपरणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ॥
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमई ॥ ८० ॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाणदोण्हं पि ॥ ८१ ॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणां ण दु कत्ता सव्वभावाणां ॥ ८२ ॥
णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणां ॥ ८३ ॥
ववहारस्स दु आद पुग्गलकम्मं करेई णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयई पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ८४ ॥

इस तरह दोनों का कथन स्पष्ट है। यहां शरीर के सम्बन्ध का कथन या क्षयोपशम का कथन व्यवहारनय से ही प्रमाण करना चाहिये। अतः आत्मा को बद्धस्पृष्ट मानना चाहिये। आगे ८५वीं गाथा में जो दोष दिया गया है वह दोष उपादान की दृष्टि की अपेक्षा से है, न कि एक उपादान और एक निमित्त की दृष्टि से।

आचार्य बतलाते हैं कि आत्मा का काम न शुभ कार्य करने का है और न अशुभ। निश्चयनय की अपेक्षा से जैसे नींबू में यदि थोड़ा-सा पारा डाल दिया जाय तो वह इधर-उधर उछलने लगता है, क्योंकि पारा का स्वभाव चञ्चल रहता है, वैसे ही जीवात्मा का भी हाल है। यद्यपि आत्मा स्वभाव से कर्ता नहीं है, परन्तु पर के संयोग से यह जीव आत्मा को कर्ता मान कर बैठ गया है। वह रात-दिन कहता रहता है कि—मकान का कर्ता, दुकान का कर्ता, खेत का कर्ता, स्त्री और पुत्र आदि का कर्ता मैं हूं, किन्तु आचार्य बारम्बार कहते हैं कि—हे जीवात्मन! तू ने क्या किया? ये सभी वस्तुयें अनादिकाल से विद्यमान हैं। जब लकड़ी थी, तभी तूने कुर्सी बनाई; मिट्टी थी, तो घड़ा बनाया; इसमें तूने क्या विशेषता की? अर्थात् कुछ भी नहीं। पर अज्ञानी जीव पर पदार्थ को ही अपना मान कर स्वयं कर्ता-धर्ता बन कर बैठा है।

हे जीवात्मन्! जो भी तूने किया वह सब कालान्तर में नष्ट हो जायेंगे। जब जीव पर में फंस जाता है, तब उसी के रूप में हो जाता है। जैसे—कार्यालय में जाते समय उसी के समान पोशाक

पहन कर जाना पड़ता है। इसी प्रकार यह जीव जिसको अपना मानता है, उसी में लगा रहता है। सदा उसी का गुणगान करता रहता है, परन्तु निश्चयनय से जीव किसी का भी कर्ता-धर्ता नहीं है। वह अखण्ड अविनाशी अपने स्वभाव में रहनेवाला है। जैसे—एक आदमी किसी को यदि मारने के लिये चलता है, तो पहले वह स्वयं अपने हाथ को उठाता है। इसी प्रकार इस जीव को जैसा-जैसा निमित्त मिलता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा में परिस्पन्द होता जाता है, और निमित्त के अनुसार कार्य करता रहता है। जैसे—यदि कोई नृत्यकार नृत्य करने लगता है, तो उसे देखनेवाला भी उसमें मग्न होकर अपने स्थान पर खड़े-खड़े ही पैर हिलाने लगता है। जिस प्रकार चाँदी का आभूषण बना कर ऊपर से सोने का पानी फेर देते हैं, उसी प्रकार परम विशुद्ध आत्मा के साथ बनावटी वस्तुयें लगी हुई हैं। यह जीव अपने को पाप के फल में दुःखी और पुण्य के फल में सुखी मानता रहता है, परन्तु यह सब पर-पदार्थ हैं। असली वस्तु तो सर्वदा असली ही रहेगी, और नकली, नकली ही। जैसे—मिट्टी का खिलौना नकली होने पर भी बाहरी चमक-दमक द्वारा सजावट करने से मिट्टी मालूम पड़ती है, परन्तु जब उसे पानी में डाल देते हैं तो वह तत्काल गल कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, इसी प्रकार यह आत्मा कर्मों से लिप्त होने पर मालूम नहीं पड़ता, किन्तु जब इसे तप-रूपी अग्नि में तपाया जाय अथवा शान्ति-रूपी पानी में डुबोया जाय तो यह पिघल जाता है। जिस प्रकार विशुद्ध ब्राह्मण यदि वेश्या के घर जाकर उसका समागम कर ले तो वह विशुद्ध होने पर भी शूद्र माना जाता है, उसी प्रकार पर-पदार्थों के संसर्ग करने से अखण्ड अविनाशी परम विशुद्ध आत्माराम की दशा भी ऐसी ही है।

हे जीवात्मन्! यदि तू पर-पदार्थों को आत्मा का कर्ता मानता है तो तुझको शरीर के अवसान काल में सांसारिक समस्त वस्तुओं को परलोक में साथ लेकर जाना चाहिये, पर ऐसा कदापि नहीं हो सकता। अरे, संसार की वस्तुओं की बात तो दूर रही, तेरे साथ तो तेरा शरीर भी नहीं जा सकता। जिसे तूने रात-दिन साबुन, सोडा लगा कर खूब मल-मल कर साफ किया था तथा सुगन्धित विविध भांति के तेल, इत्र आदि लगा कर खूब शृङ्गारित किया था।

इतना होने पर भी यह मोही जीव सदा 'मेरा-मेरा' चिल्लाता रहता है, और अपने को कर्ता मानता है। पर यदि निश्चय से देखा जाय, तो यह अपने शुद्ध स्वभाव का कर्ता स्वयमेव है। जिस प्रकार संसार में परिभ्रमण करनेवाला चतुर व्यक्ति राजस्थान, पाकिस्तान तथा हिन्दुस्तान आदि का भेद पूर्ण-रूप से समझता है; और उसे जान कर सर्वत्र भ्रमण करते हुये भी हर स्थान को छोड़ कर अपने निज स्थान में पहुँच जाता है तथा जिस स्थान में जो वस्तु प्रचलित रहती है, उसका वहीं पर प्रयोग करता है। अर्थात् हिन्दुस्तान में चलनेवाले नोट का प्रयोग हिन्दुस्तान में करता है, और पाकिस्तान में चलनेवाले का प्रयोग पाकिस्तान में। क्योंकि यदि ऐसा न करके विपरीत स्थान में प्रयोग कर दे, तो उसे धोखा खाना पड़ता है, यानी एक स्थान में चलनेवाला नोट किसी दूसरे स्थान में नहीं चल सकता।

इसी प्रकार भेद विज्ञान का स्वरूप है। ज्ञानी आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को आप लेकर संसार-सागर से सरलतापूर्वक पार हो जाता है। यही आत्मा के स्वरूप को जानने की विधि है।

जब जीव को स्व-पर का भेद विज्ञान हो जाता है, तो वह उसमें मग्न होकर सदा हँसता रहता है, क्योंकि वह अपनी निजी वस्तु को अपने पास समझता है। जैसे—दो भाइयों का परस्पर में बंटवारा करते समय मकान के मध्य में पार्टीसन डाल करके दो भागों में विभक्त कर दिया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव शरीर से आत्मा को पृथक् मानता है। वही शरीर को शत्रु समझता है, और आत्माराम को अपना परम मित्र। ब्राह्मण के द्वारा उत्पन्न अन्न को यदि ब्राह्मण भक्षण करे तो वह परिपुष्ट हो जाता है, पर यदि ब्राह्मण होकर शूद्रान्न भक्षण करे तो वह क्षीण होता जाता है।

अतः आचार्य कहते हैं कि—हे जीवात्मन्! तुम अपने निज-स्वरूप को ध्यान में रख कर भवोदधि पार करने रूप परमात्मा का चिन्तन सदा करते रहो।

स्थान	तिथि : आषाढ़ बदी ११ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।	ता० १३-६-५८

पर को आत्मा मानने का निषेध

देहादिउ जे परकहिया ते अप्पाणु ण होहिं।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ अप्पा अप्प मुणेहि॥ ११॥

हे जीवात्मन्! देह आदिक आत्मा से भिन्न कहे गये हैं, वे आत्मा नहीं हो सकते। इस तत्व को समझे बिना तू अपने आत्मा को आत्मा-रूप से कैसे स्वीकार कर सकता है? इसलिये सबसे पहले तू अपने आत्मा को आत्मा मान। यही पर से भिन्नता का ज्ञान तुझे करा देगा। जो जीव आत्मा से भिन्न शरीरादि पर पदार्थों को और उनके निमित्त से होनेवाले पर-भावों को आत्मा और आत्म-भाव मानता है, वह अन्तरात्मा नहीं है। अन्तरात्मा तो वह है, जो शरीरान्तवर्ती ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववान् आत्मा को ही आत्मा-रूप से श्रद्धान करता, जानता और तदनुकूल आचरण करता है। इससे विपरीत पर को आत्मा माननेवाला और उसी में रमण करनेवाला अन्तरात्मा न होकर बहिरात्मा ही है। ऐसे बहिरात्मत्व को ही अनन्त संसार का सुख और दुःख को भोगना पड़ता है। बल्कि यों कहना चाहिये कि संसार की सृष्टि करनेवाला एकमात्र बहिरात्मा ही होता है। यहां संसार की सृष्टि से तात्पर्य सांसारिक जड़ या चेतन पदार्थों को बनाने से नहीं, किन्तु निज चेतन तत्व को भूल कर पर-अचेतन तत्व

के संसर्ग से अपने ही आत्मा में अपने द्वारा तरह-तरह के संकल्प और विकल्प जाल में पड़ कर स्वयं ही पञ्चपरावर्तन-रूप संसार की सृष्टि करता है। ऐसा सृष्टि कर्तृत्व बहिरात्मा के पल्ले ही में पड़ता है। अन्तरात्मा तो इससे योजनों दूर रहता है। उसके विचारों में, उसकी प्रवृत्ति में तथा उसके भावों में संसार के कर्तृत्व का अंश नहीं है; क्योंकि वह स्वभावतः भेद-विज्ञानी होता है। भेद-विज्ञान की अलौकिक कला उसकी आत्मा में स्वतः जागृत हो उठती है। वह तो उस हंस के समान है, जिसके मुख का स्पर्श होते ही दूध-दूध-रूप से पानी-पानी-रूप से पृथक हो जाता है। ठीक इसी प्रकार से जो आत्मा भेद-विज्ञान प्रधान होता है, उसकी दृष्टि में जितना चेतन अंश है, उतना आत्मा है, और जितना अचेतन अंश है, उतना जड़ शरीर है। यह जबर्दस्त भेद-विज्ञान की खाई जब आत्मा के अन्दर पैदा हो जाती है, तब पुनः उन दोनों का मिलना तीन काल में भी सम्भव नहीं है। जैसे—किसी विशाल पर्वत की शिखर पर उल्कापात होने से जो दरार पड़ जाती है, वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही है। उसका घटना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं। ठिक इसी प्रकार से जब आत्मा के अन्दर भेद-विज्ञान जैसी बिजली का चमत्कार चमक उठता है, तब उसके अन्दर मिथ्यात्व की अन्धेरी का पुनः प्रवेश करना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। भेद-विज्ञान वह पैनी लोहे की छैनी के समान है, जो जबर्दस्त काष्ठ को छिन्न-भिन्न करके पृथक कर देती है। उसी प्रकार यह भेद-विज्ञान-रूपी पैनी छैनी भी आत्मा और जड़ पुद्गल तत्व को पृथक करने में अपूर्व और अचिन्त्य शक्ति रखती है। यही अन्तरात्मा में बहिरात्मा से खास विशेषता है। जो संसार के बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके मुक्ति के अविनश्वर सुख से उसको मिला देती है। ऐसा समझ कर हे आत्मन्! तुम बहिरात्मपन को छोड़ कर अन्तरात्मा बनने का सफल प्रयत्न करो।

अन्तरात्मा विचार करता है कि—यह जीव जैसे-जैसे पुण्य और पाप करता है, वैसे-वैसे ही उनके अच्छे और बुरे फलों को भोगता है। हे आत्मन्! जबतक तू बाह्य पदार्थों को अपना मानता रहेगा, तबतक तुझे आत्मिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता। पर-द्रव्य के परमाणु जबतक तेरे साथ लगे रहेंगे, तबतक वे तेरी आत्मा में राग और द्वेष आदि विकारी भावों को उत्पन्न करते रहेंगे। इस तरह से संसार में जन्म-मरण के दुःखों में तेरा आत्मा पड़ा ही रहेगा। तू ने इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय को बड़ी कठिनता से प्राप्त किया। यदि इसे प्राप्त करके भी तू आत्मज्ञान-रूपी झाड़ू के द्वारा आत्मा के अन्दर रहनेवाले राग, द्वेष, मोह, मान, माया आदि कचरे को अपनी आत्मा से निकाल कर बाहर नहीं फेंकेगा, तो तेरा आत्मा साफ कैसे होगा? और जब आत्मा ही साफ नहीं होगा, तब तो तुझे एक गति से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में और तीसरी से चौथी में—इस प्रकार चारों गतियों में अनन्तकाल तक चक्कर काटना ही पड़ेगा। गृहस्थ कहता है कि—मैं घरमें रह कर घण्टों ध्यान करता हूं, मैं मुनिव्रतका घरमें रहते हुये पालन करता हूं, मुझे साक्षात् आत्मा का दर्शन होता है; किन्तु आचार्य कहतेहैं कि—जो इस प्रकार का अहंकार करता है, वही बहिरात्मा है। बाहर के क्रिया-काण्ड को छोड़नेवाले कभी निज-स्वभाव को

प्राप्त नहीं हो सकते, क्योंकि निमित्त के बिना कोई काम नहीं हो सकता। एक बार एक मुनि ने चार महीने का उपवास धारण किया, पश्चात् जब वे वहां से चले गये, तब वहां कोई दूसरे मुनि आये। उनसे किसी ने पूछा कि—आप वही मुनि हैं, जिन्होंने चार महीने का उपवास किया था? वे बोले कि—हां, मैं वही मुनि हूं। इतना कहने मात्र से ही, उन्होंने पाप का बन्ध करके अपनी गति को बिगाड़ लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि—चाहे कोई मुनि हो या गृहस्थ हो, सभीको अपने भावोंके अनुसार ही फल प्राप्त होता है। जबतक पानी के अन्दर मसाला न हो, तबतक गन्दा कपड़ा साफ नहीं हो सकता। कपड़े की गन्दगी तो तभी दूर होगी, जब उसको निकालनेवाली द्रव्य का पानी के साथ सम्बन्ध होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि—जब द्रव्य और भाव दोनों मिलेंगे, तभी काम हो सकेगा। न तो केवल भावसे होगा, और न केवल द्रव्य से ही। जबतक आत्मा का संबंध शरीर के साथ रहेगा, तबतक बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की क्रियाओं को अपनाना पड़ेगा। फिर गृहस्थ आश्रम में रहते हुये तू कैसे कहता है कि—मैं तो मुनियों के समान भाव रखता हूं। अतएव घर में रहते हुये मुनि व्रत का पालन करता हूं। यह तेरा कहना बिलकुल मिथ्या है। जैसे बिना सोडा या साबुन के केवल पानी से कपड़ा साफ नहीं हो सकता, वैसे ही बिना द्रव्य की सहायता के केवल भावों की शुद्धि नहीं हो सकती। भाव शुद्धि के लिये द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है, और भाव पूजा के लिये द्रव्य-पूजा की सामग्री की आवश्यकता है। अगर गृहस्थ द्रव्य-पूजा छोड़ कर केवल भाव-पूजा करेगा, तो कभी काम नहीं बनेगा, और भाव को छोड़ कर केवल द्रव्य-पूजा करेगा, तो भी काम नहीं बनेगा। इसलिये गृहस्थ को द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की पूजा करना आवश्यक कर्तव्य है। जैसे—पानी के बिना मछली जिन्दा नहीं रह सकती। उसी प्रकार गृहस्थ-धर्म को पालन किये बिना गृहस्थ का धार्मिक जीवन नहीं बन सकता। गृहस्थ जिस समय मन्दिर बनवाने का भाव करता है, उस समय उसे भावों के अनुसार पुण्य बन्ध होता है। यद्यपि मंदिर बनवाने में जमीन खुदवाना पड़ती हैं; ईंट, चूना पत्थर आदि लगवाना पड़ते हैं, पानी का भी उपयोग करना पड़ता है। इसमें हिंसा अवश्य होती है, परन्तु उसका भाव हिंसा करने का नहीं है। उसके भावों में तो धर्मायतन को बनवाना है, जिसमें बैठ कर हजारों लाखों जीव धर्म-साधन कर आत्म-कल्याण कर सकें। जबतक वह मन्दिर रहेगा, तबतक कोई न कोई गृहस्थ उसमें जाकर भगवान् की पूजा, जिनवाणी का स्वाध्याय, सामायिक, स्तुति विधान आदि अनेक प्रकार के धार्मिक कार्यों को करते हुये धर्म प्रभावना करते ही रहेंगे। इसलिये उस गृहस्थ को पुण्य का ही बंध अधिक होगा, पाप का नहीं।

स्वयम्भू स्तोत्र में भगवान् समन्तभद्र स्वामी स्तवन करते हुये इस प्रकार कहते हैं :—

पूज्यंजिनंत्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालंकणिकाविषस्य, नु दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ॥

हे जिनेन्द्रदेव! आप त्रिलोक पूज्य हैं, आप के गुणों की पूजा करनेवाले भक्त के सामग्री आदि

के एकत्रित करने में जो थोड़ा-बहुत दोष लगता है, वह विशाल पुण्यराशि में दोष को पैदा करने में समर्थ नहीं है। जैसे अगाध गम्भीर समुद्र में डाली हुई विष की कणिका विष के दोष को पैदा करने में समर्थ नहीं है, वैसे ही गृहस्थ को धार्मिक अनुराग के साथ मन्दिर आदि के बनवानेमें जो पुण्य का संचय होता है, उसमें हिंसा-जनित दोष पाप को पैदा करने में समर्थ नहीं है। 'सागार धर्मामृत' में भी इसी आशय को पुष्ट करनेवाली एक पंक्ति उसके कर्ता पण्डितप्रवर श्री आशाधरजी ने लिखी है :—

"तत्पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मसम्बन्धः" अर्थात् वह पाप पाप होते हुए भी उस कार्य में पाप नहीं गिना जाता है जिसमें पुण्य की अधिकता या प्रचुरता होती है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पंचपरमेष्ठी हमारे इष्ट हैं। इसलिये हम इनको मानते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि अगर सरसों के दाने के बराबर या जौ के दाने के बराबर जिनमूर्ति का निर्माण कराके मन्दिर में यदि उसकी स्थापना करता है तो देव भी आकर उसकी पूजा करते हैं। अत: बड़ी-बड़ी विशाल मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराकर विराजमान करनेवालों की तो कहना ही क्या है? ऐसे धर्मात्मा तो अपने भावों के अनुसार तीर्थंकर प्रकृति जैसी महान् लोकोत्तर प्रकृति का बंध करके त्रैलोक्य पूज्य बन सकते हैं। यह है द्रव्य के साथ भावों का फल! जो मन्दिर या मूर्ति का निर्माण कराते हैं वे भव्यात्मा स्वयं तो धर्मात्मा होते ही हैं परन्तु भविष्य में असंख्यात जीवों को भगवान् के दर्शन द्वारा पुण्यबंध कराके पुण्य की प्रशस्त पद्धति को चलाये रखने में कारण होते हैं। जो लोग भगवान् के गुणों की पूजा करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान् परमात्मा की पूजा करें। वे यह न देखें कि भगवान की अमुक मूर्ति का कान ठीक नहीं है, नाक ठीक नहीं है, तो इसका वर्ण गौर नहीं है, तो इसका वर्ण काला है, तो इसका पाषाण ठीक नहीं है, यह विचार मूर्ति-पूजा के साधक न होकर बाधक ही होंगे। इस प्रकार के विचारवान् पुरुष मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान् की पूजा करने के इच्छुक न होकर पाषाण की मूर्ति के ही पूजक कहलायेंगे। और इस तरह से मूर्ति-पूजा के द्वारा जो कुछ भी पुण्य का लाभ होना चाहिये वे उससे वंचित ही रहेंगे। गृहस्थ आरम्भ हिंसा का त्यागी नहीं होता, क्योंकि उसे गृह सम्बन्धी कार्यों में आरम्भ करना ही पड़ता है और जहां आरम्भ होता है वहां उसके निमित्त से हिंसा अवश्य ही होती है। ऐसी हिंसा का त्याग गृहस्थ के प्राय: असंभव है। लेकिन कोई गृहस्थ दवा तैयार करने के लिये यह कहे कि मैं रात में अग्नि कैसे जलाऊं? पानी गर्म कैसे करूं? क्योंकि इसमें तो बड़ा आरम्भ होता है और उस आरम्भ से होनेवाला पाप मैं अपने सिर पर क्यों लूं? इसलिये मैं तो किसी डाक्टर या वैद्य की दूकान से बनी हुई दवा लेकर अपना काम चलाऊंगा, इससे मैं हिंसा के पाप से भी बचूंगा और रोग से भी मुक्त हो जाऊंगा, लेकिन उसका यह विचार धार्मिकता से सम्बन्ध नहीं खाता। क्योंकि अपने हाथों से अपने ही घर पर तैयार की हुई शुद्ध दवाई के लेने में उसे उतना पाप नहीं लगता जितना कि बाजारू वैद्य या डाक्टर की तैयार की हुई या कराई हुई दवाई के लेने में लगता

है। क्योंकि जो बाजारू दवाइयां होती हैं उनके बनाने में जीवहिंसा के बचाव का जरा सा भी ध्यान नहीं होता, उनके बनानेवालों का लक्ष्य तो पैसा कमाने का होता है, जीवरक्षा का नहीं। अतः घर पर तैयार की हुई दवाई में जीवहिंसा भी कम होती है और वह रोग को दूर करने मे विशेष रूप से सहायक होती है, ऐसा समझकर विवेकी गृहस्थ को हर एक क्रिया में पूर्ण विवेक के साथ काम लेना चाहिये।

प्राचीन काल में बहुधा श्रावक कर्तव्यनिष्ठ होते थे। वे धार्मिक क्रिया-कांड को करने के बाद ही व्यावहारिक जीवन का निर्वाह करने के लिये न्याययुक्त व्यापार आदि उद्योग धन्धे के कार्य करते थे। लेकिन आजकल तो धार्मिक क्रियाओं को जलांजलि देकर लौकिक क्रियाओं के करने में ही लोगों ने अपने कर्तव्य की परिसमाप्ति मान ली है। शास्त्रों में यह प्रमाण मिलते हैं कि अगर किसी मन्दिर में भगवान् का लगातार छह महीने तक अभिषेक पूर्वक प्रक्षाल एवं पूजन न हो तो राजा और प्रजा पर दैवी प्रकोप द्वारा अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अकाल आदि पड़ सकते हैं, जिससे कि समस्त संसार का वातावरण विक्षुब्ध हो उठता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान् का अभिषेक, प्रक्षाल और पूजन न होने से वे नाराज होकर राजा और प्रजा पर उक्त प्रकार के संकट उपस्थित करते हों, वे तो परम पूर्ण वीतरागी हैं, उन्हें न तो अपने अभिषेक, प्रक्षाल, पूजन, स्तवन, संकीर्तन, आदि से कोई राग है और न उनके नहीं करने पर द्वेष है। तो भी उन क्रियाओं के करनेवालों के परिणामों के अनुसार जो उन्हें अतिशय पुण्यबंध होता है उसका फल उन्हें तरह-तरह की सुख-साता को पहुंचानेवाली सामग्रियों का संयोग मिला देता है जिससे वे स्वयं सुखी होते हैं और उनके साथ राजा और सारी प्रजा भी सुभिक्ष, सुकाल आदि के होने से पूर्ण सुख-शान्ति के साथ अपना जीवन व्यतीत करती है। नहीं करने पर धर्म के प्रति अश्रद्धा का भाव होने से धर्म के प्रति आदर और हार्दिक प्रेम न होने से अधर्म रूप प्रवृत्ति होने के कारण पाप का बंध विशेष होता है। इसलिये वे स्वयं संकट में पड़ जाते हैं और राजा-प्रजा को भी संकट का सामना करना पड़ता है।

यह ठीक है कि—जो वीतरागी होता है, वह अपने भक्त के ऊपर न तो प्रसन्न होता है, और न निन्दक के ऊपर नाराज ही होता है। उसकी दृष्टि में प्रशंसक और निन्दक दोनों ही बराबर रहते हैं; क्योंकि उसकी आत्मा में राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाले मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव होने से उसकी आत्मा में राग और द्वेष की तरंगें नहीं उठतीं। वह तो निस्तरंग समुद्र के समान स्थिर और निश्चल रहता है। लेकिन फिर भी जो भक्त हृदय गुणानुरागी बन कर उनके गुणों को श्रद्धा और भक्तिपूर्वक नमस्कार करता है, वह स्वयं ही अपने भावों के अनुसार सुफल का भोक्ता होता है। इसके विपरीत जो उनकी निन्दा करता है, उनके प्रति अनादर और अश्रद्धा का भाव रखता है, वह अपने भावों के अनुसार पाप बन्ध करके उसके दुष्फल को स्वयं ही भोगता है। दोनों प्रकार के प्राणियों के भिन्न-भिन्न भावों में निमित्त कारण वीतरागी अवश्य है, पर वह उनकी आत्मा में कुछ करता-धरता नहीं, किन्तु वे आत्मायें

स्वयं ही अपने भावों के करने और धरनेवाले हैं। इसी अभिप्राय को लेकर भगवान् समन्तभद्र ने 'स्वयंभू स्तोत्र' में स्तुति करते हुये लिखा है :—

न पूजयार्थस्त्वयिवीतरागे, न निन्दया नाथ ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः, पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

हे जिनेन्द्र ! आप वीतराग हैं, इसलिये आपको अपने गुणों की पूजा या भक्ति से कोई प्रयोजन नहीं है; और आप द्वेष-रहित हैं, इसलिये आपको अपनी निन्दा से भी कोई मतलब नहीं है। तथापि आपके पवित्र गुणों की स्मृति मेरी आत्मा को पाप-कर्मों से बचाये रक्खे।

यहां स्तुतिकर्ता आचार्य समन्तभद्र ने भगवान के गुणों की स्तुति का साक्षात् फल पापों से आत्मा की रक्षा करना बतलाया है। इससे यह विदित होता है कि पवित्र भावों से की हुई भगवद्भक्ति भक्त की आत्मा में पवित्रता का संचार करती है। यह भक्त पुरुषों के नित्य प्रति अनुभव में आनेवाली चीज है। इसमें किसी को किसी भी प्रकार का सन्देह या संशय नहीं होना चाहिये। विद्यानन्दी स्वामी ने भी मङ्गलाचरण करते हुये उक्त प्रकार के पवित्र भाव को प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है कि :—

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः ॥

तात्पर्य यह है कि—मोक्षमार्ग की सिद्धि परमेष्ठी के प्रसाद से होती है, इसलिये ही महर्षियों ने शास्त्र के प्रारम्भ में परमेष्ठी का गुणस्तवन-रूप मङ्गल कहा है। यहां यह विचारणीय है कि—क्या दर-असल में परमेष्ठी का गुण-स्तवन मोक्षमार्ग की सिद्धि में कारण है ? तो कहना पड़ेगा कि—हां, वह कर्ता के लिये कारण अवश्य है। जो मोक्षमार्ग की सिद्धि करना चाहता है, वह परमेष्ठी के गुणस्तवन द्वारा सिद्धि को अवश्य ही प्राप्त होता है। यह उसके भावों का ही वैचित्र्य है। परमेष्ठी के गुण तो निमित्तमात्र हैं, उन गुणोंके आश्रय से सिद्धि का इच्छुक अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है। इसलिये यह कहा जाता है कि परमेष्ठी के गुण-स्तवन से मुझे श्रेयो मार्ग की सिद्धि का लाभ हुआ है। पर निश्चय दृष्टि यह मानने को तैयार नहीं है। वह तो यही कहती है कि—मैं स्वयं ही अपने सत्प्रयत्न और सतत उद्योग से उस सिद्धि पर पहुंचा हूं, उसमें मेरे प्रयत्न का ही प्राधान्य है, अन्य किसी का नहीं। कुछ भी हो लेकिन लक्ष्य-सिद्धि में तत्पर रहनेवाला व्यक्ति जब लक्ष्य पर पहुंच जाता है, तब वह गुणग्राही होने के कारण कृतज्ञता के नाते यही कहता है कि—परमेष्ठी के प्रसाद से ही मैं इस सफलता के प्रासाद पर आरूढ़ हो सका हूं। यदि मैं उनके चरणों की शरण ग्रहण न करता तो मेरा इस इष्ट सिद्धि में पहुंचना बहुत ही दुष्कर था। दूसरी बात यह भी है कि :—

"प्रसन्नेन मनसा उपास्यमानो भगवान् प्रसन्न इत्यभिधीयते"—अर्थात् पवित्र मन से उपासना किया

गया इष्टदेव भगवान् अरहन्तदेव आज हम पर प्रसन्न हैं, ऐसा उपासना-प्रधान व्यक्ति कहता है। उसका यह कहना अक्षरशः सत्य है, क्योंकि उसकी आत्मा में जो प्रसन्नता आई है, वह भगवान् के निमित्तसे ही आई है, और उस प्रसन्नता की अवस्थामें वह भगवान् को देख रहा है। इसलिये उसकी दृष्टि में भगवान् भी प्रसन्न नजर आ रहे हैं। यह अपनी प्रसन्नता का आरोप भगवान् में किया जा रहा है। भगवान् न तो प्रसन्न हैं, और न अप्रसन्न। वे तो जैसे हैं, वैसे ही हैं। लेकिन भक्ति के प्रवाह में ऐसा ही व्यवहार होता है, जो युक्ति-संगत भी है। प्रसन्नता का उपादान आत्मा है, लेकिन वह अपने उपादान को गौण कर निमित्त को मुख्य मानता है, तब ऐसा ही व्यवहार करता है।

भक्ति-प्रधान व्यक्ति जब भगवान् की पूजा किसी द्रव्यके सहारे से करनेकी इच्छा करता है, तब उसके पहले उसे भगवान् का अभिषेक करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि शास्त्रों में बिना अभिषेक के पूजन का निषेध है, और अभिषेक के लिये इन्द्रादि देवों द्वारा भी क्षीर-सागर का जल ही लाया जाता है, जो स्वभावतः त्रस जीवों की उत्पत्ति से रहित होने के कारण प्रासुक है। यहां प्रासुक से तात्पर्य त्रस जीवों से रहित है, स्थावर जीवों से रहित नहीं। क्योंकि क्षीर-सागर का जल स्वयं अपकायिक है, इसलिये तो प्रासुक नहीं है, क्योंकि उसमें अपकायिक जीव विद्यमान है। पर त्रस जीवों के न होने से प्रासुक भी है। यह तो हुई इन्द्रादि देवकृत अभिषेक की बात। प्रकृत में जो अभिषेक की बात चल रही है, उसमें तो किसी कूप, तड़ाग, वापिका आदि का जल ही इष्ट है। उसकी प्रासुकता वस्त्र से छानने पर हो जाती है। ऐसा जल अभिषेक के लिये उपयोगी है। इस विषय में यदि कोई यह कुतर्क करे कि जल का लाना और उसका छानना आदि सब आरम्भ है, और जहां आरम्भ होता है, वहां हिंसा अवश्य होती है; और जहां हिंसा है, वहां पर पाप है, इसलिये अभिषेक पाप का कारण है। तो उसकी यहकुतर्क श्रावक के कर्तव्य से च्युत करनेवाली है। या यों कहना चाहिये कि—उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं है, या वह, धर्म कार्य न करना पड़े, इसके लिये, बहाना बना रहा है। ऐसी बहानेबाजी से आत्मा का हित होनेवाला नहीं है। आत्मा का हित तो तभी होगा, जब कि वह अपने कर्तव्य धर्म-कर्म को समझेगा; अन्यथा नहीं।

'आर्ष आगम' में श्रावकों के आवश्यक कर्तव्यों का वर्णन करते हुये लिखा है कि :—

देवपूजा गुरूपास्तिःस्वाध्यायः संयम स्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥

देवों की पूजा, गुरुओं की उपासना, शास्त्रों का स्वाध्याय, संयम का पालन, अनशनादि तपों का तपना, सत्पात्रों को चार प्रकार का दान देना, ये छः श्रावकों के दैनिक कर्तव्य हैं। जो श्रावक हैं, उन्हें उपर्युक्त षट्-कर्मों को अपनी योग्यता के अनुसार नित्य प्रति करते रहना चाहिये। देव-पूजा—यहां देव-पूजा से तात्पर्य अरहन्त देव की शुद्ध अन्तःकरण से शास्त्रोक्त विधि से अरहन्त परमेष्ठी के गुणों को

प्रकट करनेवाले उत्तमोत्तम पद्यों का शुद्ध उच्चारण करते हुये चढ़ाने योग्य द्रव्य, जो पवित्रता के साथ तैयार की गई है, उसे बड़ी ही नम्रता के साथ आदरपूर्वक समर्पण करना ही पूजा है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात भलीभांति सिद्ध होती है कि—पूजक की दृष्टि में केवल द्रव्य को चढ़ाना ही पूजा नहीं है, किन्तु वह द्रव्य जिसको चढ़ाई जा रही है, उसका स्वरूप क्या है, और वह कैसे प्रकट हुआ है, वह स्वरूप मेरी आत्मा में है, या नहीं, यदि है तो वह प्रकट है, या अप्रकट ? यदि अप्रकट है, तो वह प्रकट कैसे हो सकता है ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर क्या हो सकते हैं, इन तमाम बातों का विचार करते हुये या भगवान् की पूजा के पद्यों के अर्थ का बिचार करते हुये जिसमें उपर्युक्त बहुत से प्रश्नों का समाधान भी प्राप्त हो सकता है—मन को स्थिर कर, निराकुलता के साथ अर्थात् घर गृहस्थी सम्बन्धी व्यापार, उद्योग, धन्धे, खेती, किसानी, लेन-देन आदि के विचारों उलझनों से दूर रह कर पूज्य अरहन्त परमेष्ठी के गुणों में अपने मन को लगा कर वचन के व्यवहार को भी पूजाके सिवा इधर-उधर की बातों में न लगाते हुये, शरीर की क्रिया को भी मन और वचन के अनुसार पूजा ही में लगाना वास्तविक पूजा करना है। पूजा के फल को प्रदर्शित करते हुये पूजा-पाठ में एक पद्य रचयिता ने रच कर जो भाव प्रस्तुत किया है, उसकी तरफ पूजक का लक्ष्य दिलाने के लिये हम उसे यहां प्रस्तुत करते हैं :—

स्थान — तिथि : आषाढ़ बदी १२ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। — ता० १४-६-५८

जिनेभक्तिर्जिनेभक्तिर्जिनेभक्तिः सदास्तु मे।
सम्यक्त्वमेवसंसारवारणं मोक्षकारणम् ॥

स्तुतिकर्ता भक्त अपने हृदय के भाव को व्यक्त करता हुआ यह कहे कि—जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणों में मेरी निरन्तर भक्ति बनी रहे, क्योंकि जिनेन्द्र भक्ति ही संसार का संहार करनेवाली है, और जो संसार का संहार करता है, वही सम्यक्त्व है। यहां संसार से तात्पर्य दृश्यमान दुनिया की वस्तुओं का विनाश करना नहीं, किन्तु आत्मा के अन्दर जो अनन्त अन्धकार छाया हुआ है, जिसको शास्त्रीय शब्द में मिथ्यादर्शन कहते हैं, उसका विनाश करना ही है। वह एकमात्र वीतराग सर्वज्ञ अरहन्त परमेष्ठी के परम भक्ति से ही विनष्ट हो सकता है। यद्यपि यह विवेचना व्यवहार मात्र है, तथापि व्यवहार का आश्रय किये बिना निश्चय की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। इसलिये निश्चय पर पहुंचने के लिये भक्त पुरुष व्यवहार का सहारा लेते हैं, और उसका प्रारम्भ अरहन्त परमेष्ठी की भक्ति से ही होता है। इसलिये हे भगवज्जिनेन्द्र ! भव-भव में आप के गुणों में ही मेरी भक्ति हो। शान्ति-पाठ में भी इसी तरह के भाव को अभिव्यक्त करते हुये भक्त कहता है :—

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः ॥

हे जिनेन्द्रदेव ! आप के चरण-कमल मेरे हृदय में और मेरा हृदय आप के चरण-कमलों में तबतक स्थित रहें, जबतक कि मुझे मोक्ष की प्राप्ति न हो जाय । यहां भक्त संसार की दशा से उद्विग्न हो मोक्ष प्राप्ति के लिये उत्कण्ठित हो रहा है, और चाहता है कि—हे भगवान् ! मैं मोक्ष पुरुषार्थ को साधने के लिये प्रयत्नशील हूं, उसकी पूर्ण साधना जबतक न हो, तबतक के लिये मैं आप के चरण-कमलों की शरण का हृदय से अभिलाषी हूं । बिना इसके मोक्षमार्ग पर पहुंचने के लिये कोई चारा नहीं है । जिस जिनेन्द्र भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति सुलभ हो, उससे संसार सम्बन्धी दुर्गतियों के दुःखों का अभाव और सद्गतियों के सुखों की प्राप्ति दुर्लभ कैसे हो सकती है ? वह तो सहस्रे शतन्यायेन गतार्थ है । 'सागार-धर्मामृत' में आचार्यकल्प पण्डित आशाधरजी ने लिखा है कि :—

यथा कथंचिद्भजतां जिनं निर्व्याजचेतसाम् ।
नश्यन्ति सर्वदुःखानि दिशः कामान् दुहन्ति च ॥

जो भक्त-जन निष्कपट भाव से अभिषेक द्वारा, पूजा द्वारा, स्तवन द्वारा या मन्त्रों द्वारा आपके गुणों का चिन्तवन करते हैं, उनके सभी तरह के मानसिक, वाचनिक और शारीरिक, आकस्मिक, दैविक, दुःख विनाश को प्राप्त होते हैं; और सभी दिशाओं में जिधर भी वे जाते हैं, उधर ही उन्हें इष्ट सुखों की प्राप्ति होती है । यह उनके भावों की स्वच्छता जो कषाय की मन्दता पर निर्भर है, उसके प्रभाव से ही होती है । क्योंकि :—

भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः ।
तद्दुष्यन्तमतो रक्षेद्धीरः समयभक्तितः

तात्पर्य यह है कि—जो भाव शुभ हैं, कषाय की मन्दता से उत्पन्न हुये हैं । वे भाव पुण्य प्रकृतियों के आस्रव में कारण हैं, और पुण्य-प्रकृतियों का फल सदा सुख-साता की सामग्री को इकट्ठा कर जीव को सुख पहुंचाने में कारण है । ऐसा समझ कर प्रत्येक सुखार्थी को अपनी कषायों के मन्द करने में सतत् उद्योग करते रहना चाहिये । इसके विपरीत जो अशुभ भाव हैं, वे पाप प्रकृतियों के आस्रव में कारण हैं, और पाप प्रकृतियों का फल सर्वदा अनिष्ट दुःखदायक सामग्री को जुटाने का है । जिसके निमित्त से इस जीव को तरह-तरह के कष्टों को, मानसिक पीड़ाओं को भोगना पड़ता है । इसलिये जो धीर हैं, उनका कर्तव्य है कि वे शास्त्रों के स्वाध्याय से पुण्य और पाप के कारणों को जान कर और उनके निमित्त से होनेवाली सुख और दुःख की सम्पत्ति को पहचान कर सुख के कारणों की ओर झुकें और

दुःख के कारणों की ओर से हटें। कहने का अभिप्राय यह है कि—सुखेच्छु आत्मायें भगवान् के गुणों की भक्ति में उनके द्वारा बताये हुये प्रशस्त मार्ग में लगें, जिससे विशिष्ट पुण्य का संचय होकर इन्द्रियजनित सुखों की प्राप्ति के साथ ही साथ अतीन्द्रिय सुख के प्राप्त करने के पात्र बन सकें। यहां समयभक्तितः पद देकर ग्रन्थकार ने देव-भक्ति के समान शास्त्र धार्मिक कर्तव्यों की ओर प्रेरणा करते हुए 'सागार-धर्मामृतकार' कहते हैं :—

यजेतदेवं सेवेत गुरून पात्राणितर्पयेत् ।
कर्मधर्म्यं यशस्यं च यथोलोकं समाचरेत् ॥

अर्थात्—श्रद्धावान् श्रावक को चाहिये कि वह प्रतिदिन भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करें। साथ ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर परम-शान्तमुद्राधारी वीतरागी साधुओं की उपासना में रत रहें। उत्तम, मध्यम और जघन्य तीनों प्रकार के मोक्षमार्गी पात्रों को यथाशक्ति द्रव्य क्षेत्रकाल और भाव के अनुकूल आहार, औषध, शास्त्र और अभय इन चारों प्रकार के दानों को यथाविधि निर्बाध-रूप से देता रहे। धर्मानुकूल लोकाचार का भी पालन करें, जिससे धर्म-प्रचार में सहायता प्राप्त हो एवं ऐहलौकिक कीर्ति तथा पार-लौकिक सुख समृद्धि की अभिवृद्धि हो। तात्पर्य यह है कि—जिसने सात व्यसन का त्याग और अष्ट मूल गुणों को धारण किया है, तथा अर्हन्त आदि पञ्च-परमेष्ठियों के चरणों की शरण को स्वीकार किया है। अन्य किसी कुदेव आदिक की भक्ति आदि का जिसने जीवन भर के लिये त्याग कर रक्खा है। संसार शरीर और पञ्चेन्द्रियों के विषयों से विरक्ति का भाव जिसका उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। ऐसे दृढ़ श्रद्धानी ज्ञानी उदासीन वृत्तिधारी श्रावक को धार्मिक एवं लौकिक धर्मोद्योतक सत्कर्मों को करते हुए अपना जीवन-यापन करना चाहिए। क्योंकि जीव को सदा सुख देनेवाला सच्चा बन्धु धर्म ही है, अन्य नहीं :—

धर्म एव सदा बन्धुः स एव शरणं मम ।
इह वान्यत्रसंसारे इतितंपूजयेऽधुना ॥

अर्थात्—धर्मात्मा श्रद्धालु श्रावक हृदय से यह पवित्र भावना व्यक्त कर रहा है कि—इस संसार में यदि मेरा कोई बन्धु सच्चा हितैषी या हितकारक है, तो वह एकमात्र धर्म ही है, वही मेरा शरण-रक्षक है। इस जन्म में और पर-जन्म में वही मेरा परम-कल्याणकारक और रक्षक हो सकता है। इसलिये मैं उसी धर्म की आराधना या पूजा करता हूं। यह है धर्म-प्रिय या धर्म-प्राण श्रावक की विचारधारा जो उसके परम-कल्याण को सूचित करती है। ऐसा धर्मात्मा ही अपने धार्मिक कर्तव्यों में निष्ठा अभि-रुचि और तदनुकूल प्रवृत्ति में तत्पर रहता हुआ अन्य पुरुषों को भी अपने जैसा धर्माभिमुखी बनाने में हर तरह से शक्ति सम्पन्न होता है। बहुत से भद्र परिणामी तो उसकी धर्ममय चर्या और उसके धार्मिक

विचारों से ही प्रभावित हो उसके जैसा धर्म धारण और पालन करने में सतत उद्यमशील बन जाते हैं। यह है, सच्ची धर्मात्मा की धार्मिकता। भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा के सङ्कल्पमात्र से सुफल को प्राप्त हुए मेंढ़क का दृष्टान्त देकर ग्रन्थकार श्रावकों को पूजा की ओर अग्रसर करने के हेतु कहते हैं कि :—

यथाशक्तियजेतार्हद्देवंनित्यमहादिभिः।
सङ्कल्पतोऽपितंयष्टाभेकवत्स्वर्महीयते ॥

अर्थात्—पाक्षिक श्रावक को चाहिए कि वह नित्यप्रति भगवान् जिनेन्द्रदेव की नित्यमह आदि विविध प्रकार की पूजाओं से भाव-भक्तिपूर्वक पूजा करें। पूजा का महान् फल तो शास्त्रों में जगह-जगह पढ़ने को मिलते ही हैं। जो परोक्ष हैं, लेकिन हम स्वयं उसे करके अनुभव में लावें तो हमें उनकी अपेक्षा विशेष लाभ होगा। जहां मेंढ़क जैसा क्षुद्र पशु भी केवल भावमात्र से मर कर देव पर्याय को प्राप्त कर सकता हो, वहां मानव जैसा उच्च विवेकी विचारशील विशेष पुण्याधिकारी की तो बात ही क्या है? वह चाहे तो अपने प्रबल पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त कर ले सकता है। स्वर्गीय देव, इन्द्र और अहमिन्द्र आदि पदों को प्राप्त करना उसके लिये तो बांये हाथ का खेल है, जो पूजा आदि विशेष पुण्यास्रव के कारणों से सुलभ है। ऐसा समझ कर हम यहां उन नित्यमह आदि पूजाओं का स्वरूप भी संक्षेप में बताना लाभदायक समझते हैं। जिसके महत्त्व को जान कर धर्म-प्राण श्रावक उसमें दत्तचित्त होकर विशेषातिशय पुण्य के पात्र बनें।

स्थान :
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : आषाढ़ बदी १३ सं० २०१५
ता० १५-६-५८

नित्यमह पूजन का स्वरूप

प्रोक्तोनित्यमहोऽन्वहंनिजगृहान्नीतेनगन्धादिना।
पूजाचैत्यगृहेऽर्हतःस्वविभवैश्चैत्यादिनिर्मापणम् ॥
भक्त्याग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसन्ध्याश्रया।
सेवा स्वेऽपिगृहेऽर्चनंचयमिनांनित्यप्रदानानुगम् ॥

अर्थात्—अपने गृह से लाये गये जल, चन्दन, अक्षत आदि अष्ट द्रव्यों के द्वारा अर्थात् उनके सहारे से भगवान जिनेन्द्र देव के मन्दिर में उन्हीं भगवान् की प्रतिदिन हार्दिक भावों से ओत-प्रोत हो पूजा करना तथा अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार शक्ति को न छिपाते हुए चैत्य-प्रतिमा-मूर्ति एवं मन्दिर आदि का बनवाना तथा ग्राम, मकान, दुकान आदि का दान देना और अपने ही घर में भी भगवान् अर्हन्तदेव की प्रातः, मध्याह्न और अपराह्न इन तीनों सन्ध्याओं में की जानेवाली सेवा तथा मुनिजनों को भी प्रतिदिन आहार दान देना आदि सब नित्यमह पूजा कही गई है। तात्पर्य यह है कि—पूज्य आत्माओं के परम पवित्र गुणों में मानसिक प्रेम का होना ही भक्ति है, उसी का नाम पूजा भी है। ऐसी पूजा तो वास्तविक साक्षात् अक्षरार्थ को लिये साथ ही सत्यार्थ होने से ही उक्त प्रकारकी पूजा के लिये जो साधन सामग्री प्रदान की जाती है, वह भी कार्य-कारण भाव से पूजा में ही परिगणित होती है; इसके अतिरिक्त मन्दिर की सुरक्षा के लिये और आवश्यकतानुसार उसको बढ़ाने के लिये तथा अन्य धर्मोपयोगी साधनों को जुटाने के लिये शास्त्र भण्डार का संग्रह करने के लिये पूजा की सामग्री तथा उपकरण छत्र चमर भामण्डल शास्त्रवेष्टन बर्तन आदि की सुव्यवस्था को ध्यान में रखकर जो ग्राम मकान आदि का दान दिया जाता है वह भी नित्य मह पूजा में ही आ जाता है; ऐसा ग्रन्थकार का अभिप्राय प्रतिभासित होता है। आष्टाह्निक और इन्द्रध्वज पूजा का स्वरूप एवं उनके करने की ओर उसके करने के अधिकारी पात्र कैसे होने चाहिए आदि बातों का खुलाशा—

जिनार्चा क्रियते भव्यै र्यानन्दीश्वरपर्वणि
आष्टान्हिकोऽसौ सेन्द्राद्यैः साध्यात्वैन्द्रध्वजोमहः ॥

अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के शुक्लपक्ष के अन्तिम आठ दिनों में अष्टमी से पौर्णमासी तक भव्यजीवों के द्वारा जो पूजन की जाती है, वह आष्टान्तिक पूजा कही जाती है, यह ठीक है कि नन्दीश्वर द्वीप के बावन चैत्यालयों में विराजमान अनादिनिधन जिन बिम्बों की जो पूजा सद्भाव भक्ति-पूर्वक इन्द्रादि देवों द्वारा की जाती है, वह साक्षात् पूजा है; किन्तु यहां भरतक्षेत्र में कृत्रिम जिन मन्दिरों में नन्दीश्वर महाद्वीप के बावन चैत्यालयों की कल्पना करके जो पूजा की जाती है, वह भी आष्टाह्निक ही है और उसके करनेवाले भी भव्य ही हैं। इन्द्रादि महान ऋद्धिधारी देवेन्द्रों द्वारा जो पूजा साध्य है, अन्य अल्प ऋद्धिधारियों से जिसका सम्पन्न होना अशक्य है; वह इन्द्रध्वज महापूजा है। अब महाद्रुमपूजा का स्वरूप और उसके करनेवाले तथा उसके दूसरे नाम आदि का वर्णन—

भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते।
तदाख्या सर्वतोभद्र चतुर्मुखमहामहाः ॥

अर्थात् मुकुटबद्ध मण्डलेश्वर राजाओं के द्वारा भक्ति भाव-पूर्वक जो भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा की जाती है, वह सर्वतोभद्र-चतुर्मुख और महामह नामों से कही जाती है। तात्पर्य यह है कि जिस पूजा के करने से प्राणी-मात्र का कल्याण सम्पन्न हो वह सर्वतोभद्र है। और जिस पूजा में चतुर्मुखी चारों दिशाओं में मुख दिखाई दें ऐसी प्रतिमायें विराजमान करके राजा लोग स्वयं ही चारों दिशाओं में खड़े होकर पूजन करते हैं, वह चतुर्मुख नाम से व्यवहार में कही जाती है तथा वह पूजा आष्टाह्निक पूजा की अपेक्षा महान है; इसलिये यह महामह कहलाती है—

स्थान :— श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : आषाढ़ बदी १४ सं० २०१५ ता० १६-६-५८

कल्पद्रुम पूजा का लक्षण और उसके करने के अधिकारी का उल्लेख—

किमिच्छकेनदानेन जगदाशाः प्रपूर्यय‌ः।
चक्रिभिः क्रियतेसोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमोमतः ॥

अर्थात्—जो पूजा याचकों की इच्छानुसार इष्ट वस्तुओं के दान द्वारा उनकी इच्छाओं को पूर्ण करते हुए श्रीमज्जिनेन्द्रदेव की लोकातिशायिनी महामहिमायुक्त चक्रियों षटखण्डाधिपति सम्राटों द्वारा की जाती है, उसे कल्पद्रुम पूजा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि—चक्रवर्ती राजेन्द्रों के द्वारा ही किमिच्छक दान दिया जा सकता है। उन्हीं के उक्त प्रकार के दान करने की योग्यता रखनेवाला पुण्य सञ्चित होता है। भरत क्षेत्र छहों खण्डों पर उनका अखण्ड राज्य स्थापित होता है। हजारों देव दानव जिनकी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं, हजारों राजा महाराजा मण्डलेश्वर जिनके अनुशासन में रह कर अपना अहोभाग्य मानते हैं। जिनकी विभूति का वर्णन करना मानव की वचन शक्ति से परे है। जो मनुष्यों का इन्द्र होता है, जिसके पुण्य की सीमा नहीं है, वही महा पुण्यशाली किमिच्छक दान देने का अधिकारी होता है। अतएव वही कल्पद्रुम पूजा करने का अधिकारी है। जैसे कल्पवृक्ष देवों और भोग-भूमियां मनुष्यों को इच्छानुसार पदार्थों को देते हैं, वैसे ही चक्रवर्ती भी भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा के महा अवसर पर याचकों को मुंहमांगा दान देते हैं। अतएव इस पूजा का नाम कल्पद्रुम पूजा

है। इस प्रकार से श्रावकों के षट्-कर्मों में प्रधान देव पूजा के भेद-प्रभेदों का संक्षेप में नामोल्लेखपूर्वक-स्वरूप भी कहने में आ गया है। अब उक्त प्रकार की पूजाओं का करनेवाला किस फल को प्राप्त होता है, इसका भी लिखना अत्यावश्यक है, ताकि पूजा के फल को जान कर लोग इसमें लगें :—

दक्पूतमपियष्टार महंतोऽभ्युदयश्रियः।
श्रयन्त्यहम्पूर्विकया किम्पुनर्व्रतभूषितम्॥

अर्थात्—भगवान् अर्हन्तदेव के सम्यग्दर्शन से पवित्र पूजक को भी जब स्वर्ग सम्बन्धी लक्ष्मी आज्ञा ऐश्वर्य या अणिमा, महिमा, गरिमा आदि ऋद्धियां मैं पहिलेप्राप्त करूं— इस प्रकार से ईर्ष्या करती हैं। तब व्रती, अहिंसा आदि व्रतोंसे सुशोभित चारित्र प्रधान सम्यग्दृष्टि श्रावक की तो बात ही क्या है? उसे तो वे ऋद्धियां अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार भगवत्पूजा के महा फल को जान कर प्रत्येक गृहस्थ को भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा में अनुरक्त होना चाहिए। देव-पूजा के प्रकरण में यद्यपि मुख्यतया अर्हन्तदेव की पूजा का विधान है, तथापि गौण-रूप से सिद्ध और साधु तथा धर्म की पूजा का भी समावेश कर लेना चाहिए। कारण कि—वे भी इस संसार में प्राणीके शरण-रूप है। अर्थात् संसारी प्राणी की इस संसार से रक्षा करनेवाले हैं। जैसा कि नीचे के श्लोक से ध्वनित होता है :—

जिनानिवयजन्सिद्धान्साधून्धर्मंचनन्दति।
तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरणंमंगलंचयत्॥

अर्थात्—भगवान् जिनेन्द्र अरहन्त देवों के समान सिद्ध-परमेष्ठियों की तथा साधुओं की और धर्म की भी पूजा करनेवाला गृहस्थ श्रावक अत्यन्त आनन्द का भागी होता है, क्योंकि वे सिद्ध आदि भी अर्हन्तों के समान लोक में उत्तम श्रेष्ठ हैं, शरण हैं, और मङ्गलकारी हैं। अर्थात् पापों के नाशक और अनुपम आत्मिक आनन्द के देनेवाले हैं। तात्पर्य यह है कि—जैसे अर्हन्त भगवान् की पूजा से आत्मा में निर्मलता होती है, वैसे ही सिद्ध साधु और धर्म की आराधना से भी आत्मा पवित्र होती है। क्योंकि पवित्र आत्माओं के गुणानुवाद से भक्त के परिणामों में बड़ी ही कोमलता, सरलता और शुचिता का प्रादुर्भाव (प्रकट) होता है। लक्ष्यके अनुसार ही लक्षक की भावना बनती है, यह अनुभव सिद्ध है। अगर हमारे सामने कोई रागी या रागी का चित्र होता है, तो हमारे भावों में भी वैसा ही परिणमन होने लगता है। क्योंकि हम उसी राग में पले-पुषे हैं, उसी में बड़े हुए हैं, वह हमारे रग-रग में समाया हुआ है। वैसे ही जब हमारी दृष्टि में कोई वीतराग मुद्रा आती है, तब भी हमारी उसी के अनुरूप वीत-रागतामय परिणति बनने लगती है। उसका कारण हमारी अन्तरङ्ग में छिपी हुई वीतरागता ही है, जो सामने की मूर्ति के देखने से फूट निकलती है। इससे आत्मा में दोनों प्रकार के परिणमन करने की शक्ति विद्यमान है, यह बात सिद्ध होती है। उसमें प्रथम परिणति आत्मा का घात करती है, और दूसरी परि-

णति उसका सुधार करती है, पर उनमें बाह्य कारण निमित्त-रूपसे अपेक्षित होता है। ऐसा निर्णय करके हमें सुधारक कारण की ओर ही लक्ष्य देना चाहिए; बिगाड़क (विराधक) कारण की तरफ नहीं। अतः अरहन्त सिद्ध, साधु और धर्म—ये सब हमारे सुधारक हैं। अतः इन्हीं की पूजा, भक्ति, स्तुति, आराधना, उपासना, ध्यान धारणा आदि हमें करना चाहिए। इसी में हमारी भलाई है, और इसी का हमें निरन्तर स्मरण करना चाहिए। इसके बिना हमारा रक्षक इस संसार में अन्य कोई भी नहीं है, और न हो सकता है।

जैसा कि—'समाधि-भक्ति' में अपने भावों को व्यक्त करते हुए आचार्यश्री ने कहा है :—

अनन्तानन्तसंसारसन्ततिच्छेद कारणम् ।
जिनराजपदाम्भोजस्मरणंशरणंमम ।।
अन्यथाशरणंनास्तित्वमेवशरणंमम ।
तस्मात्कारुण्यभावेनरक्ष-रक्षजिनेश्वर ।।
नहित्रातानहित्रातानहित्राताजगत्त्रये ।
वीतरागात्परोदेवोनभूतोनभविष्यति ।।

अर्थात्—अनादिकालिक अनन्तानन्त चतुर्गति परिभ्रमण-रूप संसार के सम्बन्ध का मूलतः विनाश करनेवाले भगवान् जिनेन्द्र देव के श्री चरण-कमलों का स्मरण ही मेरा सच्चा रक्षक, संसार के कष्टों से पार करनेवाला है। मेरा अन्य कोई दूसरा परिपालक नहीं है, आप ही मेरे सच्चे परिपालक हैं। अतएव हे भगवन्! मुझ पर करुणा कीजिये, और मेरी रक्षा कीजिये। इस चराचर जगत् में हे भगवन् आप जैसे वीतरागी देव को छोड़ कर अन्य कोई भी देव मेरी तथा अन्य दुःखी संसारी प्राणियों की रक्षा करनेवाला नहीं हैं, और न था और न होगा। जहां पूज्यपाद स्वामी जैसे—महान दिग्गज आचार्य, भगवान् अरिहन्त परम-वीतरागी सर्वदर्शी सर्वज्ञ प्रभु के चरणों को ही अपना रक्षक संसार-संहारक और मुक्ति-प्रदायक स्वीकार करते हो, वहां हम सरीखे संसार-सन्तप्त प्राणियों की तो बात ही क्या है ? जो निरन्तर तरह-तरह की आधि-व्याधियों के शिकार हो रहे हैं। हमें तो उनके चरणों की शरण को स्वप्न में भी नहीं भूलना चाहिए। उनके चरणों की शरण-रूप नौका ही हमको संसार-समुद्र से पार कर देगी। उसी का स्मरण हमें प्रति समय करते रहना चाहिए। जिससे हमारी कषायें मन्द हों, और विषयों से विरक्तता का भाव दृढ़ होता जाय, जो हमारे लिये उक्त नौका के चलाने में पतवार का काम करेगा। जो हृदय से भगवज्जिनेन्द्र की भक्ति करते हैं, उनकी मनोवृत्ति विषय-कषाय से विरक्त हो जाती है। जैसा कि हम सोलह कारण भावना की जयमाला में पढ़ा करते हैं कि—जो अरहन्त भगति मन आने, सो जन विषय-कषाय न जाने। यह विषय-कषाय से होनेवाली विमुखता वस्तुतः अरहन्त-भक्ति का ही माहात्म्य है। क्योंकि जैसा आदर्श होता है, वैसा ही उसका

प्रभाव पड़ता है, ऐसा स्वाभाविक नियम है। अतः अरिहन्त परमात्मा पूर्ण विषय-कषाय से शून्य हैं। अतएव उनका सच्चा भक्त भी वैसा ही होगा। इसमें सन्देह के लिये स्थान ही नहीं है।
गुरुओं की उपासना की प्रेरणा करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

उपास्या गुरवोनित्य मप्रमत्तैः शिवार्थिभिः।
तत्पक्ष ताक्ष्यपक्षान्तश्चरा विघ्नोरगोत्तराः॥

अर्थात्—जो आत्महितैषी हैं, संसार के अपार दुःखों से ऊब उठे हैं अतएव मोक्ष के इच्छुक हैं, उन्हें चाहिए कि वे प्रमाद असावधानी या लापरवाही को छोड़कर संसार समुद्र से स्वयं तरनेवाले और दूसरों को भी तारनेवाले परम दिगम्बर गुरुओं की उपासना में तत्पर हो। उनकी उपासना भक्ति-पूजा गुण स्तुति-रूप गरुड़पक्षी के मात्र पंख—उनके उत्तमोत्तम भक्ति-रूप कार्य में आनेवाले विघ्न उपद्रव-रूप सर्पों को सर्वथा विलय को प्राप्त करा देते हैं। तात्पर्य यह है कि शुद्ध हृदयसे की गई गुरूभक्ति मुक्तिमार्ग में आनेवाले विभिन्न प्रकार के अन्तरायों का अन्त कर देती है। जैसे गरुड़पक्षी-राज के केवल पंखों के रहते हुए भयंकर से भयंकर सर्पों का रहना असम्भव हो जाता है, वैसे ही हार्दिक गुरूभक्ति के होने पर आनेवाले विघ्नों का बिलकुल ही अभाव हो जाता है; सो ठीक है। अप्रतिहत प्रकाश के रहते हुए अन्धकार कैसे टिक सकता है, अर्थात नहीं टिक सकता। गुरू भक्ति वह अमूल्य रत्न है जिसका तीन लोक में कोई भी मूल्य नहीं है। उसके द्वारा यदि इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्ती व तीर्थंकर जैसा पद प्राप्त हो जाय तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? कविवर पं० श्री बनारसी दास जी ने गुरुओं की स्तुति करते हुए कहा है कि—

मिथ्यात दलन सिद्धान्तसागर मुक्ति मारग जानिये।
करनी अकरनी सुगति दुर्गति पुण्य पाप पिछानिये॥
संसार सागर तरन तारन गुरु जहाज सुपेखिये।
जग मांहि गुरु सम कहे बनारसी और न दूजो देखिये॥

अर्थात्—बनारसी दास जी कहते हैं कि इस संसार में मिथ्यात्व के नाशक सिद्धान्त के पारगामी और मोक्षमार्गी अतएव स्वयं ही संसार समुद्र से पार होनेवाले और दूसरों को भी पार उतारनेवाले जहाज के समान एकमात्र निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरू ही हैं, जो शुभ कार्य को सुगति का और अशुभ कार्य को दुर्गति का कारण बताते हैं, उन गुरूओं सरीखा दूसरा कोई भी इस भयंकर संसार समुद्र से पार उतारनेवाला नहीं है। ऐसा निश्चय करके हमें गुरूभक्ति में तत्पर रहना चाहिए। सच्ची गुरूभक्ति से ही हमारा बेड़ा पार हो सकता है, अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति का एक मात्र अमोघ उपाय गुरू-

भक्ति ही है, जिस गुरुभक्ति से मुक्ति की प्राप्ति सुलभ हो उस गुरुभक्ति से क्या सांसारिक उच्च पद विपुल वैभव अलौकिक ऐश्वर्य की प्राप्ति दुर्लभ हो सकती है, अर्थात् नहीं, कभी नहीं।

गुरु भक्तिः सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वानसाधयेत् ।
त्रिलोकीमूल्यरत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्करः ॥

अर्थात्—उत्तम श्रेष्ठ निश्छल और निष्काम-भाव से की गई गुरुभक्ति भक्त के लिये मुक्ति प्रदान करती है, वह भक्ति संसार के किसी इष्ट पद को न दे सके यह कैसे हो सकता है ? जिस रत्न के द्वारा तीनों लोक खरीदे जा सकते हों क्या उस रत्न से घांस फूस का मिलना कठिन हो सकता है; अर्थात् नहीं, कभी नहीं, किसी भी तरह से नहीं।

वह गुरुभक्ति कैसे करना चाहिए इस पर विचार करते हैं।

निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुरोर्मनः ।
प्रविश्यराज वच्छश्वद्विनयेनानुरञ्जयेत् ॥

अर्थात्—कल्याणेच्छु पुरुष राजा के समान अर्थात् जैसे राजा का सेवक राजा के मन में प्रवेश करके निष्कपट भाव से उसके अनुकूल आचरण से उसके ही अनुकूल मानसिक विचारों से उसको खुश कर लेता है, वैसे ही भक्त पुरुष को चाहिए कि वह छलकपट रहित गुरू के लिये अतिप्रिय निर्मल मन के विचारों से गुरू के मन को बड़ी ही विनय और नम्रता से उन्हें अपने ऊपर हमेशा प्रसन्न करे। तात्पर्य यह है कि गुरुभक्ति प्रधान श्रावक मन वचन और काय इन तीनों योगों से अपने आराध्य परमोपास्य गुरुदेव को अपने ऊपर सर्वदा प्रसन्नचित्त रखे। अर्थात् जब कभी गुरूजी सामने आयें तो शीघ्र ही खड़े हो जाना; मस्तक झुकाना; नमोऽस्तु आदि नम्रतासूचक शब्दों का बोलना उनके गुणों में हार्दिक प्रेमपूर्ण भक्ति रखना। उन गुरूओं की विनय कैसे करनी चाहिए उसका तरीका क्या है—

पार्श्वेगुरूणांनृपवत्-प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः ।
अनिष्टाश्चत्यजेत्सर्वा मनो जातु न दूषयेत् ॥

अर्थात्—गुरूओं की उपासना करनेवाला गुरुभक्त श्रावक राजाओं के समीप में राजविरूद्ध क्रियाओं को नहीं करनेवाले सेवक के समान गुरूओं के समीप में राग, द्वेष, काम, क्रोधादि विकारको उत्पन्न करनेवाली और शास्त्र विरुद्ध सभी तरह की क्रियाओं का परित्याग कर देवे और गुरूओं के मन को कभी भी कलुषित न करे किन्तु सदा खुश करें। तात्पर्य यह है कि जो गुरूजन होते हैं वे स्वभावतः विशेष विरागी होते हैं, उन्हें राग की कारणभूत कोई भी क्रिया निसर्गतः रुचिकर नहीं होती है। और

वे द्वेष उत्पादक कोई भी क्रिया पसन्द नहीं करते, अतः उनके समक्ष में ऐसी कोई भी क्रिया न करे जिससे उनके मन को खेद हो पाक्षिक प्रतिक्रमण के प्रकरण में एक पद्य पढ़ने में आता है, जिससे मुनियों की व्रतचर्या पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है उसको हम यहां दे रहे हैं :—

> प्रावृटकाले सविद्युत् प्रपतित सलिले वृक्ष मूलाधिवासाः ।
> हेमन्ते रात्रिमध्ये प्रतिविगतभयाकाष्ठवत्त्यक्तदेहाः ॥
> ग्रीष्मे सूर्यांशुतप्तागिरिशिखरगताः स्थान कूटान्तरस्थाः ।
> ते मे धर्मं प्रदद्युर्मुनिगण वृषभामोक्ष निःश्रेणिभूताः ॥

अर्थात्—जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु वर्षाकाल में बिजली की चमक-दमक और मूसलाधार वृष्टि के समय वृक्ष के नीचे निवास करते हैं, अर्थात् वर्षा के कष्ट को समताभावोंके साथ सहन करते हैं। हेमन्तऋतु में जब कि कड़ाके की ठण्ड पड़ती है तब रात्रि के बारह बजे के समय में भी पूर्ण निर्भयता के साथ लकड़ के समान निस्पृह होकर शरीर के साथ व्यामोह का त्याग करते हैं। ग्रीष्म-गर्मी के दिनों में सूर्य की प्रचण्ड किरणों से सन्तप्त पर्वतों की शिखरों पर तथा उनके अन्तरालवर्ती छोटी २ टेकड़ियों पर स्थित हो कायोत्सर्ग धारण करते हैं, वे मोक्षस्थान पर पहुंचाने के लिये नसैनी के समान मुनियों में श्रेष्ठ मुनिराज मुझे भी अपने समान धर्म प्रदान करें। तात्पर्य यह है कि जिन्होंने शरीर को पर जानकर और अपने चैतन्य तेजः पुञ्ज सहजानन्द टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव आत्मा को निज जान कर समस्त पर पदार्थों से मोह का उसी तरह से त्याग कर दिया है जिस तरह से सर्प काचुली का त्याग कर देता है, फिर उसकी तरफ भूलकर भी दृष्टि नहीं डालता है। वैसे से जिन्होंने शरीराश्रित मोह का सर्वथा परित्याग कर दिया है जो संसार का मूल था जिसके पीछे यह आत्मा जाने और अनजाने तरह-तरह के पापाचार करता था अब वेही आत्मा के यथार्थ श्रद्धानी होने से उसी में ही रच-पच रहे हैं। बाह्य में अब जिन की मनोवृत्ति जरा-सी भी नहीं है। उन्हें वर्षा, शीत और ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी कष्टों का सहना सम्वर और निर्जरा का कारण बन रहा है, जो संसार के घातक और मोक्षके साधक हैं। ऐसे संवर-शील और निर्जरा-शील साधु महात्मा हमारी आत्मा में भी वैसी ही शक्ति की व्यक्ति में कारण हों, अर्थात् उनके उक्त गुणों में हमारी हार्दिक भक्ति हो, क्योंकि सच्ची मानसिक गुरु-भक्ति भक्तके लिये मुक्ति प्रदान करती है। जैसा कि—'श्रीवादीभसिंहसूरि' के निम्न पद्यसे स्फुट होती है:—

> गुरुभक्तिः सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत् ।
> त्रिलोकीमूल्यरत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्करः ॥

अर्थात्—निष्काम भाव से की गई गुरुओं की भक्ति तत्काल मुक्ति प्रदान करती है। जो नितान्त दुर्लभ है, और प्राणीमात्र जिसका इच्छुक है। ऐसी गुरु भक्ति क्या सांसारिक तुच्छ पदों को

नहीं दे सकेगी ? जिस रत्न के द्वारा तीन लोक की खरीद की जा सकती हो, क्या उस से भूसा का ढेर नहीं खरीदा जा सकेगा ? अर्थात् अवश्य ही खरीदा जा सकता है। अतएव अन्त में हम यह भावना भाते हैं कि :—

गुरौभक्तिः गुरौभक्तिः गुरौभक्तिः सदास्तुमे।
सद्दत्तमेव संसार वारणं मोक्ष कारणम्॥

अर्थात्—हे भगवन् ! मेरे हृदय में निरन्तर गुरुओं के गुणों में भक्ति हो। क्योंकि गुरु वे ही कहे जाते हैं, जो विषय-कषाय आरम्भ और परिग्रह के पूर्ण त्यागी अतएव वीतरागी चारित्र प्रधान होते हैं, जो अपने एकमात्र लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने में ही निमग्न रहते हैं, जिन्हें संसार के ऊंचे से ऊंचे पद-अपद मालूम होते हैं। जिनकी आत्म-निष्टा और मोक्ष प्राप्ति की प्रतिष्ठा को अब संसार की कोई भी शक्ति विचलित नहीं कर सकती। उनके श्रीचरणों की अनन्य भक्ति ही संसार का संहार करने में सर्वथा समर्थ है। क्योंकि उनकी भक्ति से मेरी आत्मा में सम्यक्‌चारित्र की उज्ज्वल ज्योति जागेगी। जो मेरे संसार के घोरान्धकार का विनाश कर मुझे शाश्वत प्रकाशमान मुक्ति के प्रकाश में पहुंचा देगी। अतएव मैं हृदय से गुरु भक्ति का अभिलाषी हूं। वह भव-भव में मुझे प्राप्त होती रहे :—

गुरवः पान्तुवोनित्यं ज्ञानदर्शननायकाः।
चारित्रार्णवगम्भीराः संसाराम्बुधितारकाः॥

अर्थात्—ज्ञान दर्शन के स्वामी चारित्र के अति गम्भीर-समुद्र संसार-समुद्र से पार करनेवाले गुरुजन हम सबकी सर्वदा रक्षा करें। अर्थात् संसार-समुद्र से हमें पार करें।

संसार के असह्य दु:खों से सन्तप्त हम सब उन श्री गुरुओं के श्री चरणों में सविनय सद्भावपूर्ण भक्तिपूर्वक यह अभ्यर्थना करते हैं कि वे हम सबकी संसार के असहनीय एवं वचनागोचर दुखों से रक्षा करें, यानी अविनश्वर मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करें, जो आत्मिक ज्ञान और दर्शन निधि के अधिपति हैं, और हैं चारित्र के अथाह-समुद्र एवं संसार-समुद्र के तारक जिनकी चरणों की रज का स्पर्श आत्मा के अन्दर सम्यक्त्व-रूप दीपक की ज्योति को जगमगा देता है, ज्ञान के प्रसार को विस्तारता है, और चारित्र-रूप पवित्र पताका को फहरा देता है, अखण्ड ब्रह्मचर्य को प्रकट करता है, सूर्य के समान आत्मिक तेजोमय प्रताप एवं प्रकाश को प्रकाशित करता है, चन्द्रमा के सदृश शीतलता को ला देता है, अग्नि के तुल्य कर्म-रूप ईंधन को भस्म कर देता है, जल के समान कर्म-मल को धो देता है, वायु के समान कर्म-परमाणुओं को उड़ा देता है, अतः वही हमें प्राप्त होता रहे। श्रावकों का तीसरा कर्तव्य स्वाध्याय है—स्वाध्याय का अर्थ है, जिनवाणी का स्वतः अध्ययन करना और अध्ययन करने का प्रयोजन है, आत्म-स्वरूप की प्राप्ति

करना। प्रत्येक मानव अशान्त-दशा से निकल कर शान्त-दशा में पहुंचना चाहता है। उसका एकमात्र साधन शास्त्र स्वाध्याय है। जैसा कि 'विद्यानन्दस्वामी' ने श्लोकवार्तिक में कहा है कि :—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायःसुबोधः।
सचभवतिहिशास्त्रात्तस्यचोत्पत्तिराप्तात्॥
इतिभवतिसपूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैः।
नहिकृतमुपकारंसाधवोविस्मरन्ति॥

अर्थात्—अभीष्ट फल की सिद्धि का उपाय-साधन-सम्यग्ज्ञान है, और वह सम्यग्ज्ञान शास्त्र से होता है, और उस शास्त्र की उत्पत्ति आप्त—सच्चे देव-वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी अरहन्त परम-प्रभु से होती है। इसलिये वे परम-देवाधिदेव अरहन्त भगवान् हम सबके द्वारा पूज्य हैं, आराध्य हैं, उपास्य हैं, ध्येय हैं, ज्ञेय हैं, क्योंकि उन्हीं के प्रसाद से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतएव सम्यग्ज्ञान के प्रधान साधन शास्त्र की पूजा की सयुक्तिक प्रेरणा :—

स्थान :
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : आषाढ़ बदी १५ सं० २०१५
ता० १७-६-५८

यत्प्रसादान्नजातुस्यात्पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।
तांपूजयेज्जगत्पूज्यांस्यात्कारोड्डमरांगिरम्॥

अर्थात्—जिसके प्रसाद से पूज्य पुरुषों की पूजा का कभी भी उल्लंघन नहीं होता, उस जगत् पूज्य जिनवाणी की पूजा प्रत्येक कल्याणार्थी को करना चाहिए। जो जिनवाणी स्यात्पद के प्रयोग से एकान्तवादियों द्वारा सर्वथा अजेय है। तात्पर्य यह है कि—संसार में जितने भी मत-मतान्तर हैं, वे सब वस्तुगत अनेक धर्मों में से किसी एक ही धर्म को लेकर चलते हैं, और शेष धर्मों को नहीं मानते उनकी तरफ उनका कोई लक्ष्य नहीं। ऐसी स्थिति में उनका धर्म अधूरा धर्म होगा; और जो अधूरा है, वह किसी भी आत्मा को परिपूर्ण धर्ममय नहीं बना सकता है, और जो धर्म वस्तु के अन्दर पाये जानेवाले तमाम धर्मों को स्वीकार करता है, वही धर्म वस्तुतः धर्म हो सकता है। ऐसा धर्म अनेकान्तात्मक होता है, वही वास्तविक धर्म है। क्योंकि वह वस्तु के अन्दर पाये जानेवाले समस्त धर्मों को लेकर चलता है। हां, यह बात अवश्य है कि—वह जिस समय किसी एक पदार्थ के अनेक धर्मों में से जिस किसी धर्म को मुख्य करता है, उस समय वह धर्म मुख्य होने से व्यवहार में आता है। शेष धर्म गौण होने से उस समय व्यवहार में नहीं आते। लेकिन फिर भी वे उस पदार्थ में ज्यों के त्यों बने रहते हैं, सिर्फ उनको उस समय एक साथ कहने की इच्छा नहीं है, इसलिये नहीं कहा जा रहा है। जैसे—हम जिस समय किसी

एक आमफल के स्वरूप को देखते हैं तब कहते हैं कि यह आम हरा है या पीला है, यहां आम के अनेक गुणों में से एक रूप गुण की मुख्यता को लेकर हम उसे हरा या पीला कहते हैं, उस समय में उसके अन्दर जो रस स्पर्श और गन्ध विद्यमान हैं वे गौण हैं, उनको कहने की उस समय इच्छा नहीं है अतएव उनकी विधि नहीं है तो निषेध भी नहीं है, ऐसी दशा में आम फल में सभी धर्म स्वीकृत हैं, अतएव ऐसा धर्म कहा जाता है जो सत्यार्थ है निर्बाध है। यह तो एक इष्ट फल का दृष्टान्त है जो स्थूल दृष्टि वालों को समझाने के लिये दिया गया है। इसी प्रकार से जो जीव धर्म अधर्म आकाश और काल के विषय में भी अनेक धर्मों को स्वीकार करता हैं, जो-जो पृथक् पृथक रूप से उनमें पाये जाते हैं वह धर्म ही वास्तविक वस्तुस्थिति को समझाने के कारण यथार्थ धर्म है। मूल में तो जीव द्रव्य के स्वरूप को और उसके अनन्त गुणों को और उनकेअनन्तानन्त परिमनों को जानने की जरूरत है, उसके जानने पर तो शेष पांचो द्रव्यों के स्वरूप को और उनके गुण पर्यायों को तो जान ही लेगा, उसमें तो कोई बाधा की बात ही नहीं है। बाधा तो एक आत्म स्वरुप के यथार्थ जानने में पड़ रही है जिसके कारण आत्मा अनन्त संसारी बन रहा है। उस आत्मा को जिसने जान लिया उसने संसार के सभी पदार्थों को जान लिया, यह निःसंदेह है। अतएव आत्म स्वरूप को समझने के लिये हमें उन्हीं शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए जो वस्तु स्वरूप को जैसा का तैसा बताने में सर्वथा समर्थ हैं। ऐसे शास्त्रों के मूल निर्माता तो वे ही होते हैं जिन्होंने अपने सतत ज्ञानाराधन से आत्मस्वरूप को जाना और उसे पूर्ण ज्ञान की अवस्था में पहुंचाया; जहां पहुंचने पर त्रिलोक और त्रिकालवर्ती सभी पदार्थों का साक्षात् दर्शन और ज्ञान होता है, जो सर्वथा और सर्वदा निरपेक्ष (अर्थात् किसी भी बाह्य इन्द्रिय और प्रकाश आदि की अपेक्षा नहीं रखता) होता है। ऐसे सकल परमात्मा ही होते हैं, उन्हीं का वचन ही आगम कहलाता है; उसके आश्रय से उन्हीं के परम शिष्य चार ज्ञान के धारी गणधरदेव द्वादशांगश्रुत की रचना करते हैं जो अनेकान्त स्वरूप को लिये हुए ही होती है। अर्थात् जो पदार्थ जिस स्वरूप को लिये हुए होता है उसको उसी रूप से न तो उससे अधिक और न उससे कम ही कहना ही यथार्थ कहना है। ऐसा कथन ही अनेकान्त कथन है, वही सत्यार्थ धर्म है।

नमस्तस्यै सरस्वत्यै विमलज्ञानमूर्तये।
विचित्रालोक यात्रेयं यत्प्रसादात्प्रवर्तते ॥

अर्थात्—केवलज्ञान-स्वरूप उस सरस्वती देवी को हमारा नमस्कार है। जिसकी प्रसन्नता से यह नाना प्रकार का लोक-व्यवहार चल रहा है, और जिसके प्रसाद से परमार्थ मोक्षमार्ग भी निराबाध-रूप से चलता रहा, और वर्तमान में भी एक देश-रूप से प्रचलित है। आज जो भी यथार्थ-स्वरूप को प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र उपलब्ध हैं, वे उसी केवलज्ञान सरस्वती के प्रति रूपक हैं, उन्हीं की परमाराधनासे आज भी हमें वही लाभ हो रहा है, जो भगवान् के रहते हुए होता था। अर्थात् आत्मादि

पदार्थों के सच्चे स्वरूप को जैसे लोग भगवान् के समवशरण में उपस्थित होकर, उनकी दिव्य-वाणी को सुन कर, जानते थे; वैसे ही आज हम लोग भी उन्हीं की वाणी की प्रतिकृति-स्वरूप शास्त्रों से जानते हैं। अन्तर केवल प्रत्यक्ष और परोक्षका है। जैसा कि नीचे के पद्य से स्पष्ट होता है :....

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमंभवेत् ॥

अर्थात्—समस्त पदार्थों के असली स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले स्याद्वाद सिद्धान्त में, और केवलज्ञान में परोक्ष और प्रत्यक्ष का ही भेद है, पदार्थ-कृत भेद नहीं है। पदार्थ वही है, जो स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा जाना जाता है। वही केवलज्ञान द्वारा भी जाना गया था। केवलज्ञान ने प्रत्यक्ष-रूप से जाना था; जब कि स्याद्वाद परोक्ष-रूप से जानता है। ज्ञान के विषयभूत ज्ञेय वही है, उतने ही हैं, न उनसे कम है, और न ज्यादा हैं। अतएव जो स्याद्वाद सिद्धान्त की पूजा करते हैं, वे केवलज्ञान की ही पूजा करते हैं। जैसा कि—नीचे के श्लोक से सिद्ध होता है :—

ये यजन्तेश्रुतंभक्त्या तेयजन्तेऽञ्जसजिनम् ।
न किञ्चिद्‌न्तरंप्राहुराप्ताहिश्रुतदेवयोः ॥

अर्थात् जो भक्त—भक्ति से शास्त्र-जिनवाणी की पूजा करते हैं, वे निश्चय से भगवान् जिनेन्द्र-देव की ही पूजा करते हैं। क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् ने जिनवाणी और जिनेन्द्रदेव में कुछ भी भेद नहीं कहा है।

तात्पर्य यह है कि भगवान् सर्वज्ञदेव ज्ञान के समुद्र हैं, और उनकी वाणी उसी अपार ज्ञान-सागर की बिन्दुराशि है। अन्तर केवल इतना ही है कि वे भगवान् वक्ता हैं, और यह वाणी उनके आन्तरिक ज्ञान में प्रतिविम्बित ज्ञेयों के स्वरूप को प्रतिपादन करनेवाली वचन-रचना है। एक प्रतिपादक है, तो दूसरा प्रतिपाद्य है।

वादीभसिंहसूरि ने 'गद्यचिन्तामणि' में एक पद्य द्वारा यह भावना व्यक्त की है कि वह सरस्वती देवी मुझे अविनश्वर मोक्षलक्ष्मी प्रदान करे, जो स्याद्वादमय है :—

अशेषभाषामयदेहधारिणीजिनस्यवक्त्राम्बुरुहाद्विनिर्गता ।
सरस्वतीमेकुरुतादनश्वरीं जिनश्रियंस्यात्पदलाञ्छनाञ्चिता ॥

अर्थात् भगवान् जिनेन्द्र के मुख-कमल से निकली हुई समस्त भाषा-रूप शरीर को धारण करने-वाली एवं स्यात्पद-रूप चिह्न से चिह्नित सरस्वतीदेवी मुझे अविनश्वर मोक्षलक्ष्मी को देवे। यहाँ पर

कविवर ने उस सरस्वतीदेवी से मोक्षलक्ष्मी की याचना की है, जो स्याद्वादमय है। अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को प्रकट करने में स्यात्पद को लेकर चलती है। यहां स्यात्पद का अर्थ वस्तुगत अनेक धर्मों में से किसी विवक्षित—कहने के लिये इष्ट-धर्म द्योतक है। अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य करके कहना स्यात्पद से ही हो सकता है, जो उस वस्तु के अन्दर रहनेवाले अविवक्षित—कहने के लिये इष्ट नहीं है। ऐसे सभी शेष गुणोंके अस्तित्व को सूचित करता है। ऐसे स्यात्पद से जिसकी पहचान की जाती है, वही भगवान् की वाणी है। वह हमें मोक्षलक्ष्मी के देने में सहायक हो, अर्थात् हमें वह वाणी प्राप्त हो। जिसकी आराधना से हमारा अनादि संसार क्षय को प्राप्त हो जाय। यहां आचार्य ने सरस्वती की सेवा का फल मोक्ष प्राप्ति बतलाया है। अर्थात् जो जिनवाणी की सेवा करता है, उसे वह वाणी स्वयं ही जिन बना देती है, और जो जिन बनता है, वह कालान्तर में मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त होता है, यह निश्चित सिद्धान्त है। अतएव भक्त पुरुष उक्त प्रकार के स्याद्वादमय श्रुत के प्रति निरन्तर यह भावना भाता रहता है कि—हे भगवान्! उक्त प्रकार के श्रुत में सदा ही मेरी हार्दिक भक्ति हो, जैसा कि हम प्रतिदिन पूजा के अवसर पर बोला करते हैं :—

श्रुतेभक्तिः श्रुतेभक्तिः श्रुतेभक्तिः सदास्तुमे।
सज्ज्ञानमेव संसार वारणं मोक्षकारणम्॥

अर्थात्—शास्त्र में मेरी सदा ही भक्ति हो, क्योंकि शास्त्र-भक्ति से ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। जिसके प्राप्त होने पर यह आत्मा संसार के बन्धनों से सदा के लिये उन्मुक्त हो जाता है। यहां शास्त्र-भक्ति से केवल शास्त्र की अष्ट द्रव्यों से पूजा करना ही अर्थ नहीं लेना चाहिए; किन्तु उनका स्वाध्याय करके वस्तु के स्वरूप को समझ कर उनसे राग-द्वेष-रूप परिणति को घटाना चाहिए। साथ ही साथ शास्त्रविहित आचरण का भी पालन करना चाहिए।

स्वाध्याय का साक्षात् फल तो आत्मिक आनन्द है, जो स्वाध्याय करते समय ही प्राप्त होता रहता है, साथ ही शरीरादि पर-पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान न होने से उनसे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, और न था, न रहेगा। ऐसा त्रैकालिक भेद-विज्ञान भी स्वाध्याय का ही सुफल है, जो मोक्ष का प्रधान साधन है। आत्मा का आत्मा-रूप से, और पुद्गल का पुद्गल-रूप से ज्ञान होना ही भेद-विज्ञान है। ऐसा भेद-विज्ञान शास्त्र स्वाध्याय से ही प्रकट होता है :—

स्वाध्यायादियथाशक्तिभक्तिप्रीतमनाश्चरन्।
तात्कालिकाद्भुतफलादुदर्केतर्कमस्यति॥

अर्थात्—जिसका मन शास्त्र-भक्ति से प्रसन्न है, वह अपनी शक्ति के अनुसार स्वाध्याय आदि आवश्यक क्रियाओं को करनेवाला तत्काल ही प्राप्त होनेवाले विचित्र फल-आत्मिक आनन्द आदि के संबंध

से भविष्य में सन्देह-रहित होता है। तात्पर्य यह है कि – शास्त्र का अध्ययन करनेवाले व्यक्ति के मन में जो पदार्थ विषयक अज्ञान होता है, वह तत्काल ही दूर होता जाता है; और ज्यों-ज्यों अज्ञान का परदा हटता है, त्यों-त्यों आत्मा में ज्ञान की ज्योति जागती जाती है; और ज्यों-ज्यों ज्ञान का अखण्ड प्रकाश आत्मा में प्रकट होता है, त्यों-त्यों आत्मा में आत्मानुभवजन्य अभूतपूर्व आनन्द का स्रोत बह उठता है; जो आत्मा के राग, द्वेष आदि विकारों के दूर होने में अनुपम साधन बनता है। चारित्र धारण करने की प्रबल भावना भी अद्भुत होती है जो कार्य रूप में परिणत होने पर आत्मा के कर्ममल को प्रक्षालित कर उसे पूर्ण स्वच्छ बना देती है। अर्थात् आत्मा कर्ममल से रहित हो निर्मल परमात्म दशा को प्राप्त कर लेता है। ऐसा समझकर हमें स्वाध्याय में रत होने के प्रयत्न करते रहना चाहिये। "नस्वाध्यायात्परमंतपः" स्वाध्याय से बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है विधिपूर्वक किया गया स्वाध्याय अनेक पापों की निर्जरा करता हुआ अनेक ऋद्धियों की प्राप्ति में सहायक होता है।

खण्डश्लोकै स्त्रिभिःकुर्वन् स्वाध्यायादि स्वयंकृतैः।
मुनिनिन्दाप्तमौग्ध्योऽपि यमः सप्तर्द्धिभूरभूत्॥

अर्थात्—मुनि की निन्दा से मूढ़ता को प्राप्त हुआ यम नाम का राजा कालान्तर में प्रबोध को प्राप्त हुआ। उसने अपनी बुद्धि के अनुसार अधूरे तीन श्लोक बनाये और उनके स्वाध्याय से सात ऋद्धियों का धारक महामुनि हुआ। जहां स्वयं के बनाये हुए अधूरे श्लोकों के स्वाध्याय से अनेक ऋद्धियों की प्राप्ति को करने वाले मुनि का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता हो, वहां भगवज्जिनेन्द्र निरूपित और गणधर आदि महर्षियों द्वारा ग्रथित शास्त्रों के स्वाध्याय से यदि स्वाध्यायकर्ता अविनाशी, मोक्ष-सुख का भाजन हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? ऐसे भी अनेकों उदाहरण शास्त्रोंमें मिलेंगे जो स्वाध्याय से मुक्ति प्राप्ति के समर्थक होंगे। जैसा कि नीचे दिये हुए श्लोक से स्पष्ट होता है—

णमो अरिहन्ताणमित्युच्चारणतत्परः।
गोपः सुदर्शनीभूय सुभगाह्वः शिवंगतः॥

अर्थात्—'णमोअरिहन्ताणं' ऐसे उच्चारण में तत्पर शास्त्र प्रसिद्ध वह सुभग नाम का ग्वाला (गोपाल) सुदर्शन सेठ होकर मोक्ष को गया। सुदर्शन सेठ की कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है यह पूर्व जन्म में ग्वाला था, ग्वाल की पर्याय में मरते समय 'णमो अरिहन्ताणं' का पाठ करते हुए उसने प्राणों को छोड़ा था जिसके प्रभाव से वह वृषभदास सेठ के यहां सम्यग्दृष्टि सुदर्शन नाम का पुत्र हुआ और उसी पर्याय से मोक्ष को प्राप्त हुआ, यह सच्चा स्वाध्याय है जिसका फल दूसरे भवमें ही मुक्ति लाभरूप से सिद्ध हुआ। सच्चा स्वाध्याय तो वही है, जिसके द्वारा अपनी पहिचान हो जाय। अपना ज्ञान होने पर तो अपने

परिपूर्ण स्वरूप का लाभ होता ही है। वह स्वाध्याय वास्तविक स्वाध्याय नहीं कहा जा सकता जिसके करने पर अपनी और पराये की पहिचान न हो; अतः शास्त्र स्वाध्याय का अर्थ शास्त्रों के जरिये अपने का अध्ययन-ज्ञान करना ही है। ऐसा फलितार्थ निकालकर हमें उसी अर्थको ध्यान में रखकर शास्त्र पढ़ना चाहिये। ऐसे स्वाध्याय के आचार्यों में पांच भेद बताये हैं जो निम्न प्रकार से हैं—

वाचना—शास्त्रों का यथा योग्य रीति से बड़ी ही विनय के साथ बाचना पढ़ना या सुनाना। पृच्छना—शास्त्र बाचते समय जो जो शंकायें उठें या उत्पन्न हों उनका समाधान करने के लिये किसी योग्य विद्वान के पास जाकर उनको पूछना। अनुप्रेक्षा—प्रश्नों के उत्तरों का बार-बार विचार करना ताकि वे उत्तर याद रहें साथ ही स्वाध्याय करते समय जो जो विषय पढ़ने में आये हों उनपर भी विचारधारा को चलाते रहना। जिससे आत्मामें तत्वज्ञान की वृद्धि हो और शान्ति का संचार हो। आम्नाय—शास्त्रों का यथा योग्य रीति से उच्चारण करना मात्रा, बिन्दु विसर्ग, रेफ तथा स्वरादिका स्पष्ट उच्चारण करना धर्मोपदेश निरंतर शास्त्र स्वाध्याय करने से जो पदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया है उसका परोपकारार्थ यथोचित रीतिसे उपदेश करना। ये पाचों ही स्वाध्याय स्वपर कल्याणार्थ हैं इनमें स्वकल्याण मुख्य है। बिना स्वकल्याण के परकल्याण का होना प्रायः दुःसाध्य है जो पर हित करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सर्वप्रथम स्वहित करने में उद्यत हों, स्वहितपूर्वक ही परहित सम्भव है सो भी समय और शक्ति आदि की उपेक्षा रखता है। अतः स्वकल्याण ही मुख्य है। ऐसा समझ कर स्वकल्याणार्थ स्वाध्याय करना चाहिये।

स्थान :
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : आषाढ़ सुदी १ सं० २०१५
ता० १८-६-५८

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

अर्थात्—हम उस अनेकान्त सिद्धान्त को नमस्कार करते हैं, जो जन्मान्ध पुरुषों की हाथी के विधान का निषेध करता है। सभी नयों द्वारा प्रकाशित वस्तु स्वरूप के विरोध को दूर करता है, और जो परमागम का प्राण है। तात्पर्य यह है कि—जैसे जन्मान्ध पुरुष हाथी के स्वरूप को निर्णय करने के अधिकारी नहीं है, कारण कि उनके नेत्र इन्द्रिय के द्वारा देखने की शक्ति नहीं है। अतएव वे स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा हाथी के जिस किसी अङ्ग को पकड़ पाते हैं, बस उसी-रूप हाथी को कहने लग जाते हैं। जो वस्तुतः समूचे हाथी का स्वरूप न होकर किसी एक अङ्ग का ही स्वरूप है। इस तरह से वे सब आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं; फिर भी हाथी के असली स्वरूप को नहीं पा पाते हैं। वैसे ही जो दर्शन या मत वस्तु के किसी एक धर्म को लेकर तन्मात्र ही वस्तु का स्वरूप मान बैठते हैं; वे सब भी उसके विषय

में परस्पर में कलह करते रहते हैं, पर वस्तु स्वरूप तक नहीं पहुंच पाते हैं। यह उनकी एकान्तदृष्टि का ही दोष है। वे सब मिल कर एक मत हो जांय तो वस्तु स्वरूप बन जाय, बस इसी मेल या समन्वय का नाम ही अनेकान्त है। अर्थात् हाथी के विभिन्न अङ्गों को, जो पृथक्-पृथक्-रूप से गृहीत हैं, पृथक्-पृथक् हाथी मानने में ही लड़ाई हैं; किन्तु उन सबके समूह का एकीकरण करने पर जो चीज बनती है, उसे हाथी कहने में कोई विरोध नहीं है। वैसे ही वस्तुगत अनेक धर्मों में से जो किसी एक धर्म को ही वस्तु मान कर सन्तोष कर लेता है, वह वस्तु स्वरूप का घातक है। उसे वस्तु एक धर्मात्मक ही मालूम हुई है, जब कि वस्तु वैसी न होकर अनेक धर्मात्मक है। जैसे—क्षणिक सिद्धान्तवादी बौद्ध वस्तु को क्षण-विध्वंसी मानता है, परन्तु वह मानना उसका सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि यह वही है, जिसे कल देखा था, ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानते हैं, तो वह प्रत्यभिज्ञान नहीं बन सकेगा, तो सर्वव्यवहार का ही लोप हो जायगा, जो इष्ट नहीं है। अनेकान्तवादी की दृष्टिमें वस्तु क्षणिक अनित्य भी है, और अक्षणिक नित्य भी है। पर्याय उसका कारण दृष्टि-भेद है। अर्थात् पर्याय दृष्टि से क्षणिक है, क्योंकि पर्याय का स्वरूप क्षणिक है और द्रव्य दृष्टि से नित्य है, क्योंकि द्रव्य का कभी नाश नहीं होता है। अतएव यह वही है, जिसे कल देखा था यह प्रत्यभिज्ञान बन जाता है। वैसे ही कूटस्थ नित्यवादी सांख्य के मत में परलोक एवं कार्यकारण भाव का अभाव हो जायगा; जो दृष्ट विरोध होने से इष्ट नहीं है। अतएव अनेकान्त सिद्धान्त की शरण ही वस्तु स्वरूप को सिद्ध करने में अव्यर्थ साधन है, जो सर्वप्रकार के विरोध का परिहार-रूप है, और जो नयों के पारस्परिक विरोध को भी दूर करता है, और उनमें सामञ्जस्य को स्थापन करता है। यही आगम का जीवन है। ऐसे अनेकान्त को हम बार-बार नमस्कार करते हैं। वही अमृतचन्द्रस्वामी 'समयसार कलश' में भी उसी अनेकान्तमयी सरस्वती की निर्मल ज्योति की निरन्तर कामना करते हैं, जो आत्मा के अनेक धर्मों को जुदा-जुदा बताती है।

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेवप्रकाशताम्॥

अर्थात्—वह अनेकान्तमयी-अनेक धर्मवाली मूर्ति सरस्वती निरन्तर ही मेरे हृदय में प्रकाशमान रहे, जो अनन्त धर्मवान् आत्मा के असली स्वरूप को प्रकट करती हैं, पृथक्-पृथक्-रूप से बताती है। तात्पर्य यह है कि—आत्मा स्वभावतः अनेक धर्मों का पिण्ड है। उनका पृथक्-पृथक् देखना और जानना एकमात्र अनेकान्त स्वरूप केवलज्ञान-रूप सरस्वती का ही कार्य है—जो अखण्ड है, अविनाशी है, और है अनन्त। इसका प्रादुर्भाव आत्मा में ही केवल ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षीण होने पर होता है। इसके द्वारा जाने गये संसार के तमाम चेतन अचेतन पदार्थों का दिव्यध्वनियों द्वारा जो निरूपण प्रतिपादन या विवेचन किया जाता है, और जिसे सुन कर द्विविध ऋद्धिधारी गणधर स्वामी अवधारण कर द्वादशाङ्ग श्रुत की रचना करते हैं; वह द्रव्य श्रुत है, वही सरस्वती की मूर्ति है। अन्य जो लोक प्रसिद्ध

सरस्वती की मूर्ति बनाई जाती है, जिसकी सवारी हंस पर है, वह वास्तविक सरस्वती नहीं है। क्योंकि वह तो एक कल्पित-रूप है। साथ ही उसका सम्बन्ध मिथ्यादृष्टि शास्त्र निर्माताओं से है। जो मनःकपोल-कल्पित मन घड़न्त वस्तु के स्वरूप को विपरीत बतलाते हैं। यहां उस सरस्वती से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यहां तो भगवान् केवली या श्रुत केवली के ज्ञानात्मक वा वचनात्मक ज्ञानमूर्ति व शास्त्र मूर्ति से सम्बन्ध है, जो लोकत्रय के समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ—जाल को जानने में पूर्ण समर्थ है। जैसा कि अमृतचन्द्रस्वामी ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में कहा है कि :—

लोकत्रयैकनेत्रंनिरूप्यपरमागमंप्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियतेविदुषांपुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥

अर्थात्—तीन लोक के लिये एक अद्वितीय नेत्र के समान परमागम का प्रयत्नपूर्वक निरूपण करके अब हम विद्वानों के लिये इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं। तात्पर्य यह है कि तीन लोक के समस्त चराचर पदार्थों के स्वरूप को प्रकट करने में असाधारण अनुपम नेत्र के समान परमागम है; परमागम-रूप महान् चक्षु के द्वारा ही छद्मस्थ अल्पज्ञ त्रिलोकवर्ती पदार्थोंके स्वरूप को भली-भांति जानने में समर्थ होता है। यदि इस अल्पज्ञानी को भगवान जिनेन्द्र की अनुपम वाणी का सहारा न होता तो इसका अज्ञानान्धकार का विनाश और खास कर आत्म स्वरूप का ज्ञान नितान्त दुर्लभ था। आज जो भी थोड़ा बहुत वस्तु स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है, जिसके जरिये आत्माएँ अशुभसे हट कर शुभ की तरफ झुक रही हैं वह सब एक मात्र जिनवाणी का ही प्रभाव है। जिस जिनवाणीकी आराधनासे आराधक जन्म जरा और मरणके दु.खोंसे उन्मुक्त हो, सकता हो क्या उस जिनवाणी कीसच्चे मनसे की गयी सेवा स्वर्गादि के तुच्छ सुखों को नहीं दे सकेगी? अवश्य ही दे सकेगी—ऐसा दृढ़ता के साथ निर्णय कर हरेक सुखेच्छु को उसके स्वाध्याय में संलग्न होना चाहिये। जैसे मलिन वस्त्र के मैल को जल धो डालता है वैसे ही यह जिनवाणी का स्वाध्याय आत्माके अन्दर लगे हुए कर्म मैल को धो देने में आद्य कारण है। वस्तु स्वरूप को आच्छादित करने वाली अज्ञान रूपी धूलि को उड़ाने में यह स्वाध्याय झंझावात के समान है। आत्मा और अनात्मा के भेद को प्रकट करने में यही स्वाध्याय सूर्य के समान है। मुनिराजों के मनरूप कुमुदों को विकसित करने के लिये यह चन्द्रमा के समान है जिस जिनवाणी का स्वाध्याय आत्मा के स्वरूप को दर्पण के समान झलका देता है, और मिथ्यात्व को जड़ मूल से उखाड़ देता है, तीन लोक के बड़े-बड़े पदवी धारी जिसको अपने लिये अत्यन्त उपकारी मानते हैं वह जिनवाणी का स्वाध्याय ही इस समय हम सबको सत्पथ पर आरूढ़ करने में सर्वथा समर्थ है। साधु जन भी जब ध्यान में मन स्थिर करते है, स्वाध्याय के समय में आत्मा विषय कषायोंसे बिलकुल ही विमुख रहता है जिससे आत्मा संवर और निर्जरा इन दो तत्वों को वृद्धिगत करता है जो साक्षात मोक्ष के कारण हैं। शास्त्र स्वाध्याय वह विशाल वृक्ष है जिसपर मनरूप बन्दर एक डाली से दूसरी और दूसरीसे तीसरी एवं तीसरी से चौथी डाली पर क्रीड़ा करता रहता है, अर्थात् उस स्वाध्याय

रूप महा तरु की चार महा विशाल शाखायें है, जिनपर आरूढ़ रहकर मन रूप बन्दर रमता फिरता है। इस प्रकार की रमण क्रिया से यह तीन लोक और तीन काल के समस्त द्रव्य क्षेत्र काल और भावों के स्वरूप को अवगत करने में ही रत रहता है जिसका साक्षात् फल तो बाह्य पदार्थों से राग द्वेष का अभाव होने से ममता का अभाव और समता का बहाव निरन्तर जारी होता है जो इस जीवको तद्भव मोक्ष पहुंचाने में समर्थ कारण बन बैठता है, इसीलिये आचार्यों ने इसे सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया है। यह उनके अनुभूत प्रयोगों में से एक है। जैसे चतुर वैद्य स्वानुभूत औषध को देकर रोगी को सदा के लिये रोग से उन्मुक्त कर देता है वैसे ही आचार्य श्री जैसे महान वैद्यों ने संसार रोगका निदान कर उस रोग को जड से उखाड़ फेंकने की एक मात्र औषध शास्त्र स्वाध्याय निश्चित किया है। शास्त्र स्वाध्याय से ही मन को तत्काल शांति प्राप्त होती है। अपार सन्तोष की धारा बह उठती है; संसार की असारता नेत्रों के सामने झूलने लगती है। आत्मा मोक्ष मार्ग की ओर निहारने लगता है। उसकी मनोवृत्ति सांसारिक कार्यों से सर्वथा विमुख हो जाती है; विषयों की नीरसता का निश्चय मजबूत हो जाता है। और वास्तव में होना भी ऐसा ही चाहिये। क्योंकि शास्त्र स्वाध्याय का अर्थ पूर्ण आत्मिक शांति प्रदान करना है वह भोजन ही क्या जिसके करने पर क्षुधा-भूख की बाधा दूर नहीं होती? वह अमृत ही क्या जिसके पीने पर अमरत्व-अकाल मृत्युका अभाव होकर परिपूर्ण आयु की निराबाध अवस्था बन सके ? इसी प्रकार वह स्वाध्याय ही क्या जिसके करने पर आत्मा को सर्वदा के लिये अमरत्व-सिद्धत्व दशा की प्राप्ति न हो सके ? तात्पर्य कहने का यह है कि वास्तविक वस्तु स्थिति को समझने का मूल—मुख्य-साधन वर्तमान में हमारी दृष्टि में शास्त्र स्वाध्याय ही है। उसी के द्वारा ही हमें यह ज्ञात होता है कि हम यदि पुरुषार्थ करें तो स्वयं ही परमात्मा बन सकते हैं। यह परमात्मत्व शक्ति हमारे ही अखण्ड भण्डार में भरी पड़ी है, उसकी हमें खबर ही नहीं है और हो भी कैसे ? जबतक हम स्वाध्याय नहीं करेंगे तबतक हमें अपने अन्दर रहने वाली अपरिमित शक्तियों का भान और परिज्ञान किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। शास्त्र स्वाध्याय से ही हमें सर्वज्ञ और तत्प्रतिपादित अनेकान्त सप्तभंगी-प्रमाणसप्तभंगी नय-सप्तभंगी-स्याद्वाद-अहिंसा कर्मसिद्धान्त आदि का परिचय प्राप्त होता है। इसमें सर्वज्ञ क्या है और वे कैसे बनते हैं इसपर हमें शास्त्रीय आधारसे कुछ चर्चा कर लेना आवश्यक और उपयुक्त प्रतीत होता है। सर्वज्ञ का अर्थ है तीन लोक और तीन कालके सभी पदार्थोंको जो युगपत् एक साथ-एक ही ज्ञान-गुण के द्वारा जाने। ज्ञान-गुणका कार्य जानना है और वह प्रत्येक आत्मा में अल्पाधिक रूप में रहता ही है परन्तु वह ज्ञान जब तक पराश्रित होता है तब तक निराबाध रूप से पदार्थ को जानने में समर्थ नहीं हो सकता है, हां, जो ज्ञान आत्मा के सिवा किसी भी अन्य पदार्थ की अपेक्षा न रखता हुआ तमाम चराचर पदार्थों को जानता है वह ज्ञान निर्मल निराबाध अविनाशी और अखण्ड होता है। ऐसा ज्ञान केवल ज्ञान कहलाता है। ऐसे ज्ञान की प्राप्ति जिस आत्मा में हो जाती है बस उसी आत्मा को सर्वज्ञ कहते हैं।

सर्वज्ञ कैसे होता है ? सर्वज्ञ बनने का उपाय क्या है ? उत्तर यह है कि जो आत्मा-आत्मत्व बुद्धि का परित्याग कर शरीरमें आत्मबुद्धि को धारण करता है वह आत्मा ही अनात्मा कहलाता है शरीर में आत्मा-बुद्धि इस आत्मा की अनादि से चली आ रही है उस सहज अनात्मा में आत्मा के ज्ञान को परिवर्तित करके आत्मा में ही आत्मा का ज्ञान करना है। ऐसा अन्तरात्मा-सम्यग्दृष्टि आत्मदृष्टि जीव जब यथाशक्ति संसार की कारणभूत अविरति का हिंसादि पञ्च पापोंका एक देश त्याग करता हुआ आत्मा को कर्म के भार से हलका करता है और धीरे-धीरे आत्मिक शक्ति को बढ़ाता हुआ उन पञ्चपापों का सर्वथा त्याग कर देता है तो वही अन्तरात्मा देशव्रती से महाव्रती बन जाता है। वह महाव्रती ज्यों-ज्यों चारित्र की शिखरपर आरोहण करने का प्रयत्न करता हुआ बढ़ता-चढ़ता है त्यों-त्यों वही शुभोपयोगी शुभोपयोग से आगे का शुद्धोपयोग पाने का पात्र बनने लगता है, अर्थात् उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित कर्मोंकी निर्जरा और यथासम्भव नवीन कर्मों का सम्बर करने से आत्मा के अन्दर सच्चे आत्मिक सुख के स्रोतों को खोलता है और ज्ञान के परदों को भी साथ ही साथ हटाता चलता है। ज्योंही समस्त मोहनीय कर्म का क्षय कर देता है त्योंही कुछ समय के पश्चात समस्त ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन आत्मिक गुणघातक कर्मोंका घात करके उस अचिन्त्य अनुपम तेजोमय निरामय निरावरण केवल ज्ञानज्योति को आत्मा में जागृत करता है जिसके असाधारण अखण्ड प्रचण्ड प्रकाश में संसार के सारे ही पदार्थ युगपतचमक उठते हैं। अर्थात् सर्वज्ञ बनने का साधन व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र ही है ऐसे चारित्रका साक्षात् फल सर्वज्ञ बन जाना है जिनमें अशुभ ध्यानों का अभाव, शुभध्यानों का जमाव और शुभ ध्यानों में भी पूर्व-पूर्वके ध्यानों का अभाव और आगे-आगे के शुक्लध्यानों का सद्भाव और उनमें पूर्व-पूर्व का अभाव और उत्तरोत्तर का सद्भाव होनेपर मोह का सर्वथा मूलोच्छेद होते ही केवलज्ञान रूप महा सूर्य का अद्भुत प्रताप और प्रकाश प्रज्वलित हो उठता है जिसके कारण यथावत् वस्तु प्रतिभासित होने लगती है। वाणी में अद्भुत चमत्कार उद्भूत हो उठता है। और माधुर्यकी अविरल धारा प्रवाहित होने लगती है, उस वाणीमें असंख्य प्राणियों के कल्याण करने की शक्ति सञ्चित हो जाती है। वीतरागता का प्रसार तो सारे ही प्रदेशों में सर्वतोमुखी व्यापकता को ले बैठता है।

अनेकान्त—अनेकान्त का अर्थ है, परस्पर विरोधी तत्वों का एक ही वस्तु में समन्वय करना। जैसे—सत् असत्, एक अनेक, भेद-अभेद, सामान्य विशेष, नित्य-अनित्य। इनमें सत् का विरोधी असत्, एक का विरोधी अनेक, भेद का विरोधी अभेद, सामान्य का विरोधी विशेष, नित्य का विरोधी अनित्य एक ही वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से सत है। और वही वस्तु पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा से असत् है। समुदाय की अपेक्षा एक है। गुण पर्याय की अपेक्षा अनेक है। गुण और गुणी या पर्याय और पर्यायी की अपेक्षा भेद है और उन दोनों में भेदा-भाव की अपेक्षा अभेद है। वस्तु द्रव्य की अपेक्षा सामान्य है, और पर्याय की अपेक्षा विशेष है। वस्तु

द्रव्य की अपेक्षा नित्य है, और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है इत्यादि आपस के विरोधी धर्म जिसमें समावेश को प्राप्त होते रहते हैं, ऐसे सिद्धान्त को सर्वज्ञ देव ने अनेकान्त कहा है।

सप्तभङ्गी—सप्तभङ्गी का अर्थ है, किसी भी पदार्थ के स्वरूपगत और परस्पर विरोधी अनेक धर्मों को विवेचन करने के लिये की जानेवाली वचन रचना। वह अधिक से अधिक कितनी हो सकती है, यह बताना। यों तो सप्तभङ्गी इस पद से ही यह स्पष्टतया बोध हो जाता है कि सात भङ्गों यानी ऐसे सात प्रकार के वाक्यों की रचना करना, जो वस्तुगत धर्मों को विवक्षा के वश से विवेचन करने में सयुक्तिक उपयुक्त हों। लेकिन वे सात प्रकार के वचन कौन है ? उनकी रूप-रेखा क्या है ? और वे कैसे प्रयुक्त किये जाते है ? आदि तमाम प्रश्नों का उत्तर देना ही सप्तभंगीका मुख्य उद्देश्य है। वे सप्तभंग निम्न प्रकार हैं :—

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य। इनमें स्यात् यह अव्यय-पद है, जो विवक्षित-(वक्ता के लिये कहने में इष्ट) अथगत (पदार्थ में रहनेवाले) धर्म को छोड़ कर शेष धर्मों के सद्भाव को गौण-रूप से द्योतन करता है। और अस्ति यह भी सत्तात्मक क्रिया का वाचक अव्यय-पद है। दोनों का अर्थ है। कथञ्चित् किसी अपेक्षा से है। जैसे—आत्मा स्यादस्ति-आत्मा कथञ्चित् स्वचतुष्टय (१) स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से है। आत्मा स्यान्नास्ति आत्मा कथञ्चित् पर चतुष्टय (२) पर-द्रव्य पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा से नहीं भी है। आत्मा-स्यादस्तिनास्ति, आत्मा-कथञ्चित् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से है, और परचतुष्टय की अपेक्षा से नहीं भी है। *आत्मा स्यादवक्तव्य* आत्मा कथञ्चित अवक्तव्य कहने में नहीं आता। *आत्मा स्यादस्ति* अवक्तव्य आत्मा कथञ्चित है पर कहने मे नहीं आता। *आत्मा स्यान्नास्ति* अवक्तव्य आत्मा कथञ्चित नहीं है, पर कहने में नहीं आता। *आत्मा स्यादस्तिनास्ति* अवक्तव्य आत्मा कथञ्चित है भी और नहीं भी पर कहने में नहीं आता। ये सात भंग-वस्तुगत धर्म के प्रतिपादन करने वाले है, और इनमें स्यात् पद का प्रयोग वस्तुगत उन तमाम धर्मों का द्योतन या सुचन कर्त्ता है, जो वस्तु में है या कहनेवाले को उस समय वे कहने में इष्ट नहीं हैं। क्योंकि संसार में कोई ऐसा शब्द ही नहीं है, जो पदार्थगत समस्त धर्मों को एक साथ कह सकें। एक शब्द से एक समय में एक ही धर्म कहा जा सकता है। अतएव जो धर्म नहीं कहे जा रहे हैं, वे स्यात शब्द के द्वारा विद्यमान हैं। उनका अभाव नहीं है यह द्योतित या सूचित होता है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने गुण पर्यायों में बर्त रहा है, कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के गुण पर्यायों में नहीं रहता। सबका अपना जुदा-जुदा अस्तित्व है, वे सब अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करते। एक दूसरे से मिलते हुए भी स्वभावतः पृथक् ही रहते हैं, कोई किसी से स्वभावतः नहीं मिलता-जुलता, ऐसा नियम है। अतएव शरीर-शरीर है, आत्मा नहीं है। आत्मा-आत्मा है, शरीर नहीं है। क्योंकि उनका अपना-अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल,

भाव जुदा-जुदा है। यदि ऐसा न माना जाय तो शङ्कर हो जाने से सब एक हो जायगा। तब तो द्रव्य का ही नाश हो जायगा, और जब द्रव्य ही नहीं रहेगा तब सारी लोक व्यवस्था ही लुप्त हो जायगी, यह सबसे बड़ा दोष होगा। साथ ही जो है, वह अनेकान्तात्मक हैं, अनेक धर्म स्वरूप है, जो अनेक धर्म नहीं रखता, वह खर-विषाण की तरह है। अर्थात् जैसे—खर-विषाण नहीं है, वैसे ही अनेक धर्म शून्य कोई वस्तु ही नहीं है। जैसा कि अमृतचन्द्रस्वामी ने कहा है :— सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्त वस्तु जातमखिलज्ञैः—अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग परम प्रभु ने यही देशना हम लोगों को दी है कि हरेक चीज अनेक धर्मों को लिये हुए हैं। उन अनेक धर्मों को प्रकाश में लानेवाला स्याद्वाद सिद्धान्त है। जिसका अर्थ है। 'कथञ्चिद्वाद या अपेक्षावाद' जिस समय वक्ता जिस धर्म को मुख्य करके वर्णन करता है, वह धर्म उस समय उसके लिये इष्ट है। शेष धर्म अविवक्षित होने से गौण हैं। ऐसा स्याद्वाद का चमत्कार है, जो अनेकान्तवाद के सामञ्जस्य को स्थापित करता है। यदि स्याद्वाद का प्रतिपादन भगवान् सर्वज्ञ केवली द्वारा न होता तो अनेकान्तवाद की जीवन लीला ही समाप्त हो जाती। अतएव कहना पड़ता है कि अनेकान्तवाद में जीवनी शक्ति प्रदान करनेवाला स्याद्वाद ही है। ऐसा निश्चय हमें स्वाध्याय से ही होता है। भगवान् जिनेन्द्रदेव की दिव्य देशना का लाभ हमें शास्त्र स्वाध्याय से ही प्राप्त होता है। अतएव हमें उस ओर लगना चाहिए, उसी में हमारा महान् हित निहित है।

श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में लिखा है :—

स्थान : तिथि : आषाढ़ सुदी २ सं० २०१५
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० १९-६-५८

एकेनाकर्षन्तीश्लथयन्तीवस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयतिजैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिवगोपी॥

अर्थात्—जैसे गोपी-ग्वाली मक्खन तैयार करने के लिये दधि के मटके में दधि को विलोवने के लिये मन्थनदण्ड-मथानी के दण्डे को चलाने के लिये रस्सी को एक हाथ से अपनी ओर खींचती है, तो दूसरे हाथ से ढीला करती है। ऐसा करने से मक्खन तैयार होता है। यदि वह उक्त प्रकार की क्रिया में व्यतिक्रम कर दे तो अपने लक्ष्य-रूप मक्खन को प्राप्त नहीं कर सकती। वैसे ही जैनी-नीति अर्थात् स्याद्वाद पद्धति वस्तु तत्त्व को प्राप्त कराने में मन्थनदण्ड के समान है। अर्थात् एक धर्म की प्रमुखता और दूसरे धर्मों की गौणता रख कर जब वस्तु स्वरूप को देखता है, तो उसे यथार्थता के दर्शन होते हैं; अन्यथा नहीं। यदि दो में से किसी एक को छोड़ बैठे तो वस्तु स्वरूप को पाना नितान्त असम्भव हो जायगा। कारण कि दोनों के मुख्य गौण-रूपमें रहते हुए ही वस्तु स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। दो में से किसी एक के ऊपर अवलम्बित होने पर एकान्तता आ जायगी, जो वास्तविक वस्तु स्वरूप के ज्ञान में नितान्त बाधक होती है।

अथवा—मन्थनदण्ड को चलानेवाली ग्वाली के समान जैनी-नीति जब मोक्ष को प्राप्त करने के उद्देश्य से यथाख्यात चारित्र स्वरूप आत्मतत्त्व को जो वास्तविक मोक्ष का कारण या मोक्ष स्वरूप है। उसे पाने के लिये आत्मा-रूप मन्थनदण्ड को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान-रूप दो रस्सियों से यथाक्रम से चलाने के लिये उद्यत होती है, तब यदि वह सम्यग्दर्शन-रूप रस्सी को अपनी ओर खींचती है तो दूसरी सम्यग्ज्ञान-रूप रस्सी को ढीला कर देती है, और जब सम्यग्ज्ञान-रूप रस्सी को अपनी तरफ आकर्षित करती है, तब सम्यग्दर्शन-रूप रस्सी को ढीला कर देती है। दो में से किसी भी रस्सी को सर्वथा नहीं छोड़ती। तब उसे सम्यक्चारित्र-रूप तत्त्व की उपलब्धि होने से अनायास ही अपना उद्दिष्ट मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

अथवा—वस्तु तत्त्व को समझने के लिये जो जिज्ञासु पुरुष गोपी के तुल्य जैनी-नय-नीति का आश्रय लेकर वस्तु-रूप को मन्थन करने के लिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों रस्सियों को पकड़ कर चलता है, वह निःसन्देह ही वस्तु स्वरूप को पा लेता है। क्योंकि वह जैनी नीति के अनुसार जब द्रव्यार्थिक (द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है) नय को मुख्य करके और पर्यायार्थिक (पर्याय ही जिसका प्रयोजन है) नय को गौण करके अथवा प्रयोजन वश कभी पर्यायार्थिक को मुख्य और द्रव्यार्थिक को गौण करके वस्तु स्वरूप के विचार में निमग्न होता है, तब उसे सत्य तथ्य और पथ्य वस्तु स्वरूप सहज में ही हाथ लग जाता है। यह सर्व जैनी नीति का ही माहात्म्य है, और है परम अविनाशी सच्चिदानन्द चैतन्य घन के स्वरूप आत्मा के स्वभाव परिणमन का प्रभाव। जो स्वाध्याय से ही प्रकाश मार्ग में आता है। एक ही पदार्थ किसी अपेक्षा से नित्य है, तो किसी अपेक्षा से अनित्य है, किसी अपेक्षा से एक है, तो किसी अपेक्षासे अनेक है, आदि परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता की महत्ता को स्वीकृत करनेवाला एकमात्र स्याद्वाद् सिद्धान्त ही है, और यह हम सबके अनुभव में भी आता है। अतएव हम कहा करते हैं कि एक ही मनुष्य किसी का पुत्र है, तो किसी का पिता है, तो किसी का मामा है, तो किसी का नाना है, तो किसी का चाचा है, तो किसी का दादा है, तो किसी का बहनोई है, तो किसी का साला है, तो किसी का मौसा है, तो किसी का फूफा है, तो किसी का दामाद है, तो किसी का नाती है, तो किसी का पन्ती है, तो किसी का सन्ती है आदि अनेक सम्बन्धात्मक धर्म उसके अन्दर विद्यमान हैं, और वे सब विभिन्न अपेक्षाओं से अपेक्षित हैं। निरपेक्ष एक भी नहीं है। उन तमाम अपेक्षाओं को साथ में रखनेवाला वह मनुष्य एक होकर भी अनेक है। एक है अपनी अपेक्षा से, और अनेक है, अनेकों की अपेक्षाओं से। अगर वह पिता है, तो अपने पुत्र की अपेक्षा से। यदि उसे कोई सिर्फ पिता ही कहने लगे, तो उसका उक्त कहना सर्वथा बाधित होगा। क्योंकि वह संसार भर का पिता नहीं है, किन्तु अपने पुत्रों का ही पिता है, अन्यों का नहीं। इस तरह अपेक्षावाद या कथञ्चिद्वाद का नाम ही स्याद्वाद है, जो तमाम झगड़ों को दूर करनेवाला है। ऐसे स्याद्वाद् सिद्धान्त को अपनाये बिना सुख-शान्ति नहीं हो सकती। कहते हैं कि किसी नगर में एक

चतुर्मुखी प्रतिमा चौराहे पर विराजमान थी। पूर्व दिशा की ओर सुवर्णमय, पश्चिम की ओर रजतमय, उत्तर की ओर रक्तमणिमय और दक्षिण की तरफ नीलमणिमय उस प्रतिमा के क्रमशः मुख थे। चारों दिशाओं से आनेवाले मनुष्य अपनी-अपनी दिशा सम्बन्धी प्रतिमा के मुखों को देख कर परस्पर कलह करने लगे। कोई कहता कि यह तो सुवर्णमय ही है; तो दूसरा कहता कि नहीं जी, यह तो चाँदी की ही है; तीसरा कहता कि नहीं जी, यह तो लाल मणि की ही है; चौथा कहता कि नहीं जी, यह तो नीलमणि की ही है। इस प्रकार विवाद करनेवालों के विवाद को सुनने की इच्छा से कोई अपरिचित व्यक्ति उनके पास पहुंचा और विवाद का कारण पूछने लगा, तब उन लोगों ने अपने-अपने मन्तव्य के अनुसार सारा वृतान्त कह सुनाया। उस व्यक्ति ने तटस्थता के नाते कुछ विचार कर चुकने के बाद उन लोगों से कहा कि यदि आप लोग कहें तो हम आप सबके विचारों को ठीक ढंग से बैठा दें। उन लोगों ने कहा कि बहुत ही अच्छा; आप समझाइये। तब उस तटस्थ पुरुषने कहा कि—भाई आप लोगोंका कहना लड़ाई का कारण इसलिये हो रहा है कि आप लोग अपने-अपने वचन के साथ 'ही' शब्द लगा रहे हैं। यदि आप लोग हमारा कहना माने तो हम कहते हे कि भाई आप सब अपने-अपने वचन के साथ की ही की जगह 'भी' लगा दीजिये और फिर देखिये कि आप सबमें झगड़ा होता है या नहीं। उन लोगों ने जब 'ही' की जगह 'भी' लगाया तो वे सब बड़े खुश हो पड़े और बोले कि—महाराज आप अच्छे आ मिले। आप के निमित्तसे हम लोगों का विवाद ही शान्त नहीं हुआ है; किन्तु हमेशाके लिये हम लोगोंका अज्ञानान्धकार ही मिट गया है, और ज्ञान की अमिट ज्योति हम लोगों के हाथ लगी। इससे ज्यादा और क्या लाभ हो सकता है ? इसके लिये आप को धन्य है, इत्यादि।

प्रमाण सप्तभङ्गी—प्रमाण सप्तभङ्गी का अर्थ है—परस्पर विरोधी धर्मों की प्रमुखता और गौणता के साथ सात प्रकार के वाक्यों द्वारा वस्तु के स्वरूप को प्रस्तुत करना।

(१) अस्तित्व धर्म की प्रमुखता से वस्तु स्वरूप का विवेचन। (२) नास्तित्व धर्म की प्रमुखता से वस्तु स्वरूप का विवेचन। (३) अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों की प्रमुखता से क्रमशः वस्तु तत्त्व का विवेचन, (४) अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों की प्रमुखता से एक साथ वस्तु तत्त्व का विवेचन असम्भव है, अतएव अवक्तव्य। (५) अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों की प्रमुखता से एक साथ वस्तु तत्त्व का विवेचन असम्भव है तो भी अस्तित्व धर्म से वस्तु तत्त्व का विवेचन सम्भव है। (६) अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों के सुविवेचन एक साथ असम्भव है, तो भी नास्तित्व धर्म की प्रमुखता से वस्तु तत्त्व का विवेचन हो सकता है। (७) अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों की प्रमुखता से एक साथ वस्तु तत्त्व का विवेचन असम्भव है तो भी क्रमशः दोनों धर्मों की प्रमुखता से वस्तु तत्त्व का विवेचन हो सकता है। इस प्रकार ये सात वचन—प्रमाण सप्तभंगी के होते हैं। इन्हीं का नाम-

प्रमाण सप्तभङ्गी है। **नयसप्तभङ्गी**– नयसप्तभंगी का अर्थ है—नयवचन के द्वारा वस्तु गत परस्पर विरोधी दो धर्मों का विवेचन करना सो भी सम्भावित सात वचनों द्वारा।

(१) अस्तित्व धर्म का विवेचन। (२) नास्तित्व धर्म का विवेचन। (३) अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों का क्रमशः विवेचन। (४) अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों का एक साथ कहना असम्भव है, अतएव अवक्तव्य। (५) अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों का एक साथ विवेचन असम्भव है, तो भी अस्तित्व का कथन हो सकता है। (६) अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों का एक साथ विवेचन असम्भव है, तो भी नास्तित्व का कथन हो सकता है। (७) अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों धर्मों का एक साथ विवेचन असम्भव है, तो भी क्रमशः दोनों का कथन हो सकता है। इन्हीं का नाम *नयसप्तभङ्गी* है।

प्रमाण सप्तभंगी के जिन सात वाक्यों का हम ऊपर विवेचन कर आये हैं। उनमें प्रत्येक वाक्य में विवक्षा और अविवक्षा कहने के लिये इष्ट और कहने के लिये इष्ट नहीं—ये दोनों साथ में मुख्य और गौण-रूप से सन्निहित है। यदि ऐसा न माना जायगा तो वस्तु तत्त्व की उपलब्धि प्रायः असम्भव ही होगी।

नयसप्तभंगी में भी जिन वाक्यों का ऊपर हम निर्देश कर आये हैं, उनमें भी वस्तुगत अनेक धर्मों में से जिन परस्पर दो विरोधी धर्मों का विवेचन किया गया है, उनमें एक प्रधान और दूसरा गौण है। वक्ता ने जिस समय जिस धर्म को कहना इष्ट किया, उस समय वही धर्म कहा जायगा, अन्य नहीं। वह अन्य धर्म उसी वस्तु में गौण-रूप से विद्यमान है। सिर्फ उस समय उसके कहने की इच्छा वक्ता के नहीं है, और अगर वक्ता कहने की इच्छा भी करे तो इच्छामात्र से क्या हो सकता है ? क्योंकि एक समय में परस्पर में विभिन्न दो धर्मों का विवेचन कर सकना सम्भव नहीं है। ज्ञान में तो एक ही वस्तु के अनन्त धर्म एक ही समय में आ सकते है; अर्थात् जाने जा सकते हैं, पर कहे नहीं जा सकते। कारण कि कहनेवाले शब्दों में एक समय में एक साथ अनन्त धर्मों को कहनेवाला शब्द उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार से प्रमाण सप्तभंगी में वस्तु की और नय सप्तभंगी में वस्तुगत धर्म की विवक्षा की प्रधानता है, और इसी को स्पष्टतया खुलासा करनेवाला स्याद्वाद सिद्धान्त है, जैसा कि हम ऊपर लिख आये है। यह सब हमें स्वाध्याय से अवगत होता है। अतएव स्वाध्याय का महान् माहात्म्य है, और इसलिये इसे श्रावकों के षट् कर्मों में स्थान प्रदान किया गया है। इतना ही नहीं किन्तु मुनियों के षट् आवश्यकों में भी इसकी गणना की गई है। आवश्यक का अर्थ है—जिसे जरूर ही करना पड़े या जिसके किये बिना कर्तव्य की अपूर्ति अपूर्णता का कर्ता को स्वयं ही अनुभव हो। साधुजन तो इसे नित्यप्रति करते ही हैं। इससे उनकी आत्मा में विशेष ज्ञान का उदय होता है, साथ ही अशुभ से रक्षा और शुभ में प्रवृत्ति होने

से सातिशय पुण्य का बन्ध-रूप साक्षात् फल उपलब्ध होता है, और परम्परा मोक्ष की प्राप्ति भी अवश्यम्भाविनी हो जाती है। अर्थात् स्वाध्याय का फल न केवल सांसारिक उत्तम पद प्राप्त होना है; किन्तु मोक्ष-पद की प्राप्ति भी इसी का अन्तिम सुफल है।

कर्म-सिद्धान्त—कर्म-सिद्धान्त का जितना गवेषणापूर्ण तात्त्विक विवेचन जैन-सिद्धान्त ने प्रस्तुत किया है, उतना गहराई और सूक्ष्मता के साथ भारतीय एवं भारतीयेतर वैदेशिक दर्शन शास्त्रोंमें सम्भवतः देखने को नहीं मिल सकता। उसका कारण एकमात्र अपूर्ण ज्ञान है। अर्थात् जैन-सिद्धान्तकारों के अतिरिक्त जितने भी कर्म-सिद्धान्त के विवेचक जैनेतर सार्वभौम विद्वान हुए हैं, वे सब अपूर्ण ज्ञानी थे। अतएव वे कर्म-सिद्धान्त की गहनता एवं उसकी बारीकियों को समझ ही नहीं सके।

जैन-सिद्धान्त के मूल विवेचक भगवान सर्वज्ञदेव हैं, और उनके पश्चात्वर्ती जितने भी उसके उत्तर विवेचक आचार्य हुए हैं, वे सब भगवान सर्वज्ञदेव की वाणी का अनुसरण करनेवाले हुए हैं। अतएव वे भी उसकी बारीकियों से पूर्ण-रूपेण परिचित रहे हैं। ऐसी स्थिति में उनके कर्म सिद्धान्त विषयक विवेचनात्मक शास्त्र पूर्णता को लिये हुए हैं। यह ठीक है कि—दुनिया में जितने भी आस्तिक दर्शनकार हुए हैं, उन्होंने भी कर्म-सिद्धान्त की चर्चा अपने-अपने दर्शन शास्त्रों में यत्र-तत्र की है। यद्यपि उन्होंने कर्म और कर्मज संस्कारों को माना है। पर कर्म कोई पृथक् जुदी चीज है—ऐसा उन्होंने स्वीकार करने से इन्कार किया है। उनका कहना है कि यह जीवात्मा कर्म करने में तो स्वाधीन है। अर्थात् वह अच्छे और बुरे कर्म करने में पूर्ण रीत्या स्वतन्त्र है, पर भोगने में स्वतन्त्र नहीं है। जैसा कि भगवद्गीता में श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं कि—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन अर्थात् हे अर्जुन कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में नहीं। फल में मेरा अधिकार है, अच्छे और बुरे कर्म का अच्छा और बुरा फल देना मेरे अधिकारों में है, इत्यादि। इस प्रकारसे दूसरे आस्तिक सिद्धान्तवादियों ने भी कर्म और कर्मों का फल तो स्वीकार किये हैं। पर उनके स्वरूप में उनका अपना सिद्धान्त जैन-सिद्धान्त से बिलकुल मेल नहीं खाता। उन्होंने यह तो कहा है कि हरेक प्राणधारी कर्म करता है। अर्थात् वह खाता, पीता, सोता, उठता, बैठता, चलता, फिरता, लड़ता, झगड़ता, उपकार करता, डरता, मरता, जन्मता आदि और ये कर्म के संस्कार उसके साथ में बने रहते हैं। जिससे वह उनके ही अनुरूप कार्यात्मक प्रवृत्ति करता रहता है। लेकिन वे कर्म क्या हैं? उनका स्वरूप क्या है? आत्मा के साथ वे कब से हैं? उनका अन्त अवसान या विनाश होता या नहीं? और होता है तो कैसे? इत्यादि प्रश्नों का उनके यहां कोई समाधानात्मक उत्तर नहीं है और जो कुछ थोड़ा बहुत है वह विवेकी विचारक के लिये सन्तोषाधायक नहीं है। जैन-सिद्धान्त का कर्म सिद्धान्त एक अनूठा और सर्वाङ्ग पूर्ण सिद्धान्त है। जिसे साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु की वाणी से ही ग्रन्थित कर लिखा गया है। वे कर्म मूलतः पौद्गलिक हैं, पुद्गल तत्त्व से ही उनका निर्माण होता है। अर्थात् इस लोक में पुद्गल की तेईस प्रकार की वर्गणाएँ पाई

जाती हैं। उनमें कार्मण जाति की वर्गणाएँ भी हैं। जो तमाम लोकाकाश में व्याप्त है। जब कर्मबद्ध जीव के राग-द्वेष आदि परिणामों का निमित्त मिलता है, तब वे ही कार्मण वर्गणाएं कर्मत्वदशा को प्राप्त होकर आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त कर लेती हैं, उन्हें ही जैन-सिद्धान्त में कर्म कहा गया है। अर्थात् वे कर्म स्वतन्त्र जड़ तत्त्व-रूप हैं। केवल क्रियात्मक नहीं हैं, बल्कि द्रव्यात्मक हैं। काय, वचन और मन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्द—हलन-चलन-रूप क्रिया होती है, उससे नवीन कर्मों का आना शुरू होता है। इसको आस्रव कहते हैं। ऐसा आस्रव दो विभागों में विभक्त हो जाता है। एक भावास्रव और दूसरा द्रव्यास्रव। आत्मा के मोह राग-द्वेषादि-रूप जो भाव होते हैं, वे ही भावास्रव शब्द से कहे जाते हैं, और उनके निमित्त से जो कार्मण जाति की पुद्गल वर्गणाएं खिंच कर आती हैं, उन्हें द्रव्यास्रव शब्द से कहा गया है। वे ही कार्मण वर्गणाएं जो खिंच कर आई हैं, उनमें भी चार विभाग हो जाते :—(१) पहले विभाग में तो उनकी प्रकृति यानी स्वभाव का निर्णय हो जाता है कि आये हुए कार्मण वर्गणा के परमाणुओं में आत्मा के अमुक-अमुक गुणों को घातने का स्वभाव है। (२) दूसरे में उनकी संख्या का निश्चय किया जाता है कि वे संख्या में इतने है, इत्यादि। (३) तीसरे में वे आये हुए कार्मण वर्गणा के परमाणु कबतक इस आत्मा के साथ सम्बद्ध रहेंगे—ऐसी कालकृत मर्यादा का बंध जाना। (४) चौथे में वे आये हुए कर्म परमाणु आत्मा को क्या-क्या और कैसा-कैसा फल देंगे। ऐसा निश्चय होना उपर्युक्त चार अवस्था को लेकर उनका आत्मा के प्रदेशों में दूध और पानी की तरह एक क्षेत्रावगाह-रूप से सम्बन्ध स्थापित कर लेने का नाम ही चार प्रकार का बन्ध है। अर्थात् (१) प्रकृतिबन्ध, (२) प्रदेशबन्ध, (३) स्थितिबन्ध, (४) अनुभागबन्ध।

उपर्युक्त चार प्रकार के बन्ध में से आदि के दो बन्ध तो अर्थात् प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगों (काय, वचन और मन) के निमित्त से होते हैं, और शेष के स्थिति और अनुभाग-बन्ध कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) के निमित्त से होते हैं।

प्रकृति-बन्ध के मूल में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय ये आठ भेद हैं। इनमें प्रथम ज्ञानावरण कर्म का कार्य आत्मा के ज्ञानगुण को आवरण (ढांकना) है। दर्शनावरण का कार्य आत्मा के दर्शन गुण का आवरण (ढांकना) है। वेदनीय कर्म का कार्य आत्मा को सुख-दुःख का वेदन कराना है। इसमें भी दो विशेषताएं हैं। पहली विशेषता तो यह है कि यह आत्मा को आत्मा-रूप से विश्वास नहीं होने देता, किन्तु पर शरीर को ही आत्मा-रूप से श्रद्धान कराता है। दूसरी विशेषता है, आत्मा में आत्मा-रूप से आचरण नहीं होने देना। आयु कर्म का कार्य आत्मा को किसी एक शरीर में रोक रखने का है। नाम कर्म का कार्य नाना प्रकार के शरीर आदि का निर्माण करना है। गोत्र कर्म का कार्य लोक प्रसिद्ध उच्च कुल में जन्म धारण कराना और नीच कुल में पैदा करना है। अन्तराय कर्म का कार्य दानादि कार्यों में विघ्न उपस्थित करना है। इनमें ज्ञानावरण, दर्शना-

वरण, मोहनीय और अन्तराय। ये चार कर्म आत्मा के अनुजीवी गुणों के घातक हैं। अतएव घाति कर्म कहे जाते हैं। शेष के चार वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र अघाति कर्म कहलाते है। इनमें प्रथम ज्ञानावरण के ५ पांच भेद हैं, दर्शनावरण के ६ भेद हैं, मोहनीय के मूल २ भेद हैं, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीयके ३ तीन भेद हैं और चारित्र मोहनीयके मूलमें २ भेद हैं, कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय। कषाय वेदनीय के १६ भेद है और नोकषाय वेदनीय के ६ भेद है। वेदनीय के दो भेद हैं। साता वेदनीय और असाता वेदनीय। आयुके चार भेद हैं। नाम कर्म के ९३ भेद है गोत्र कर्म के दो भेद और अन्तराय के ५ पांच भेद है। इस प्रकार से कर्मों के कुल उत्तर भेद १४८ है, ये कर्ममूलमें भी दो भेद वाले हैं—एक द्रव्य कर्म और दूसरे भाव कर्म। द्रव्य कर्म पौद्गलिक होने से जड़ हैं मूर्तिक है स्पर्श रसगन्ध और वर्णवाले हैं। भाव-कर्म, राग, द्वेष; मोह रूप है ये आत्मा के ही विकारी भाव है, अतएव चैतन्य रूप है अमूर्तिक हैं। ये दोनों प्रकार के कर्म प्रत्येक संसारी आत्माके अनादिकाल से हैं, और जब तक आत्मा संसार में रहेगा, तब तक इन सबका सम्बन्ध भी आत्मा से बना रहेगा। आत्माओं में भी ऐसी अनन्तानन्त आत्माएं हैं जिनका कर्मों के साथ अनाद्यनन्त सम्बन्ध बना रहेगा, उसका कभी भी अन्त'विनाश' नहीं होगा। ये आत्माएं अभव्य कहलाती है, अर्थात् इनके सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति रूप योग्यता का अभाव है, यह अभाव भी एक कालिक नहीं है, किन्तु त्रैकालिक है। भव्यों में भी ऐसे जीव अनन्तानन्त हैं जिन्हें तीन काल में भी उक्त प्रकार के रत्नत्रय की उपलब्धि नहीं होगी उन्हें आगम में दूरान्दूर भव्य संज्ञा दी गयी है जो बहुधा अभव्य सरीखे ही है। और जो भव्य है जिनके रत्नत्रय के प्रकट करने की योग्यता है उनकी अपेक्षा से ये ही कर्म अनादि सान्त हैं, लेकिन जीव के साथ कर्म की सन्तति अनादि से है, इसमें कोई ननु और नच करने की गुंजायश नहीं है क्योंकि ससार में शुद्ध जीव की उपलब्धि नहीं है, और जहां शुद्ध जीवो की सत्ता है वहां यह बात अलबत्ता है, कि वे अशुद्ध दशा का परित्याग करके ही शुद्ध हुए है, मूलतः कोई भी जीव इस संसार में शुद्ध नहीं है यदि कोई जबरन यह कहें कि संसार में शुद्ध जीव कर्मों से बंधकर अशुद्ध होते हैं तब तो मुक्त जीवों के बंधने का प्रसङ्ग आ जायगा ऐसी स्थिति में मुक्त जीवों के भी संसार दशा होने पर मुक्तों का अभाव हो जायगा या फिर मोक्ष पुरुषार्थ ही नष्ट हो जायगा और सप्ततत्त्वों में मोक्षतत्व का विनाश होने से सप्ततत्त्व की व्यवस्था ही नष्ट प्राय हो जायगी। अतः तत्त्व व्यवस्था को बाकायदे कायम रखने के लिये शुद्ध जीवों का बंधना किसी प्रकार से स्वीकार नहीं हो सकता है। यह तो सर्वसाधारण जग प्रसिद्ध है कि संसार में सुवर्ण की प्राप्ति सुवर्ण पाषाण से होती है और वह सुवर्ण पाषाण सुवर्ण की खान से प्राप्त होता है, वैसे ही शुद्ध जीव की उपलब्धि अशुद्ध जीव से होती है, और वह अशुद्ध जीव मूलतः निगोद राशि से ही निकलता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे शुद्ध सुवर्ण जिसमें किट्टकालिमा आदि कोई भी विकार न हो, किसी भी सुवर्ण पाषाण की खानि में नहीं मिलेगा, किन्तु वहां तो वह पाषाणके रूपमें ही प्राप्त होगा पश्चात् कोई सुवर्णकार उसे अपने बौद्धिक

बल से और बाह्य में अग्नि आदि के निमित्त से उसे शुद्ध करके दुनियां के सामने शुद्ध सुवर्ण के रूप में उपस्थित कर दिखाता है, वैसे ही कोई भव्यात्मा नित्य निगोद से निकलकर स्वयमेव ही शुद्ध दशा को प्रकट करने के लिये बाह्य में अरहन्त आदि पञ्चपरमेष्ठियों की भक्ति आदि का निमित्त पाकर और अन्तरंग में तपश्चरणादि रूप अग्नि को प्रज्वलित करके कर्म रूप महामल को भस्म कर दे तो शुद्ध सिद्ध दशा को प्राप्त कर सकता है। उक्त प्रकार से उक्त प्रकार की शुद्ध सिद्ध दशा के प्रकट हो जाने पर फिर कभी भी वह अशुद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि अशुद्धि का मूल बीज द्रव्य कर्म और भाव कर्म थे जिनको ध्यानाग्नि द्वारा सर्वथा और सर्वदा के लिये दग्ध कर दिया गया है। अतएव जैसे बिना बीज के वृक्ष की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, वैसे ही बिना द्रव्य और भाव-कर्म के नवीन कर्म-बन्ध भी असम्भव है। ऐसा समझ कर शुद्ध जीव के बंधने की आशंका ही नहीं करनी चाहिये।

स्थान — तिथि : आषाढ़ सुदी ३ सं० २०१५

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। — ता० २०-६-५८

कर्म की दश दशाएँ

कर्म-सिद्धान्त में कर्म के दश करणों का विधान भी किया गया है, जो निम्न प्रकार से है :—

(१) बन्ध, (२) उत्कर्षण, (३) अपकर्षण, (४) सत्ता, (५) उदय, (६) उदीरणा, (७) संक्रमण, (८) उपशम, (९) निकांचना और (१०) निधत्ति।

बन्ध—योग और कषाय के निमित्त से कर्म-पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों के साथ मिल कर एकमेक हो जाना बन्ध है। ऐसा बन्ध—प्रकृति-बन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभाग-बन्ध और प्रदेश-बन्ध के भेद से चार प्रकार का है। प्रकृति-बन्ध में ज्ञानादि गुणों के घात करने के स्वभाव की प्रधानता है। स्थिति-बन्ध में उन समागत कर्मों का किसी नियत समय तक आत्मा के साथ बंधे रहने की मुख्यता है। अनुभाग-बन्ध में उन सम्बन्धित कर्मों में अच्छे और बुरे, शुभ और अशुभ, सुख और दुःख देने-रूप शक्ति का सञ्चित होना है। प्रदेश बन्ध में आगत कर्म-परमाणुओं की गणना (संख्या) की मुख्यता है।

यहां यह आशंका हो सकती है कि—कर्म तो जड़ है, अचेतन है, उनमें आत्मा के ज्ञान आदि गुणों के आच्छादन करने का स्वभाव कैसे पड़ जाता है? इसका समाधान यदि हम अपनी शरीर प्रकृति की तरफ दृष्टिपात करें तो सहज ही में हो सकता है। अर्थात् जैसे मुख द्वारसे भक्षण किया हुआ भोजन उदर में पहुचते ही रस, रुधिर आदि सप्त धातु-रूप परिणमन कर जाता है, वैसे ही योग द्वार से आस्रवित कर्मों में भी कषायजनित विभिन्न प्रकार के भावों के अनुसार ही उनमें विभिन्न प्रकार के गुणों को

ढांकने का स्वभाव पड़ जाता है। अर्थात्—आत्मा के जैसे तीव्रमन्द, तीव्रतम, मन्दतम आदि भाव होते हैं; उनमें वैसा ही आत्मा के गुणों को घात करने का स्वभाव हो जाता है। स्थिति-बन्ध में भी आत्मा के भावों की पुट काम करती है। जैसे आत्मा के भाव होंगे, वैसी ही कर्मों में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति कालकृत मर्यादा पड़ेगी। अनुभाग-बन्ध में भी भावों के अनुकूल ही फल देने की शक्ति प्रादुर्भूत होती है। जैसे अग्नि के कण चिनगारी से लेकर एक महान् धधकती हुई ज्वाला में जलाने की शक्ति की हीनाधिकता पाई जाती है, वैसी ही आत्मा के भावों के अनुसार कर्मों में भी सुख-दुःख देने की शक्ति हो जाती है। प्रदेश-बन्ध में भी आत्मा के भावों की शक्ति काम करती है। जिस जाति की भाव शक्ति होगी, उसी के अनुरूप कार्मण वर्गणाएं भी खिचेंगी। जैसे चुम्बक पाषाण में जितनी शक्ति होगी, उसी के अनुसार ही लोहे के कण खिचेंगे। अथवा एक तपा हुआ लोहे का कण और उससे भिन्न तपा हुआ एक लोहे का महान् गोला जैसे अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार ही जलकणों को आकर्षित करता है, वैसे ही आत्मा भी अपने तीव्र मन्द आदि भावों के अनुसार ही कार्मण वर्गणा के परमाणुओं को आकर्षित करता है। इस प्रकारसे चारों ही बन्ध आत्मा के नाना प्रकारके भावों के तारतम्य पर निर्भर हैं। हां, यह बात जरूर ही जान लेनी चाहिए कि—उक्त चार प्रकार के बन्धों में दो बन्ध तो योगों के आश्रित हैं और दो बन्ध कषायों के आश्रित हैं। उनमें प्रकृति-बन्ध और प्रदेश-बन्ध तो योगजनित क्रिया के ऊपर अवलम्बित हैं। स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्ध ये दो कषायों के ऊपर आधारित हैं। जैसे किसी व्यायामशाला में दो पहलवान बैठे हुए हैं। एक के शरीर पर तेल का मालिस किया हुआ है और दूसरे के शरीर पर कुछ भी सचिक्कण पदार्थ का सम्बन्ध नहीं हैं। अब यदि हवा चले तो धूलि के कण जरूर उड़ कर उन दोनों के शरीर से संसर्गित होंगे। क्योंकि हवा का कार्य धूलि के कणों को उड़ा कर ले जाना है और उन धूलि कणों में उड़ कर जाने की स्वाभाविकी शक्ति है। अब वे धूलि कण उन दोनों पहलवानों के शरीर पर पहुंचते हैं तो एक के शरीर से तो वे एकदम चिपट कर सम्बन्धित हो जाते हैं और दूसरे के, जिसके शरीर पर चिकनाई नहीं है, शरीर पर लगते ही नीचे गिर जाते है, ठहरते नहीं हैं। वैसे ही कषायवान जीवों के कर्म-परमाणुओं का आत्मा के साथ बहुत काल तक बंध कर रहना होता है। परन्तु जो जीव निष्कषाय हैं, जिन्होने मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय कर दिया है, उनके कर्म-परमाणु आते तो हैं, क्योंकि उनके योगजनित क्रिया होती है और वह क्रिया कर्म-परमाणुओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है। पर उन्हें स्थिर रखनेवाला कोई नहीं है। अतएव वे जैसे आते हैं, वैसे ही चले भी जाते हैं। इससे यह तात्पर्य निकला कि—कषायजनित बन्ध ही आत्माको दुःखदायी है। ऐसा समझ कर जो दुःखसे भयभीत होना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे कषायों पर विजय प्राप्त करने का सतत् उद्योग करें।

अब यहां पर कोई भी तटस्थ व्यक्ति यह आशंका कर सकता है कि—आत्मा तो अमूर्तिक तत्त्व है, उसके साथ मूर्तिक पुद्गल परमाणुओं का जो कि कार्मण वर्गणाओं में परिगणित हैं, कैसे बन्ध हो

सकता है ? मूर्तिक का मूर्तिक के साथ बन्ध हो जाना तो बुद्धि में जमता है, जंचता है, परन्तु अमूर्तिकके साथ मूर्तिक के बन्ध को बुद्धि सहसा स्वीकार करने को तैयार नहीं होती ? तो इसका समाधान यह है कि शुद्ध अमूर्तिक का मूर्तिक के साथ बन्ध तीन काल में भी नहीं हो सकता है। लेकिन जो अमूर्तिक अनादितः मूर्तिक के साथ बंधा हुआ चला आ रहा है। उसके नवीन-बन्ध में तो शंका होनी ही नहीं चाहिए। कारण कि बन्ध से बन्ध की सन्तति चलती रहती है और वह तबतक बराबर चलती रहेगी, जबतक की बन्ध की सन्तति का उच्छेद नहीं कर दिया जायगा। दूसरी बात यह भी है कि कोई स्वस्थ मनुष्य बैठा हुआ है, उसके मन, वचन और काय में किसी प्रकार का विकार नहीं है, पूर्ण स्वस्थ है। ऐसे ही समय में यदि कोई शत्रु आकर जबर्दस्ती हठात् उसे विष का प्याला पिला देवे तो कुछ ही समय के पश्चात् उसे बेहोशी आ जायगी। उस समय में उसके मन, वचन और काय तीनों विकृत हो जायंगे। ठीक इसी प्रकार से कर्म-परमाणुओं का भी असर अमूर्तिक आत्मा पर पड़ता है और वह आत्मा अपने स्वरूप से बाहिर हो जाता है। लेकिन यह शरीरी आत्मा पर ही लागू होता है, अशरीरी पर नहीं। शरीरी आत्मा, जबतक शरीर का सम्बन्ध है, तबतक अमूर्तिक स्वरूप होते हुए भी मूर्तिक भी कहा जाता है और इसी से बन्ध का पात्र माना जाता है। यहां पर शरीरी से तात्पर्य यह है कि—जो शरीर से शरीर की परिपाटी को बनाता रहता है, वह नहीं लेना; जो शरीर से शरीर के आगामी सम्बन्ध का विच्छेद कर चुका है और कुछ समय के पश्चात् ही मुक्त होनेवाला है, अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था में अवस्थित है। अर्थात् अब जिसको जन्म धारण करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जन्म वही धारण करता है, जो आगामी आयु का बन्ध करता है। किन्तु जिसने आयु-कर्म का व्युच्छेद कर दिया है, केवल भुज्यमान आयु ही जिसके वर्तमान है और जो अब उसको पूर्ण करके अनन्तकाल के लिये सिद्धालय में ही जाकर अनन्त आत्मिक सहजानन्द की अनन्त लहरियों में लहरानेवाला है, उसके बन्ध की कथा कहां ? वह तो अबन्ध ही अबन्ध है और अनन्तकाल तक अबन्ध ही रहेगा। अतः मोह-जनित बन्ध को ही बन्ध मान कर उसके मूल कारण मोह का नाश करना ही श्रेयस्कर है।

उत्कर्षण— कर्मों की स्थिति और अनुभाग शक्ति को बढ़ाना। अर्थात्—पूर्वकाल में जिन शुभ या अशुभ भावों की तरतमता से कर्मों का बन्ध किया गया था, उनमें पूर्व की अपेक्षा अधिकाधिक शुभ और अशुभ भावों के द्वारा स्थिति और अनुभाग की शक्ति को बढ़ाना।

अपकर्षण—पूर्व में बन्ध किये हुये कर्मों की स्थिति और अनुभाग शक्ति को घटाना।

सत्ता—बांधे हुए कर्मों का आत्मा के साथ नियत काल तक बना रहना। अर्थात् जो कर्म बांधे जाते हैं वे तत्काल उदय में नहीं आते किन्तु कुछ समय ठहरने के बाद ही वे उदय में आते हैं। जैसे कोई सुरापायी यदि सुरापान कर ले तो तत्काल ही वह नशा की दशा में नहीं आयगा, किन्तु कुछ समय के पश्चात् उसे नशा की दशा का अनुभव होगा, वैसे ही कर्म बन्ध होने के कुछ समय, अर्थात्

बांधे हुए कर्म की स्थिति के अनुसार उसमें जो भी आबाधाकाल पड़ता है, उसके बीतने पर ही कर्म का उदय में आकर फल देना प्रारम्भ करता है, ऐसा कर्म सिद्धान्त का नियत नियम है। इसी का नाम ही सत्ता है।

उदय—बांधे हुए कर्म का आबाधाकाल पूर्ण होते ही, बाह्य में द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के निमित्त से फल देना शुरू करना। जैसे फलवान वृक्ष में पूर्व में पुष्प लगते हैं, बाद में फल लगना प्रारम्भ होता है।

उदीरणा—कर्म की स्थिति को अपकर्षण करण के द्वारा घटा कर बीच में (उदयकाल के पहले ही) उदय में लाना।

उपशम– कर्म को उदय में नहीं आने देना।

संक्रमण—एक कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति रूप कर देना। यह परिवर्तन ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृतियों में न होकर उत्तर प्रकृतियों में ही होता है और उनमें भी सजातीय प्रकृतियों में ही होता है, विजातीय में नहीं। और सजातीय में भी सभी में नहीं किन्तु आयु कर्म के प्रकृतियों को छोड़कर अर्थात् जैसे साता वेदनीय का संक्रमण असाता वेदनीय रूप से और असाता वेदनीय का साता वेदनीय रूप से। आयु में यह सक्रमण नहीं होता है अर्थात् यह जीव जिस आयु का बन्ध कर लेता है उसे उस आयु वाली गतिमें जन्म धारण करके उसको भोगना ही पड़ता है; वह बिना भोगे छूट नहीं सकती है।

निधत्ति—जो कर्मों का उदय और उनमें संक्रमण न होने दे।

निकांचना—जो कर्मोंका उदय-उत्कर्षण अपकर्षण और संक्रमण न होने दे। इस प्रकार से कर्म सिद्धान्त का यह स्थूल रूप से यत्किञ्चित वर्णन किया गया है, इसका विस्तार के साथ वर्णन पढ़ने की इच्छा रखने वाले स्वाध्याय प्रेमी सज्जन गोम्मट सार कर्म काण्ड आदि कर्म सिद्धान्त निरूपक ग्रंथोंको देखें। अथवा तत्वार्थ सूत्र के अष्टम अध्याय को पढ़े। आस्रवतत्व के निरूपक छठवें और सातवें अध्याय को भी देखें। कहने की गर्ज यह है कि कर्म सिद्धान्त को जितनी बारीकी और गहराई के साथ प्रतिपादन किया गया है उतना जैनेतर सिद्धान्तों में कहीं पर देखने को नहीं मिला। इस प्रकार से जैनधर्मानुसार कर्म सिद्धान्त की जो यत्किञ्चित् परिचयात्मिका व्यवस्था प्रस्तुत की गई है उसका उद्देश्य मात्र इतना ही है, कि कर्म किसी भी प्राणी को जबरन कष्ट नहीं देते किन्तु प्राणी स्वयं ही अपने अज्ञान के कारण उन्हें कर्मत्व दशा में लाकर अपने साथ उनका सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। कर्म तो

स्वभावतः जड़ अचेतन हैं, उन्हें किसी को कष्ट देना और किसी को सुख देना इष्टहीन ही हैं, क्योंकि इष्टता और अनिष्टता ये दोनों चैतन्य के ही बिकारी भाव हैं अतएव वे चेतन हैं। जो चेतन के भाव हैं, वे अचेतन पुद्गल के कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं, तीन काल में भी नहीं। हां यह अवश्य ही है कि उन अचेतन कर्म परमाणुओं में इष्ट की कल्पना करने वाले आत्मा के भावों की पुट से इष्ट की कल्पना करा देनेकी स्वगत शक्ति है, इसी प्रकार अनिष्ट कल्पना कराने की भी। ऐसी शक्ति रखने वाली वर्गणाओं को आगम में कार्मण वर्गणा के नामसे निर्देश किया गया है। अन्य वर्गणाओं में उक्त प्रकार की शक्ति नहीं हैं। उस शक्ति की अभिव्यक्ति आत्मा के राग द्वेषादिभावों से ही होती है, अन्यथा नहीं। जैसा कि इष्टोपदेशकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है :—

रागीवध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुच्यते
सूक्ष्मो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्वन्धमोक्षयोः ॥

अर्थात्—रागी जीव ही कर्मों को बांधता है, और वीतरागी ही कर्मों को छोड़ता है; ऐसा बन्ध और मोक्ष का सूक्ष्म स्वरूप संक्षेपमें भगवान जिनेन्द्र देवने कहा है। यहां यद्यपि रागका ही नाम लिया है पर रागके साथ साहचर्य सम्बन्ध रखने वाले द्वेष को भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि जहां राग होता है वहां द्वेष तो होता ही है ऐसा साहचर्य नियम है, जो निःसन्दिग्ध है।

यत्ररागःपदन्धत्तेद्वेषस्तत्रेतिनिश्चयः
उभावेतौ समालम्ब्य विक्रमत्यधिकंमनः ॥

तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा में राग होगा उस आत्मा में द्वेष अवश्य ही होगा। इसलिये ही मानव का मन दोनों राग और द्वेष का सहारा लेकर विषयों की ओर प्रवृत्त होता है। अतः यदि बन्ध का मूल कारण राग और द्वेष है तो मोक्ष का मूल बीज राग और द्वेष का सर्वदा ही अभाव है। राग के त्याग की प्रेरणा करते हुए कविवर पण्डित दौलतराम जी ने कितना सुन्दर और मनोहारी वचन कहा है कि :—

राग आग दहै सदा तातैं समाभृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निजपद वेइये ॥

अर्थात् हे आत्मन्! तू ने जन्म जन्मान्तरों में अनेकों बार भगवान सर्वज्ञ वीतरागी प्रभु के मुखारविन्द से सुना है कि इस संसार में संसरण करने वाले प्रत्येक प्राणी को चाह-विषयेच्छा रूप आग

जला रही है। उनकी जलन को जो भव्य प्राणी शान्त करना चाहते हैं उनके लिये क्षमता-राग-द्वेष का अभाव रूप अमृत का पान ही सर्वोत्तम अमोघ, अव्यर्थ औषध है, बिना इसके उनकी जलन की शान्ति नहीं हो सकती है, इसलिये यदि तू चाहता है कि मेरी आत्मा में अपूर्व शान्ति हो तो तू विषय और कषायों का त्याग कर। इसी से तुझे अपूर्व अननुभूत सुख-शांतिकी प्राप्ति होगी। तू ने विषय और कषायों का सेवन तो अनन्तोंबार किया उसके फलस्वरूप अनन्त दुःखों का अनुभव भी अनन्तोंबार किया परन्तु आत्मिक सुख शान्ति का तो तुझे अंश भी कभी नहीं मिला अनुभव में नहीं आया। वह तो तेरे लिये अपूर्व चीज है, और अननुभूत है, उसको प्राप्त करने के लिये तो अब तुझे हर तरह से कटिबद्ध हो जाना चाहिये। अगर तू कदाचित् विषय कषायों से हटकर और आत्मानुभव में डटकर लग जायगा तो तुझे वह अपना अविनाशी पद प्राप्त हो जायेगा जिसके प्राप्त होने पर फिर तुझे कभी भी इस विषम वातावरण में आने का और रहने का अवसर प्राप्त नहीं होगा। अर्थात् अपनी भूल से ही यह आत्मा दुःख शूल में पड़ रहा है। और उन दुःखों के उत्पादक में चेतन और अचेतन पदार्थों के संयोग और वियोग हैं, जिनका संयोग होता है, अगर वे इष्ट हैं तो उनमें सुख का अनुभव करने लगता है, जो वस्तुतः सुख नहीं है किन्तु सुखाभास है और वे ही जब कालान्तर में वियोग को प्राप्त हो जाते हैं, तो दुःखके जनक हो जाते हैं इसमें प्रधान आभ्यन्तर मोह ही कारण है। बस उसी का अभाव ही अनन्त सुख का कारण है, ऐसा समझकर निर्मोही बनने में ही आत्मा का परम श्रेय है। अतएव उसे ही अपनाना चाहिये।

इस बन्ध के विषय में हमें कविवर पण्डित द्यानतराय जी का वह उद्बोधक भजन याद आ गया है जो वस्तुतः बन्धतत्त्व की हेयता को प्रकट करता है, और यह भी जाहिर करता है कि बन्ध का मूल कारण राग द्वेष है; अब हम अमर भये, न मरेंगे, तन कारण मिथ्यात्व दियो तज क्यों कर देह धरेंगे।

स्थान :—
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता।

तिथि : आषाढ़ बदी १४ सं० २०१५
ता० २१-६-५८

अब हम अमर भये न मरेंगे
तन कारन मिथ्यात्व दियो तज
क्यों कर देह धरेंगे ॥ अब० ॥
उपजै मरै कालवश प्राणी
तातें काल हरेंगे

अहिंसा—एक निषेधपरक पद है। जिसका अर्थ है हिंसा नहीं या हिंसाका अभाव। यहां किसी भी जिज्ञासु को यह जानने की स्वाभाविक इच्छा होगी कि हिंसा क्या है? तो कहना पड़ता है कि—अपने और दूसरों को दु:ख पहुंचाने की चेष्टा करना हिंसा है। यदि चेष्टा करनेवाला दूसरे को उसके पुण्योदय से कष्ट न पहुंचा सके, तो ऐसी हिंसा कष्ट पहुंचाने की चेष्टा करनेवाले के भावों के अनुसार ही उसी के क्रोधादि-रूप कषाय भावों से उसके ही सुखादि गुणों का घात होने से वह हिंसा भाव-हिंसा कही जायगी। और यदि कदाचित् सामनेवाले के पापोदय से उसकी चेष्टा सफल हो गई और इसके प्राणों का घात हुआ तो उसकी अपेक्षा से द्रव्य-हिंसा कहलायेगी। तत्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी ने हिंसा का लक्षण प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा— अर्थात् प्रमाद या कषाय के वश से द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के प्राणों का घात करना हिंसा है। यदि प्राणव्यपरोपणं हिंसा ऐसा हिंसा का लक्षण किया जाता तो क्या हानि थी? सूत्रकार को ऐसा सूत्र बनाने में प्रमत्तयोगात् पद का प्रयोग भी नहीं करना पड़ता जिससे सूत्र में भी लाघव-रूप लाभ होता, जो कि सूत्रकारों को अधिकतर इष्ट होता है। तो कहते हैं कि केवल प्राणों के घात को ही हिंसा मानने पर सबसे बड़ा दोष तो यह होता कि जो साधु ईर्या समितिपूर्वक चार हाथ आगे की जमीन देख कर और अन्तरंग में मेरे द्वारा किसी भी जीव का घात न हो जाय ऐसा पवित्र भाव लेकर चल रहे हैं। ऐसे ही समय में यदि किसी जीव के आयु-कर्म का अन्त होनेवाला हो और वह जीव उन साधु के पैर के नीचे आकर दब कर मर जाय तब तो साधु को हिंसा का दोष लग जायगा, क्योंकि उनके पैर के निमित्त से उस जीवके प्राणों का घात होने से हिंसा हो जायगी। तथा दूसरा कोई ऐसा व्यक्ति जो जंगल में जाकर किसी निरपराध जानवर को मारने के उद्देश्य से बन्दूक चलाता है, परन्तु वह जानवर अपने पुण्य के उदय से बाल-बाल बच जाता है तो वह व्यक्ति पूर्ण अहिंसक कहलायेगा। ऐसी स्थिति में जिसे पूर्ण अहिंसक कहना चाहिये, वह तो पूर्ण हिंसक कहा जायगा और जिसे पूर्ण हिंसक कहना चाहिये वह पूर्ण अहिंसक की कोटि में गिना जायगा। यह बहुत बड़ा ही विरोध उपस्थित हो जायगा। अतः उक्त विरोध का परिहार करने के लिये आचार्य ने प्रमत्तयोगात्-प्रमाद-कषाय के योग-सम्बन्ध से यह हेतुपरक पद दिया है। इस हेतु से पूर्वोक्त विरोध का परिहार हो जाता है। क्योंकि साधु के परिणामों में रक्षा का भाव सुरक्षित है। अतएव उनकी यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति है। इसलिये जीवके घात का दोष उन्हें नहीं लगता है और शिकारी के हिंसा करने के भाव हैं। अतएव वह हिंसक ही है। भले ही वह अपने कार्य में सफल न हुआ हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि बाह्य में प्रकट-रूप से किसी के मरने या न मरने से कोई हिंसक या अहिंसक नहीं होता, किन्तु भीतर के परिणामों से ही हिंसक और अहिंसक बनता है। जिसने दूसरे को मारने का भाव किया वह हिंसक ही है, भले ही वह जिसको मारना चाहता था उसे न मार सका हो। जिसको वह मारने की भरसक चेष्टा कर रहा था, वह अपने आयु-कर्म के सत्ता में रहने के कारण नहीं मर सका, यह उसके सत्कर्म का फल है। परन्तु मारनेवाले ने तो अपने परिणामों के अनुसार अपने

ज्ञानादि गुणों का घात तो कर ही लिया। इसलिये वह हिंसक तो हो ही चुका। इसी अभिप्राय का पोषक एक गाथासूत्र हम नीचे दे रहे हैं, जिसे पढ़ कर पाठक उक्त निर्णय पर अवश्य ही पहुंच जायंगे।

मरदुव जियदुव जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदाहिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तण समिदस्स॥

अर्थात जीव मरे या न मरे अयत्नाचार-शिथिलतापूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले के हिंसा निश्चित ही है, किन्तु प्रयत्न सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले साधु के हिंसा मात्र से बन्ध नहीं होता। क्योंकि परिणामों में रक्षा का भाव और तदनुसार गमन करनेवाले संयमी साधु के पैरों तले यदि कोई जीव दब कर मर जाय तो मुनि को तत्सम्बन्धी कर्म का बन्ध नहीं होता, ऐसा आगम का वचन है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैन-धर्म में भावों का ही प्राधान्य है। बन्ध की सारी सन्तति भावों पर ही निर्भर है। बिना भावों के कर्मों का बन्ध असम्भव है। प्रकृत में हमें चार बातों पर विचार करना चाहिये। (१) हिंस्य, (२) हिंसक, (३) हिंसा, (४) हिंसा का फल। हिंस्य—जिसकी हिंसा की जाय, हिंसक—हिंसा करनेवाला, हिंसा—प्राणों का घात तथा हिंसा का फल—पाप-दुर्गतियों की प्राप्ति। हिंस्य—जिनकी हिंसा की जाती है वे जीव दो प्रकार के है—एक जीव वे हैं, जो केवल स्पर्शन इन्द्रिय ही रखते हैं। वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के भेद से पाच प्रकार के है। उन्हें आगम की भाषा में स्थावर जीव कहते हैं। दूसरे प्रकार के जीव वे हैं जो दो इन्द्रिय से लेकर पाच इन्द्रियां तक रखते हैं। उन्हें शास्त्रीय भाषा में त्रस जीव कहते है। उन त्रसों में हम दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के प्राणियों को पाते हैं। जिनमें मुख्यतया विवेकी प्राणी मनुष्य ही है। मनुष्यों में भी सज्जन और दुर्जन, पुण्यात्मा और पापात्मा, सुखी और दुःखी, धनवान और निर्धन, बुद्धिमान और मूर्ख, सरल स्वभावी और कठोर परिणामी, दयावान और निर्दयी, सदाचारी और दुराचारी, परार्थी और स्वार्थी, आदि विभिन्न प्रकार के मनुष्य देखने में सुननेमें और अनुभव में आते हैं। इनमें बहुतसे मनुष्य तो ऐसे हैं कि जिन्हें अपने ही सुख-दुःख का ख्याल है, दूसरों के सुख-दुःख का कोई विचार ही नहीं है। बल्कि जो अपने सुख के पीछे दूसरे निरपराध मूक प्राणियों को दुःख में डाल कर आप अपनी मजा-मौज को ही सब कुछ समझते हैं। जैसे—मांसाहारी मनुष्य। इन्हें तो अपना पेट भरने के लिये मांस मिलना चाहिये। भले ही मांस को प्राप्त करने के लिये बकरा-बकरी, शूकर-शूकरी, बैल-गाय, मुर्गा-मुर्गी आदि किसी भी निरपराध जीव को मारना पड़े। और तो क्या ये मांसाहारी मनुष्यों तक को मार डालें तो इन्हें कोई बड़ी बात न होगी। फिर मुर्गा-मुर्गी, चील, कबूतर, कौवा आदि पशु-पक्षियों की तो बात ही क्या? आज के जमाने में तो बड़े-बड़े घरानों के युवक होटलों में जाकर मांस-मच्छी अण्डे आदि के खाने में ही अपनी शान-शौकत समझते हैं। उन्हें यह ख्याल ही नहीं है कि—इस मांस भक्षणके पापसे हमें तिर्यंच और नरक गति की तीव्र यातनाओं को भोगना पड़ेगा। इन्हें सोचना चाहिये कि—जैसे हमारे

शरीर में कांटा चुभने से हमें कष्ट होता है, वैसे ही दूसरे जीवों को भी होता होगा। जैसे हम दूसरे जीवों को अपनी जिह्वा इन्द्रिय की लोलुपता से मारने या मरवाने में बाज नहीं आते अगर वैसे ही दूसरे जीव हमको मारने या मरवाने का प्रयत्न करें तो हमारे ऊपर कैसी बीतेगी ? अतएव स्वयं जीवो और दूसरों को भी जीने दो। बस इसी का नाम अहिंसा है। यही मानव जीवन के लिये परम उपयोगी है। जो मानव उक्त अहिंसा सिद्धान्त को अपने जीवन में उतारेगा वह इस लोक में सुख, शान्ति, यश और समृद्धि आदि को तथा परलोक में भी अणिमा, गरिमा आदि अष्ट ऋद्धियों को प्राप्त कर संख्यात और असंख्यात वर्षों तक दिव्य भोगोपभोगों को भोगता हुआ आनन्द के साथ जीवन यापन करेगा।

अहिंसा प्रतिष्ठायांवैरत्यागः—जहां अहिंसा की प्रतिष्ठा—स्थिति होती है वहां वैरभाव को स्थान नहीं मिलता। अर्थात् अहिंसा का कोई वैरी नहीं होता। इतना ही नहीं, किन्तु अहिंसक के रहते हुए जन्मजात वैरी भी अपना वैरभाव छोड़कर मित्र भाव को धारण करते हैं। अतएव अहिंसा ही सर्वथा उपादेय है।

आध्यात्मिक अहिंसा—आध्यात्मिक आचार्य अमृत चन्द्र स्वामी के वचनों में अहिंसा की परिभाषा को उपादेय समझकर हम यहां दे रहे हैं, जो जैनागम का संक्षिप्त सार है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

अर्थात् आत्मा में आत्मस्वरूप के बाधक मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मात्सर्य आदि विविध प्रकार के विकारी भावों का न होना ही असली अहिंसा है। और इसके विपरीत उक्त प्रकार के विकृत भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है। यही अहिंसा और हिंसा के विषय में जैनागम का संक्षेप में सारात्मक कथन है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा मोक्ष का साक्षात् मार्ग है और हिंसा संसार का मार्ग है।

येनेष्टं तेन गम्यताम् जो जिसे अच्छा लगे वह उस मार्ग का अवलम्बन कर चले। जो यह चाहते हैं कि हमारा आत्मा इस चतुर्गति रूप संसार के कष्टों से छूटकर मोक्ष के अचिन्त्य अविनाशी सुख का भागी बने तो उन्हें चाहिये कि वे कर्मबन्ध के कारण भूत रागादि भावों को अपनी आत्मा में कदाचित् और किंचित् भी न होने दें। क्योंकि रागी ही कर्मों को बांधता है और वीतरागी छोड़ता है। ऐसा ही भगवान् सर्वज्ञदेव ने अपनी दिव्यध्वनिद्वारा संक्षेप में बन्ध और मोक्ष के कारणों का उपदेश

दिया है। राग बन्ध का कारण है और बन्ध दुःख का कारण है। इसलिये जो जीव दुःख से उन्मुक्त होना चाहते हैं उन्हें सबसे पहले बन्ध और बन्ध के कारण रागादि भावों को अपनी आत्मा में नहीं होने देना चाहिये। ऐसा ही हम लोक में भी देखते हैं कि राग-स्नेह अर्थात् तैल के सम्बन्ध से ही तिल कोल्हू में पेले जाते हैं जिनमें राग-स्नेह तैल नहीं है ऐसे बालू के कण कभी पेलते हुए नहीं देखे गये। प्रकृतमें रागके कारण ही आत्मा बन्धनमें पड़ता है। मछलीमार जब तालाब में मछलियों को मारनेके लिये बन्धन में डालने के लिये जाल बिछाता है तब उस जाल में जो खाद्य पदार्थ लगा रहता है उसके खाने का जो राग है वही मछली के बन्धन में पड़ने का कारण है। यदि मछली जिह्वा इंद्रिय के विषय का राग न करे तो बन्धन में न पड़े और जब बन्धन में ही न पड़ेगी तो अपने आपको सुखी ही देखेगी, समझेगी और अनुभव करेगी। अतएव रागादि के त्याग का नाम ही अहिंसा है। ऐसी अहिंसा का नाम आध्यात्मिक अहिंसा है। क्योंकि यह एक मात्र आत्मसापेक्ष है।

अहिंसा परमधर्मकी व्याख्या करते हुए परम अध्यात्म योगी श्री अमृतचन्द्र स्वामीने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में लिखा है कि :—

यस्मात्कषाययोगात्प्राणानांद्रव्यभावरूपाणाम्
व्यपरोपणस्यकरणंसुनिश्चिताभवतिखलु सा हिंसा ॥

अर्थात् जहां कषाय के योग से द्रव्य, प्राण इन्द्रिय आदि और भाव प्राण ज्ञान आदि गुणों का घात-विनाश किया जाता है वहां हिंसा अवश्य ही होती है। तात्पर्य यही है कि जहां आत्मा विकारी भावों से विकृत होता है वहां आत्मा आत्मगुणोंका घातक होने से स्वहिंसक है, और उन परिणामों के निमित्त से तथा बाह्य द्रव्यकी सहायता से जहां अपने से भिन्न किसी भी जीव के द्रव्य और भावरूप प्राणों का विघात विनाश करता है वहां वह परहिंसक कहा जाता है।

इसी विषय को लेकर श्री वीरनन्दी सैद्धान्तिक चक्रवर्ती ने श्री आचार सार में निम्न प्रकार लिखा है :—

हिंसा या हिंस्यतां हिंस्रः प्राप्नोति बहुजन्मसु।
प्राणिहिंसात्महिंसैव सा तस्त्याज्या हितैषिणा ॥

अर्थात् निर्दयी क्रूर-कठोर परिणामी हिंसक-हत्यारे ने अपनी दृष्टिमें जिन छोटे या बड़े जीवों को मारने योग्य समझ रक्खा है। अर्थात् कोई भी जीव मारने योग्य तो है ही नहीं, फिर भी जिसकी बुद्धि में अनुकम्पा या दया नहीं है जिसे रहम करना गुनाह है, उसे तो जीवों के मारने में ही आनन्द

आता है, क्योंकि वह हिंसानन्दी रौद्र ध्यानी है उसकी आदत में हिंसा समाई हुई है, वह जीव हिंसा के कारण अनेक जन्म-जन्मान्तरों में स्वयं भी हिंसनीय मारने योग्य समझा जाता है। अर्थात् हिंसक जीव जिन जीवों की हिंसा करते हैं, वे जीव भी उन हिंसक जीवों को अनेकों जन्मों तक बदले की भावना से प्रेरित हो मारते रहते हैं। इस तरह से उन जीवों में परस्पर आपस में मारकाट का सिलसिला चलता रहता है। इस तरह से पर जीवोंकी हिंसा आत्महिंसा ही है, ऐसा समझकर जो आत्म-हितैषी हैं, अपनी भलाई चाहने वाले हैं, उनका यह परम कर्तव्य है; कि वे हिंसा से सर्वथा दूर रहें, इसमें उनका परम कल्याण है।

कषाय परिणामः स्यात्प्राणिप्राणवियोजकः।
हिंसा हिंसकपापानुबन्धबन्धादिकारणम् ॥

अर्थात् आत्मा का जो कषाय रूप परिणाम है वही प्राणियों के प्राणोंका वियोग करने वाला है अतएव हिंसा निजके और पर के प्राणोंका विघात वस्तुतः हिंसक जीव के पापानुबन्धी बन्ध आदि का कारण है। अर्थात् हिंसक पापकी सन्तति को बांधता रहता है जिससे जन्म जन्मान्तरोंमें इसे नाना कुयोनियों में पड़कर नाना प्रकार के दुःखों को भोगना पड़ता है, ऐसा विचार कर हरेक को हिंसा-पाप से बचना चाहिये।

स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं,
न तत्पराधीनमिहद्वयं भवेत्।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः
प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः ॥

अर्थात्—अहिंसा और हिंसा ये दोनों ही स्वाधीन है; पराधीन नहीं हैं। अर्थात् जो जीव प्रमाद रहित है, अर्थात् जीव रक्षामें सावधान है, स्व और पर की प्रतिपालना में जो संलग्न है, दत्त चित्त है वह हर तरह से और हर हालत में अहिंसक ही है, वह हिंसा के पाप में लिप्त नहीं होता है। और जो प्रमादी है, असावधान है, बेखबर है, कषायों से कलुषित हृदय है, वह निःसन्देह हिंसक है, विराधक है, हिंसाके पाप से परिलिप्त है। अर्थात जिसकी आत्मा में क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, रति, अरति, हास्य आदि कषायें या नो कषायें उत्पन्न होती रहती हैं, वह हिंसा के पाप से कैसे बच सकता है? फलितार्थ यह है कि भाई आत्मा के कलुषित भावों का नाम ही हिंसा है, और स्वच्छ निर्मल कषाय शून्य भावों का नाम ही अहिंसा है ऐसा निश्चय करके आत्मोत्थान में कारणीभूत पवित्र भावना को निरन्तर भाते रहना ही सच्ची सुखदायक अहिंसा है और यह तीन

लोक में सुख शांतिके साम्राज्य को फैलाने वाली है। यही धर्म है, यही सुख है, यही शान्ति है, यही क्षमा है, यही ब्रह्मचर्य है। इसमें जितने भी दुनियां में धर्मवादी हैं वे सब एक मत हैं, एक स्वर से इसे धर्मरूप से घोषित करते हैं। अहिंसापरमोधर्मः अहिंसा ही श्रेष्ठ धर्म है इस विषय में सभी धर्म वाले एक मत हैं, विरोध रहित सहमत हैं। अतएव इसे ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मान कर आत्म साधन में समुद्यत रहना चाहिये। इत्यत्र सर्वेषामैकमत्यमस्ति अर्थात् इसमें सब मतवादी एकमत है।

स्थान :— तिथि : आषाढ़ बदी १४ सं० २०१५

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। ता० २१-६-५८

श्रीसमन्तभद्रस्वामी, श्रीनेमिनाथ भगवान्के स्तवन के अवसर पर एक जगह अहिंसा के स्वरूप का वर्णन करते हुए क्या कहते हैं ? यह देखिये :—

अहिंसाभूतानां जगतिविदितं ब्रह्म परमं।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपिच यत्राश्रमविधौ ॥
ततस्तत्सिद्ध्यर्थंपरमकरुणोग्रन्थमुभयं।
भवानेवात्याक्षीन्नच विकृतवेषोपधिरतः ॥

अर्थात्—हे नेमिनाथ-भगवान् प्राणीमात्र की रक्षा करना ही अहिंसा है। ऐसा जगत् में प्रसिद्ध है और वही अहिंसा ही परम ब्रह्म है, परमात्मा है। इससे यह भाव व्यक्त होता है कि—जिस आत्मा में अपने आत्मिक गुणों का पूर्ण रीति से संरक्षण प्राप्त हो वही आत्मा परमात्मा है। ऐसे संरक्षण का नाम ही सच्ची आध्यात्मिक अहिंसा है। यहां गुण और गुणी में अभेद विवक्षा होने से अहिंसा गुण को ही परमात्मा कह दिया गया है, जो वस्तुतः आत्मा के समस्त गुणों की निर्विकारता को सूचित करता हुआ परमात्मा के स्वरूप-रूप से अहिंसा को कहता है। यह बात प्राणीमात्र में स्वयं कोई भी आत्मा जो अपने गुणों को हर तरह से निर्विकार कर लेता है वही अहिंसा स्वरूप हो जाता है। अतएव वह अहिंसा स्वरूप स्वयमेव परमात्मा है। इस अपेक्षा से कही गई है। अब व्यावहारिक अहिंसा क्या है ? यह बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं—जिस आश्रम अर्थात् साधु संस्थान में जरा-सा भी आरम्भ होता है, वहां वह अहिंसा नहीं हो सकती है। क्योंकि हिंसा का जनक आरम्भ है, आरम्भ से हिंसा हुए बिना नहीं रह सकती (आरम्भजाहिंसा) हिंसा आरम्भ से उत्पन्न होती है। ऐसा आगम का वचन है।

इसलिये हे भगवन् ! आपने उस अहिंसा को साधने के लिये ही दोनों प्रकार के परिग्रहों का सर्वथा परित्याग किया था। अतएव आप का रूप अत्यन्त निर्विकार सर्वप्रकार के विकारों से रहित है।

यह तो आपके आभ्यन्तर निर्मलता का साक्षात् प्रतिरूपक है और बाह्य में आपके शरीर पर तो सूत का धागा भी नहीं है। नवजात शिशु के समान नग्न अवस्था है जो प्राकृतिक है, कृत्रिम नहीं है। कृत्रिम तो तब होती है, जब शरीर द्वारा भीतरी विकार बाहर प्रकट होने के लिये अनिवार्य होने लगते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जो महान् आत्मा भीतरी काम, क्रोध आदि विकारों पर काबू पा लेता है, वही नग्नता को अपनाने का अधिकारी पात्र होता है, अन्य नहीं। बाह्य वेष आभ्यन्तर विकारों को ढांकने के लिये ही किया जाता है। इसलिये वह कृत्रिम है, बनावटी है और वह तबतक रहता है, जबतक कि विकार रहते हैं। फलितार्थ यह है कि—निर्दोष परम वीतराग मुद्रा ही अहिंसा की मूर्ति है। जिसमें आत्म-रक्षा और पर-रक्षा की चरम सीमा पाई जाती है। वास्तव में परिपूर्ण अहिंसा के पालक नग्न दिगम्बर साधु, सन्त, महन्त ही होते हैं। वे ही षट्काय, पांच स्थावरकाय और एक त्रसकाय—इस प्रकार से षट्काय के जीवों की रक्षा करने में सर्वथा समर्थ हैं। उनके अट्ठाईस मूलगुणों में पहला मूलगुण अहिंसा ही है। बिना अहिंसा के साधुता का प्रारम्भ नहीं है। वे ही बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार से अहिंसा को पालन करते हैं। उनकी अहिंसक वृत्ति अनुपम माहात्म्य रखती है। उनके सान्निध्य में आये हुए जाति विरोधी प्राणी सिंह, हरिण, नकुल, सर्प, मार्जार हंस आदि भी एकत्र प्रेम-पात्र बन कर विचरण करते हैं। अहिंसक महात्माओं की ऐसी अलौकिक महत्ता यत्र-तत्र शास्त्रों में सर्वत्र पढ़ने को मिलती है, जिसे पढ़ कर आत्मा आनन्द से उछलने लगता है। उन अहिंसक सन्तों के श्रीचरणों की आराधना, सेवा, सुश्रूषा से सेवक की आत्मा को अभूतपूर्व सुख का अनुभव होता है। वे सन्त जहां-जहां पदार्पण करते हैं, वहां-वहां प्रशम साम्राज्य छा जाता है। जीवन-ज्योति जागृत हो उठती है। जीवों को आत्म कर्तव्य का ज्ञान हो जाता है और तो हम क्या कहें? उनके संसर्ग से बड़े-बड़े क्रूर, हत्यारे, निर्दयी, खूंखार सिंह सरीखे जीव भी सम्यग्दर्शन को पा लेते हैं, हिंसा करना छोड़ देते हैं खास कर के ऐसे ही हिंसक प्राणियों के सम्यग्दृष्टि होने के हजारों उदाहरण शास्त्रों में पढ़े और सुने जाते हैं जो पाठकों और श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करते रहते हैं। उन अहिंसक महापुरुषों को हमारा शत बार नमस्कार है और है, सद्भक्ति भाव से समभ्यर्थना कि—हे साधु श्रेष्ठ! आपके चरणारविन्द की परम सेवा का सुफल हमें पूर्ण अहिंसकता के रूप में प्राप्त हो, अर्थात् हम भी आपके जैसे साधु बनें।

इस तरह से अविकल सकल अहिंसा और उसके धारक संसारतारक साधक साधुओं की चर्यारूप अहिंसा का वर्णन करने के पश्चात् अब हम आंशिक अहिंसा के आराधक श्रावकों की उस अहिंसा का यत्किञ्चित् अवच्छित वर्णन करते हैं जो कि उनके जीवन में गृह सम्बन्धी क्रिया-कलापों को करते हुए व्यवहार में व्यवहृत हो जाती है :—

ऐसी अहिंसा दो विभागों में विभक्त की जाती है। पहली एक देश अहिंसा और दूसरी सर्व देश अहिंसा। एक देश अहिंसा के पात्र वे गृहस्थ श्रावक हैं,जो चारित्र मोहनीय के उदय के कारण सर्व

षट्काय के जीवों की हिंसाका त्याग करने में असमर्थ हैं वे अपनी शक्तिके अनुसार और चारित्र मोह-नीय के क्षयोपशम के अनुकूल त्रस जीवों की हिंसा के ही त्यागी होते है। स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग उनके शक्य नहीं हैं। प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ का उदय उनके बना हुआ है एवं वे जीव मात्र की हिंसा का त्याग करने में अपने आपको समर्थ नहीं पाते। उक्त प्रकार के गृहस्थ श्रावकों के आरम्भी उद्योगी और विरोधी हिंसाका त्याग तो हो नहीं सकता क्योंकि उन्हें घर गृहस्थी के कार्योंके सम्पादन में हर तरह का आरम्भ करना पड़ता है; बिना आरम्भ के गृहसम्बन्धी कार्यों का होना नितान्त असम्भव है और जहां आरम्भ है वहां हिंसा अवश्य ही होती है वैसे ही गृहस्थ को अपनी और अपने आश्रित स्त्री पुत्रादि तथा अन्य कुटुम्बियों की आजीविका का निर्वाह निरावाध रूपसे करने के लिये छोटा या बड़ा जैसा भी सम्भव हो सके उद्योग-व्यापार करना ही पड़ता है उसमें जीव हिंसा का होना अवश्यम्भावी है। दुनिया में ऐसा कोई धन्धा नहीं है जिसमें जीव हिंसा न होती हो अतः उद्योगी हिंसा का भी त्याग उसके सम्भव नहीं है। एक तीसरी प्रकार की हिंसा भी होती है जिसका त्यागी गृहस्थ नहीं हो सकता वह है विरोधी हिंसा। कभी कभी जीवन में ऐसे भी प्रसंग आते हैं जिनमें गृहस्थ को अनिच्छा पूर्वक वलात जवरन हिंसा की ओर झुकना पड़ता है अर्थात् कोई वैरी दुश्मन आतताई क्रूर हत्यारा वेरहमी अकारण ही मार पीट लूट घसीट चोरी चपाटी ओदि घातक आक्रमण जैसे निन्दनीय कार्यों के करने में उतारू हो जाय तो गृहस्थ अपना और अपने आश्रितों का बचाव जायज और नाजा-यज जिस किसी भी प्रकार से करेगा ही; उसमें होनेवाली हिंसाका त्यागी वह किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता।

पूर्वोक्त प्रकार की हिंसाओं का त्याग घर गृहस्थी में रहने वाले श्रावक के कैसे हो सकता है! हां एक चौथी प्रकार की हिंसा भी होती है जिसे हम संकल्पी हिंसा कहते हैं। संकल्पी हिंसा का अर्थ है संकल्प पूर्वक इरादतन किसी को मारना। मैं इसको मारता हूं ऐसा मनमें विचार करके यदि कोई किसी को मारता है तो वह संकल्पी हिंसाका पाप का भागी हुए बिना नहीं रह सकता ऐसी हिंसा का त्याग करना गृहस्थको अत्यन्त ही आवश्यक है इस हिंसा के त्याग किये बिना गृहस्थ अहिंसक गृहस्थ नहीं कहला सकता। इस हिंसाके त्याग करने में उसे किसी प्रकार की हानि तकलीफ या अड़चन भी नहीं है, वह तो बहुत ही आसानी और सरलता के साथ उक्त प्रकार की हिंसा को छोड़ सकता है और सच्चा धार्मात्मा गृहस्थ बन कर जीवन यापन कर सकता है। इस हिंसासे उसका खुद का और उसके सहारे रहने वाले अन्य परिवार के लोगोंका जीवन चर्या का कोई जरा सा भी सम्बन्ध नहीं हैं ऐसी स्थिति में इसके त्याग में उसे किसी प्रकार की आनाकानी वहानेवाजी चालवाजी या पैतरावाजी नहीं होनी चाहिए; उसे तो साफतौर से सीधे सादे शब्दो में और अर्थों में इसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है। आचार्योंने संकल्पी हिंसा के त्याग के ऊपर जोर दिया है; कारण कि इस हिंसा के बिना गृहस्थ का कार्य निर्वाध रूप से चल सकता है; वस्तुतः हिंसापापतो है ही परन्तु हिंसाओं में संकल्पी हिंसा घोर

पाप का कारण है जो निर्दयी, क्रूर परिणामी होते हैं। वे ही इस संकल्पी हिंसा के करने में प्रवृत्त होते हैं। ऐसी हिंसक प्रवृत्तिवाले नियम से नरक-निगोद के अनन्त दुःखों के पात्र बनते हैं। क्योंकि सङ्कल्पपूर्वक-इरादतन जो हिंसा की जाती है, उसमें हिंसक के परिणाम बड़े ही कठोर होते हैं। बिना कठोरता के उस प्रकार की हिंसा किसी प्रकार से सम्भव नहीं है। ऐसे ही हिंसक को व्यवहार में लोग कषायी की उपमा देकर पुकारते हैं। अर्थात्—जैसे कषायी-वधक किसी भी निर्दोष निरपराधी जीव को समझते हुए मारता है, वैसे ही यह सङ्कल्पी हिंसा करनेवाला भी बेकुसूर मूक निरपराधी, निहत्थे, निराधार, निःसहाय, निराश्रय जीवों को योंही गाजर-मूली की तरह उड़ा देता है, जो महान् पापी होता है। अतएव नाना यातनाओंवाली दुर्गतियों का पात्र बनता (अहमेनंहिनस्मि) मैं इसको मारता हूं। इस प्रकार के मनोभाव को ही संकल्पी हिंसा कहते है। इसमें मारनेवाला जिस किसी जीव को मारने का इरादा करता है; वही जीव स्वभावतः संकल्पी हिंसाका विधायक महान् पापात्मा होता है। शिकारी, चिड़ीमार, बहेलिया, जाल बिछानेवाले, धीवर कषायी का काम करनेवाले मुर्गियों को पाल कर अण्डों का क्रय-विक्रय करनेवाले ग्राम सूकरों को मार कर खानेवाले आदि जितने भी जीवों का घात कर आजीविका करनेवाले लोग हैं, वे संकल्पी हिंसा के पाप के भागी होते हैं। यह तो हमने संकल्पी हिंसा का एवं उसके करनेवालों का जिक्र किया है। लेकिन प्रकृत में तो हमें यही बताना इष्ट है कि—भाई साधारण से साधारण गृहस्थ को चाहिए कि वह उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में से जिनके बिना जीवन निर्वाह नहीं हो सकता हो, उनको भी यद्वातद्वा बिना सोचे समझे अनावश्यक-रूप से कभी स्वप्न में भी न करे। जहाँ जीवन निर्वाह में होनेवाली हिंसा को भी सावधानीके साथ अपनी जरूरातों को पूरा करने के बाद नहीं करने की शास्त्राज्ञा हों, वहां भला संकलपपूर्वक की जानेवाली हिंसा को रोके बिना शास्त्र कैसे रह सकता है, वह तो उसे मूलतः ही रोक रहा है। उसके त्याग बिना गृहस्थ-गृहस्थ कहलाने का अधिकारी नहीं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कल्प पं० आशाधर जी 'सागार धर्मामृत' में लिखते हैं कि—

मा हिंस्यात्सर्वभूतानी त्यार्षधर्मंप्रमाणयन्।
सागसोऽपिसदारक्षेत् शक्त्याकिन्तुनिरागसः॥

अर्थात्—किसी भी जीवधारी को मत मारो ऐसी ऋषि, महर्षि और ब्रह्मर्षियों की बात को प्रमाण-रूपसे स्वीकार करनेवाले धर्मात्मा गृहस्थ भाईका यह कर्तव्य ही नहीं, किन्तु परमावश्यक कर्तव्य है कि—वह सदा अपराधियोंकी अपना बुरा करनेवालोंकी भी रक्षा यथाशक्ति करे, फिर निरपराधियों अपना बुरा नहीं करनेवालों की तो बात ही क्या कहना? अर्थात् उनकी रक्षा तो हर हालत में करना ही चाहिए। कहने का अभिप्राय सिर्फ यही है कि—प्रत्येक गृहस्थ को चाहिए कि वह स्थूल हिंसा का अर्थात् संकल्पी हिंसा का त्यागी बने बिना इसके त्याग किये, वह गृहस्थ अहिंसक गृहस्थ नहीं कहला सकता है।

"इन्द्रियनिरोधः संयमः"—इन्द्रियों को विषयों से रोकना संयम है अर्थात् पांचों इन्द्रियों के इष्ट और अनिष्ट-प्रिय और अप्रिय सभी प्रकार के विषयों से विरक्त होना संयम है। संयम का शब्दार्थ भी उक्त अर्थ को पुष्ट करता है। सम्-सम्यक् प्रकार से-राग-द्वेष के परित्याग के साथ-साथ "यमनम" अपने-अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द-रूप विषयों से इन्द्रियों की प्रवृत्ति को काबू करना ही संयम है। ऐसा संयम तो एकमात्र साधु महात्माओं के ही हो सकता है। क्योंकि वे पूर्ण रीत्या निष्परिग्रही हैं। उनके बाल के अग्रभाग प्रमाण भी परिग्रह नहीं है, वे अन्तरङ्गतः उनका परित्याग कर चुके हैं। अतएव उनकी उक्त पंचेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती है, वे पूर्णतया उनसे विरक्त हैं। उनकी तरफ उनका जरा-सा भी झुकाव नहीं होता है। इसलिये वस्तुतः संयम साधु-महापुरुषों के ही सम्भव है; तथापि उक्त संयम का आंशिक-रूप से परिपालन श्रद्धालु श्रावकों के भी होता है, वे भी भोगोपभोग का परिमाण करके शेष का परित्याग कर संयमी बनते हैं। ऐसे संयमी पुरुषों को देश-संयमी या अणुव्रती भी कहते हैं। अणुव्रती का अर्थ है—अणुमात्र व्रत जिनके हो अर्थात् जो यथाशक्ति हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापों का त्याग करते हैं, वे ही अणुव्रती कहलाते हैं। जैसा कि—तत्त्वार्थसूत्रकार भगवान् उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के सप्तमाध्याय के प्रारम्भ में ही दूसरे सूत्र में "देशसर्वतोऽणुमहती" अर्थात् हिंसा आदि पंच पापों से एक देश-रूप से विरक्त होना अणुव्रत है और उन्हींसे सर्व-देश पूर्ण रीति से विरक्त होना महाव्रत है। यहां अणु-स्थूल-रूप से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—इन पञ्च पापों से उनके दुष्फलों को जान कर भावपूर्वक विरक्त होना ही पञ्चाणुव्रत हैं। इसी बात को स्फुट करते हुए 'आचार्यश्री समन्तभद्रस्वामी' रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखते हैं कि :—

हिंसानृतचौर्येभ्योमैथुनसेवा परिग्रहाभ्यांच।
पापप्रणालिकाभ्योविरतिः सञ्ज्ञस्य चारित्रम्॥

अर्थात्—पापों के आने के द्वार-स्वरूप, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—इन पांचों पापों से विरक्त होना ही सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है। इसका तात्पर्य यह है कि—वास्तव में चारित्र तो सम्यग्ज्ञानी के ही होता है और सम्यग्ज्ञानी वही होता है, जिसके सम्यग्दर्शन का अपरिमित और अव्याहत, उज्ज्वल, आत्मिक, अनुपम प्रकाश प्रकट हो चुका है, जिसने दर्शन-मोहनीय-रूप महान् आवरण को आत्मा से पृथक् कर दिया है। अतएव जिसका आत्मा विपरीत दृष्टि से हट कर आत्म-दृष्टि में आ गया है और आत्म-दृष्टि होने के कारण ही जो आत्मा के विकारी राग-द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि विकारी भावों को जड़मूल से उड़ाने के लिये चारित्र को अङ्गीकार करता, जैसा कि उन्हीं भगवान् समन्तभद्रस्वामी ने श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है :—

मोह तिमिरापहरणे दर्शन लाभा दवाप्त संज्ञानः
रागद्वेष निवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥

अर्थात्—मोह, मिथ्यादर्शन रूप घोरान्धकार के हटने पर सम्यग्दर्शन की प्रगति होने के कारण जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो चुका है, ऐसा साधु—आत्म साधन के पथपर आरूढ़ महात्मा अनादिकालिक आत्मिक राग, द्वेष, मोह को दूर करने के लिये ही पञ्चपापों का त्याग रूप सम्यक् चारित्र धारण करता है। ऐसा चारित्र सकल महाव्रत तथा विकल अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। उनमें सकल चारित्र तो एक मात्र साधु यति मुनि ऋषियों के ही होता है, क्योंकि षट्काय के जीवों की प्रतिपालना करना और पाँचों इन्द्रियों तथा छठवें मनको वशमें करना उन साधु महात्माओं के ही वश का कार्य है, अन्य हीन शक्ति वालों के वश का नहीं। जिनकी कषायें मन्द हैं उपशमित है, क्षय या क्षयोपशम मान को प्राप्त हैं, वही सकल चारित्र के पात्र बनते हैं, जो अखण्ड रूपसे उन महा व्रतों का पालन कर अपने आत्मा को पवित्र बना लेते हैं। जैसा कि उन्हीं समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है :—

पञ्चानां पापानां हिंसादिनां मनोवचः कायैः
कृत कारितानुमोदै स्त्यागस्तु महाव्रतं मतताम् ॥

अर्थात्—हिंसा-झूठ, चोरी कुशील और परिग्रह इन पांचों पापों का मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदन रूप नवधा त्याग करना ही महापुरुषों के महाव्रत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि वास्तव में पञ्चपापों का त्याग करना उन्हों के सम्भव है जिनके संसार का अन्त होने वाला है, जो निकट संसारी है उन्हीं के उक्त प्रकार के महान् त्याग के भाव उद्भूत होते हैं, अतः वे ही सर्व प्रकार के मोह जाल को छोड़कर नग्नदिगम्बर मुद्रा को जो यथार्थतः मोक्ष की प्राप्ति में अव्यर्थ साधन है धारण कर लेते हैं, वे ही विविध प्रकार के उपसर्गों, उपद्रवों तथा नाना प्रकार के परिषहों को सहन करते हुए आत्मनिधि को निर्मल करने में पूर्णरीत्या समर्थ होते हैं। किन्तु जो जीव उक्त प्रकार के महाव्रतों को धारण करने में असमर्थ हैं, उन्हें चाहिये कि वे उक्त पञ्च प्रकार के पापों के एक देश त्याग रूप अणुव्रतों को धारण कर मानव जीवन को सफल करें। नीतिकारों ने लिखा है कि हे मानव जब तक तेरे शरीर को किसी रोग ने घेरा है और जब तक युवावस्था को ग्रसने वाली वृद्धावस्था का आक्रमण तेरे ऊपर नहीं हुआ है एवं इस अमूल्य मानव तनको विचलित करने वाली मृत्यु रूप झंझावात का प्रकोप भी तेरे ऊपर नहीं हुआ है, तब तक तू आत्मकल्याण कारी संयम को धारण कर इस दुर्लभ मानव तनको हर तरह से सार्थक कर ले इसी में तेरा उभय लोक सम्बन्धी सुख-समूह आधारित है।

यावन्न ग्रस्यते रोगै यावन्न भ्येति ते जरा
यावन्न क्षीयते चायुस्ता वत्कल्याण माचर ॥

अर्थात्—जब तक है जीवात्मन् तेरे शरीर को जिसमें एक एक रोममें ९६ छयानवें रोगों का निवास है, और रोगों की संख्या भी हजारों से ऊपर है, ऐसी स्थितिमें नहीं मालूम कब कौन रोग किस रोग से प्रकट हो जावे, अतः शरीर की निरोग दशाका सदुपयोग आत्म-कल्याण ही है, और आत्म-कल्याण का मुख्य साधन संयम ही है, बिना संयमके संसार समुद्र का पार करना नितान्त असाध्य है। संयम ही एक ऐसा महान यान है, जिसमें बैठकर यह जीवात्मा शीघ्र से शीघ्र मोक्ष महामहल की उत्तमोत्तम शिखर पर आरूढ़ होकर के अनुपम आत्मिक अनन्त सुखामृत का पान करने में ही निमग्न रहता है, निरन्तर ज्ञानोपयोग में ही लीन रहता है, अति निर्मलता का आधार है, स्वभावतः सूक्ष्म है, अनन्त बलशाली हैं, और अनन्त सुख से सम्पन्न रहता है। अर्थात् कहने का अभिप्रायः यही है कि संयम से ही उक्त प्रकार की परमोच्च सिद्धावस्था प्राप्त होवी है; बिना संयम के तो सांसारिक सुख का मिलना भी अत्यन्त कठिन एवं दुर्लभ है। इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए कविवर भूधर दास जी ने भी संयम रूप कल्याण कारक कार्य को करने की प्रेरणा करते हुए कितना सुन्दर कहा है :—

जौ लौ देह तेरी काहू रोग सों न घेरी
जौ लौ जरा नाहीं नेरी जासों पराधीन पर है
जौलौ जम नामावेरी देय न दमामा
तौ लौ माने कान रामा बुद्धि जाय न विगर है
तौ लौ मित्र मेरे निज कारज सम्हाल लेरे
पौरुष थकेंगे फेर पीछे कहा कर है
अहो आग लागे जब झोपरी जरन लागी
कुआके खुदाये कहो कौन काज सर है।

अर्थात् हे मानव देहधारी आत्मन् जबतक तेरे शरीरको किसी रोग विशेष ने नहीं घेरा है और पराधीनता के जाल में डालने वाली वृद्धावस्था भी जबतक तेरी ओर नहीं झांक पाई है। और यम-मृत्यु रूप शत्रु ने भी जबतक तेरे ऊपर आक्रमण नहीं किया है और स्त्री धर्मपत्नी जबतक तेरी आज्ञानुगामिनी है और बुद्धि भी ठीक ठिकाने पर है अर्थात् यथार्थ वस्तु स्वरूप को समझने में पूर्णरूप से समर्थ है तबतक हेमित्र-आत्मन तुम अपना आत्मिक कार्य करने में सर्वथा सावधान रहो क्योंकि पौरुष के हीन होने पर पश्चात तुमसे फिर आत्मकल्याण होना कठिन हो जायगा अर्थात पुरुषार्थकी विकलता में आत्म कल्याण

कर सकना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है जैसे मकान में अग्नि के लगाने पर कूप का खोदना या खुदवाना व्यर्थ है उससे मकान की सुरक्षा का कार्य हो सकना प्रायः असम्भव ही है वैसे ही निरोग बलिष्ठ और सुसंघटित शरीरकी अवस्थाके बीतने पर आने वाला वृद्धावस्थामें शरीरके शिथिल होने पर आत्महित का करना भी बहुतही कठिन या असाध्य है अतएव हे जीवात्मन तुम इसे निरोग शक्तिसम्पन्न स्फूर्तिमान सोत्साह मानवतन से अविनश्वर मोक्षसुखको प्राप्त कराने में अव्यर्थ साधनरूप संयम को धारण करें इसी में मानव शरीरकी सफलता है। शेष शरीरतो संयम धारण या पालन करनेमें स्वभावतः असमर्थ है उनमें उस जातिकी योग्यता ही नहीं है क्योंकि देव और नारकों के शरीर तो वैक्रियिक हैं उपपाद जन्म से उत्पन्न होते है उनमें प्रथम तो भोग प्रधान है उसमें सुखोपभोग की मुख्यता है वहाँ इन्द्रिय जनित भी गोपभोगों को भोगते२ ही जीवन समाप्त होता है और दूसरे नारकों का शरीर भी वैक्रियिक है वह भी उपपाद जन्म से बनता है उसमें भी दुःखोंको भोगाने की प्रमुखता है वहाँ शारीरिक मानसिक आकस्मिक आगन्तुक वाचनिक आदि नाना प्रकार के दुःखोंको भोगने का ही प्रधान्य है इस प्रकार से देव और नारक तो संयम धारण करने के अधिकारी हैं ही नहीं रहे तिर्यञ्चगति के जीव, सो यद्यपि उनका शरीर औदारिक है संयम को धारण या पालन करने की यत्किञ्चित योग्यता रखता है क्योंकि संयम की साधना का साधन औदारिक है ऐसा आगम प्रमाणसे प्रमाणित है तथापि वहां संयम का साधन या पालन बहुत ही हीनमात्रा में है जो देव गति या मनुष्यगतिमें जन्म धारण करानेमें ही समर्थ हो सकता है पञ्चमगति अर्थात् मुक्ति के सुखों को प्रदान करने में नहीं। मुक्ति के सुखों को देने या दिलानेवाला संयम तो एक मात्र मनुष्यगति में ही पाया जा सकता हैं अतः इस मनुष्य शरीर को संयम द्वारा सफल करना ही मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है इसी में उसकी श्रेष्ठता है सफलता है जिसने इन्द्रियों को वशमें करके संयम का पालन कर संसार समुद्र का शोषणकर अविनाशी मोक्ष सुखको प्राप्त कर लिया है। वही सच्चा कर्मठ और कृतकार्य कहा जा सकता है जैसा कि एक नीतिकारने कहा है कि—

यदि नित्य मनित्येन निर्मलं मलवाहिना
यशः कायेन लभ्येत तन्न लब्धं भवेन्नु किम्

अर्थात्—यदि—अनित्य—नश्वर—नशनशील नाश स्वभाव वान और मलको बहानेवाले शरीर से नित्य—अविनाशी और निर्मल यश—कीर्ति—सुख प्राप्त हो जाय तो उसके प्राप्त होने पर ऐसा कौनसा सुख है जो प्राप्त किया हुआ न हो अर्थात् सभी सुख प्राप्त हो चुके ऐसा समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मनुष्यका शरीर नवद्वारोंसे निरन्तर दुर्गन्धित मलको बहाता रहता है अतएव यह महा अशुअपवित्र और घृणाका पात्र घिनावना है तो भी जो बुद्धिमानि विचारशील विवेकी मनुष्य इन्द्रियोंका दमन करके निर्दोष संयम को पालन कर अविनाशी यशः सुखको प्राप्त करता है वही मनुष्य वास्तविक

मनुष्य है। जो मनुष्यताका साक्षात फल परमेश्वरताको पालेता है वही सच्चा सम्पत्तिशाली है। उसीने सत्यार्थ आत्मिक सम्पत्ति को पाया है ऐसा समझना चाहिए। यह सब इन्द्रियों को वशमें करने पर ही हो सकता है इन्द्रियों को वशमें किये बिना संयम का हो सकना सर्वथा असम्भव है जैसा नीतिकार का कहना है कि—

आपदां कथितो मार्गः इन्द्रियाणाम संयमः
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्—

अर्थात्—संसारमें आपत्तियों का मार्ग इन्द्रियों को वशमें नहीं करना ही है। जो लोग इन्द्रियों के दास हैं उनके ऊपर विविध प्रकार की आपत्तियां आती हैं वे सब तरफ से विपत्तियोंसे घिर जाते है क्यों कि इन्द्रियों की अधीनता आत्म स्वरूप से आत्मा को च्युत कर देती है। जो आत्म स्वरूप से गिर जाता है वह सदा दुःखी बना रहता है, उसको आत्मिक सुख का लेश भी प्राप्त नहीं होता है यह इन्द्रियां-विषय परवशता ही संसार समुद्र में डुबाने वाली है इसके विपरीत इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना उनको काबू में रखना विषयों की तरफ से उनको हटाकर आत्म स्वरूप के चिन्तन की ओर अग्रसर करना आत्मिक सम्पत्ति की अभिवृद्धि का मूल कारण हैं ऐसा इन्द्रिय विजेता अपने आत्मा को उभयलोक में इस लोक और परलोक दोनों लोकों में परम सुख शान्तिसे समन्वित करता है। उसकी आत्मा उत्तरोत्तर आत्मिक उन्नति की ओर अग्रसर होती जाती है कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि जो इन्द्रिय विरोध रूप संयम को पालन करता है वह सच्ची आत्मिक सम्पत्ति को प्राप्त करने में सफल होता है।

अतः उक्त प्रकार से आपत्ति और सम्पत्ति के मार्गको उसके समुचित साधन एवं कारण-कलापों को अच्छी तरह से निर्णय कर जो जिसे रुचिकर हो वह उसे अपनावे। यह तो सभी जानते हैं कि इस संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो जानबूझकर अपने को आपत्ति में डालना चाहते हो प्रत्येक जीव आपत्तियों से बच कर सम्पत्तियों की तरफ ही जाना चाहता है और वैसा प्रयत्न भी करता है किन्तु परम दयालु अकारण बन्धु निरीह वृत्ति जीव मात्र के संरक्षक साधुमना आचार्यों के बताये हुए मार्ग पर चलनेका सत्प्रयत्न नहीं करता है। इसलिये सम्पत्तिका भाजन न होकर एकमात्र विपत्तिका ही पात्र बन जाता है। या यों कहिये कि यह दुःखी संसारी जीवात्मा पुण्यका फल तो चाहता है परन्तु पुण्य नही करना चाहता। और पापका फल नहीं चाहता किन्तु पाप करनेमें चूकता नहीं यह सब पूर्वोपार्जितकर्म की ही विचित्रता है ऐसा समझना चाहिए। जैसा कि नीतिकारके वचन से स्पष्ट होता है जो निम्न प्रकार से है—

पुण्यस्य फल मिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति केचन
फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति शक्तिताः

तात्पर्य यह है कि यह भोला संसारी जीव पुण्य के फलको देखकर लुभा जाता है अतएव यह इच्छा उसके मन में स्वभावतः उत्पन्न हो उठती है कि ऐसा ही वैभव एवं ऐश्वर्य मुझे भी प्राप्त हो जाय मैं भी इसी प्रकार से धनधान्य मान प्रतिष्ठा लोक प्रसिद्धि जन सम्पन्नता रूप लावण्य राजमान्यता आदि को प्राप्त करूं जिस प्रकार से अमुक सेठ जी के प्राप्त है,। लेकिन अमुक सेठ जी ने उन तमाम श्रेष्ठ श्रेष्ठताओं को कैसे प्राप्त किया है, कौन-कौन से सत्कर्म उन्होंने किये हैं, जिनके फलस्वरूप यह सब कुछ हम देख रहे हैं, वे सत्कर्म हमें भी करना चाहिये उसके करने पर हम भी वैसे ही सुख-समृद्धि से सम्पन्न हो जायेंगे, इत्यादि बातों को करने में वह आगे न होकर पीछे ही हटता है,। तब बताइये कि वह उस इष्ट पुण्य फल को कैसे प्राप्त कर सकेगा। इसका एक मात्र कारण पुण्य के प्रति उसकी श्रद्धा-प्रती या विश्वास का न होना ही है। यदि वह आचार्यों द्वारा प्रदर्शित पुण्य एवं पुण्यके मार्गों पर विश्वास करने लग जाय, और तदनुकूल प्रयत्न करने में कटिबद्ध हो जाय तो निःसन्देह वह अभीप्सित पुण्य फल का भोक्ता हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार से पाप के फल को देखकर यह कोई भी नहीं चाहता है कि मैं भी इस प्रकार के दुखों को प्राप्त करूं लेकिन उन दुखों के प्रधान कारण भूत पापों का करना नहीं छोड़ते तो बताइये कि वे लोग पापों को करते हुए सुखी कैसे हो सकते हैं,। सुखी बनने के लिए तो पापों का त्याग परमावश्यक है, और है उससे भी अधिक आवश्यक पुण्य कार्यों का सम्पादन करते रहना। यह सब पाप परिहार और पुण्य सम्भार श्रावकों के संयम पर निर्भर करता है। जो गृहस्थ संयमी होगा, इन्द्रिय निग्रही होगा वह निश्चित रूपसे पापों से बचेगा और पुण्य से सजेगा तब उसे दुःखों का दर्शन न होकर सुखों का ही साक्षात्करण और अनुभव होगा जिससे उसके जीवन की दशा ही बदल जायगी और वह निकट भविष्य में साधु वृत्ति में प्रवृत्ति कर सकल संयमी हो पूर्ण आत्मा स्वरूप को निखारने में समर्थ होगा, क्योंकि सकल संयम को धारण और पालन किये बिना आगे को यथाख्यात संयम जो साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, प्राप्त नहीं हो सकता उसका प्राप्त होना सकल संयमी साधु के वश का ही काम है अन्य हीन शक्तिमान अल्पचारित्रवान श्रद्धावान् श्रावक के वश का नहीं है। वह तो अधिक से अधिक सोलह स्वर्ग तक जाने जैसा पुण्य का ही उपार्जन करने का अधिकारी है, अधिकका नहीं। अधिक के लिये अर्थात् नव ग्रैवेयक नव अनुदिश और पञ्च पञ्चोत्तर इन तेईस विमानों में जन्म लेने के लिये जो पुण्य अपेक्षित है, वह निर्ग्रन्थ दिगम्बर सकल संयमी साधु महात्माओं के द्वारा ही उपार्जित होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है। अतः ऊंचे स्वर्गादि के अहमिन्द्र पदके सुखों की उपलब्धि के लिए एवं सर्व कर्म विरहित अवस्था रूप मोक्ष सुख जो कि एक मात्र आत्मा श्रित है, आत्म स्वरूप है उसे उपलब्ध करने के लिये भी सकल संयमी साधु होने की नितान्त आवश्यकता अपेक्षित है। जो देशव्रती श्रावक अपने व्रतों का निरतिचार निर्दोष पालन कर चुकने के पश्चात् स्वयं मुमुक्षु मुक्त होने की इच्छा करने के कारण सकल संयमी यानी महाव्रती बनता है ऐसा निर्णय प्रधान श्रद्धावान श्रावक-विकल संयमी से सकल संयमी होता है और सकल संयमी होकर अहमिन्द्रादि पदों

को प्राप्त कर मुक्ति सुखको प्राप्त करना है या अहमिन्द्रादि पदों को प्राप्त किये बिना भी सीधा मोक्ष पद को प्राप्तकर सकता है, यह उसके तपश्चरण की हीनाधिकता पर निर्भर करता है। वास्तव में जो जीव इन्द्रिय विषयों के मोहका त्याग कर सकता है वही संयमी होने का अधिकारी है। क्योंकि संयम का भयंकर शत्रु मोह है, अन्य कोई नहीं है। अतः जो संयम को अपने जीवन में उतारना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे सर्व प्रथम विषय सम्बन्धी मोह शत्रु पर विजय प्राप्त करने का सफल प्रयत्न करें, उसी में उनका परम हित निहित है। इसी में उनके ज्ञान विज्ञान और विवेक की सच्ची सार्थकता या सफलता है, जैसा कि निम्न श्लोक से स्पष्ट होता है :—

मोह एव सदा वैरी नान्यः कोऽपि विचारणात्
ततः स एव जेतव्यो बलवान् धीमताऽऽदरत्

अर्थात्—आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन् तत्त्व दृष्टि से विचार करने से यह बात निर्विवाद ध्यान में आती है, कि इस जीव का इस संसार में यदि कोई प्रबल शत्रु है, तो वह एक मात्र मोह ही है, जिसके रहते हुए यह आत्मा विषय कषाय के जीतने में अपने आपको असमर्थ अशक्त या बलहीन मानता है। अतः आचार्य भगवान उपदेश करते हुए कहते हैं कि हे बुद्धिमन्, आत्मन् तू सर्व प्रथम इस प्रबल वैरी मोह को जीतने का उद्योग कर, जैसे बने वैसे तू इसे जीत, जिससे तू पश्चात् मोक्ष के साक्षात् पर साधन संयम को धारण करने में समर्थ हो सके। वह संयम पांच अणुव्रत रूप है जो निम्न-प्रकार है—

पांच अणुव्रतों का संक्षिप्तसार

अहिंसाणुव्रत—मन-वचन और काय के कृत कारित और अनुमोदना रूप नव प्रकार के संकल्पों से त्रस जीवों का घात नहीं करना अहिंसाणुव्रत है। यहां पर यद्यपि त्रस दो इन्द्रिय आदि चलते फिरते जीवों की इरादतन हिंसा नहीं करना अहिंसाणु व्रत है। तथापि अहिंसाणुव्रती अनावश्यक स्थावर एकेन्द्रिय जीवों का घात भी इरादतन नहीं करेगा, क्योंकि उसके हृदय में दया का महान् उदय उद्भूत है वह नहीं चाहता कि मेरे द्वारा किसी जीवका संहार हो। वह तो यही भावना भाता है कि हे भगवान् मेरी आत्मा में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो, जिससे मैं जीव मात्र का रक्षक बनूं, मेरे द्वारा जानकर व अनजाने जो कुछ भी स्थावर एकेन्द्रिय जीवों का विनाश होता है, वह मेरी ही अशक्ति दुर्बलता या कमजोरी के कारण ही होता है, क्योंकि घर गृहस्थी के अन्दर रहकर स्थावर जीवों का हिंसा से अपना बचाव पूर्णतय असम्भव है। यह अहिंसाणुव्रती कभी किसी के नाक कान आदि अंगों का छेदन नहीं करेगा, उनको मजबूत बन्धनों से बांधकर किसी एक जगह रोककर नहीं रखेगा, उन्हें

लकड़ी पत्थर आदिसे नहीं मारेगा उनके ऊपर उनकी शक्ति से अधिक भार, बोझा, वजन नहीं लादेगा उनको भूख और प्यास से पीड़ित नहीं करेगा, अर्थात् वह उन्हें समय पर खाना खिलायेगा और पानी भी पिलायेगा क्योंकि उसने अहिंसा (हिंसा—कष्ट पहुंचानेकी चेष्टा और भावना) का त्याग करना रूप अहिन्सा का प्रण यावज्जीवन को ले रखा है इत्यादि।

सत्याणुव्रत—ऐसा वचन जिसके बोलने से अपना और दूसरों का घात होने की सम्भावना हो या जिसके सुनने पर लोगोंमें आपसमें लड़ाई झगडा कलह और विसंवाद प्रारम्भ हो जाय ऐसे वचन के स्वयं बोलने का और दूसरों से बुलवाने का त्याग करना सत्याणुव्रत है। ऐसा सत्याणुव्रती ऐसा सत्य भी नहीं बोलेगा और न बुलवायेगा, जिसके बोलने पर दूसरों का विनाश सम्भव हो। यह सत्याणुव्रती कभी किसी की निन्दा नहीं करेगा शास्त्र विरुद्ध झूठा उपदेश नहीं देगा किसी की गुप्त बात या क्रिया को लोक में प्रकट नहीं करेगा किसी की शारीरिक चेष्टा से उसके अन्तरंग के अभिप्राय को जानकर कषायके वशीभूत हो दूसरों के सामने उसे प्रकट करने की चेष्टा सत्याणुव्रती कभी नहीं करेगा। जो बात या जो कार्य किसीने किया नहीं है उसको अमुकने ऐसी बात कही थी अथवा अमुकने अमुक कार्य मेरे सामने कियाथा ऐसा निराधार और अप्रामाणिक सर्वथा मिथ्यालेख सत्याणुव्रती कभी भी नहीं लिखेगा क्योंकि उस झूठी बातों और व्यवहारों का वह पहले ही त्याग कर चुका है। अगरचे कोई मनुष्य धरोहर के रूपमें कोई रुपया पैसा सोना चाँदी या आभूषण वगैरह रख जाय और कुछ समयके पश्चात विस्मरण हो जाने से कम मागने लग जाय तो उसे उसके कहे अनुसार कम देने की इच्छा नहीं करेगा, कम देना तो वस्तुत दूरकी बात है इस प्रकार से सत्याणुव्रती का जीवन सत्य से ओत प्रोत रहता है।

अचौर्याणुव्रत—अचौर्याणुव्रती कभी किसी की कहीं पर रक्खी हुई पड़ी हुई भूली हुई वस्तुको न तो स्वयं ग्रहण करेगा और न अपने हाथ से उठाकर किसी दूसरे को देगा क्योंकि उसने पर वस्तु के उसके स्वामी के बिना दिये और बिना कहे लेनेका परित्याग कर दिया है। जैसे वह उस प्रकारकी चीज स्वयं नहीं लेता है वैसे किसी दूसरेको देता भी नहीं है, यह उसका मुख्य व्रत है ऐसा व्रती धर्मात्मा किसी चोर को चोरी के लिये प्रेरणा नहीं करेगा उसे चोरी करने के उपाय नहीं बतायगा उसके द्वारा चोरी कर के लाये हुए सुवर्ण आदि पदार्थों को नहीं खरीदेगा राजाके आदेशों के विरुद्ध कार्य नहीं करेगा महसूल आदि को बिना चुकाये इधर उधर से मालको लाने की कोशिश भी नहीं करेगा अधिक मूल्य की वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु जो उसके ही समान है मिलाकर नहीं चलायेगा अपने लेनेका बाट तराजू गज आदि तोलने और मापने के पादार्थों को अधिक और अल्प नहीं रखेगा किन्तु राजा द्वारा तोलने और मापने के पदार्थों का प्रमाण जो निश्चित किया गया है उसी प्रमाण के रखेगा और उन्हीं से लेगा और देगा। ऐसा करते रहने से उसका लिया हुआ व्रत दृढ़ होगा।

ब्रह्मचर्याणुव्रत—इस व्रत का धारक और पालक व्रती जीव पाप के भयसे न तो स्वयं पर स्त्री

का सेवन करेगा और न दूसरों से सेवन करायेगा किन्तु अपनी विवाहिता धर्म पत्नीमें ही पत्नीत्व बुद्धिको धारण कर उसको ही सेवन करेगा और उसीमें सन्तुष्ट रहकर अपनी राग परिणतिको क्रमशः कृश करता जायगा। ऐसा ब्रह्मचारी स्वदार सन्तोषी होता है, वह अपने पुत्र पुत्रियों को छोड़ कर दूसरों के पुत्र पुत्रियों की शादी नहीं करेगा। और न करायेगा काम क्रीड़ा के नियत अङ्गों से भिन्न अङ्गों के द्वारा काम क्रीड़ा नहीं करेगा अश्लील-अशिष्ट अशोभनीय उच्चतासे गिरानेवाले रागवर्धक नीचों द्वारा बोले जाने वाले अश्रवणीय शब्दों को भी नहीं कहेगा। अपनी धर्म पत्नी में भी काम सेवन की अधिक इच्छा नहीं रखेगा किन्तु सन्तानार्थ योग्य समय में ही काम रत होगा अन्य समय में नहीं। और जो स्त्री पर पुरुष गामिनी व्यभिचारिणी या दुराचारिणी है उस से अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करेगा अर्थात उसके घर जाना आना उससे वार्तालाप करना आदि व्यवहार नहीं करेगा। ऐसा स्वस्त्री-सन्तोषी ब्रह्मचर्याणुव्रती होता है।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत—हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी दास कुप्य, भाण्ड, क्षेत्र, वस्तु इन दश प्रकार की चीजों का प्रमाण करके बाकी की चीजों को यावज्जीवन छोड़ना अर्थात प्रमाण की हुई वस्तुओं से बची हुई चीजों के साथ व्यामोह का त्याग करना ही परिग्रह-परिमाण अणुव्रत है। ऐसा अनुव्रती आवश्यक प्रयोजनीभूत सवारियों से अधिक सवारियां नहीं रखेगा। आवश्यकताओं जरूरतों से अधिक चीजों का संग्रह भी नहीं करेगा क्योंकि जरूरत से ज्यादा चीजों के जोड़नेका मूल लोभ कषाय है, और लोभ कषाय परिग्रह परिमाणाणु व्रतका विरोधी है अतएवं परिमित वस्तुओं से अधिक को जोड़ने की भावना का त्याग करेगा। दूसरे विशेष पुण्यात्माओं के पुण्यके फल स्वरूप धन धान्यादि सम्पत्ति की अधिकता को देख आश्चर्य या अचम्भा नहीं करेगा। अधिक लोभ नहीं करेगा और लोभ से प्रेरित हो शक्ति से अधिक भार नहीं लादेगा। इस तरह से पांच अणुव्रतों का पालक अणुव्रती श्रावक उन अणुव्रतों को पालन करके उनके सुफल स्वरूप स्वर्ग को प्राप्त करता है। जहां अवधिज्ञान और अणिमा गरिमा लघिमा आदि अनेक ऋद्धियों को प्राप्त करता है, सुन्दर और दिव्य भव्य वैक्रियिक शरीर को एवं सुन्दर मनोहर हाव भाव प्रधान देवाङ्गनाओं को प्राप्त करता है इस तरह से संयम के सुफल को जान कर प्रत्येक श्रावक को अपने कर्तव्य स्वरूप षट कर्मों में से कर्म संयम को भी अपनाना चाहिए यह संयम ही एक अद्वितीय वह जहाज है जिसपर आरूढ़ होकर यह संसारी प्राणी अनायात है, संसार महासागर से पार हो सकता है सदा के लिये अनन्तक से मुक्त हो आत्मिक अनन्त सुख सागर में अवगाहन का अनन्त कालके लिये एक मात्र सुख का ही अनुभोक्ता बन सकता है जो निराबाध और निर्दोष है और है इन्द्रिय विषय सुख से बिलकुल ही विपरीत एवं स्वाधीन।

कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः—अर्थात समस्त अष्टविध कर्मों क्षय के हेतु जो तपा जाय वह तप है, ऐसा तप मुख्यतया साधु महात्माओं के द्वारा तपा जाता है, और वे ही उक्त उद्देश्य की पूर्ति

कर अपने आत्मा को सिद्ध परमात्मा बनाते हैं वह तप बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है, उनमें प्रथम बाह्य तप, अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति, परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, काय क्लेश, के भेद से छः प्रकार का है; और द्वितीय अभ्यन्तर तप, प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान भेद से छः प्रकार का है, इस तरह के तप के सब मिलकर बारह भेद हैं जो सम्वर और निर्जरा पूर्वक मोक्ष तत्व के साधक साधक है। यहां यह शंका हो सकती है कि अगम में तप को इन्द्रादि पदों की प्राप्ति में कारण कहा है—और आप यहां उसको संवर निर्जरापूर्वक मोक्षका कारण कह रहे हैं, सो एक तप के द्वारा परस्पर विरोधी अनेक कार्य कैसे सम्भव हो सकते हैं ? जैसा कि निम्न गाथा सूत्र से प्रकट होता है।

स्थान
श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, बेलगछिया, कलकत्ता। | तिथि : आषाढ़ बदी १५ सं० २०१५
ता० २२-६-५८

दाणे लब्भइ भोउ पर इन्दत्तणुजितवेण।
जम्मण-मरण विवज्जियउ पउलब्भईणाणेण ॥

अर्थात्—दान से भोगों की प्राप्ति और तप से इन्द्रपद की प्राप्ति तथा ज्ञान से जन्म और मरण से रहित अविनाशी मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है। इससे यह तो स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि—तप से इन्द्र आदि पद की उपलब्धि होती है, जो अभ्युदय-रूप है। इससे तप स्वर्ग आदि के सुखों का कारण है, उसको संवर निर्जरापूर्वक मोक्ष की प्राप्ति में हेतु मानना कैसे सङ्गत कहा जा सकता है ? इसके उत्तर में आचार्य महाराज कहते हैं कि—एक तो कारण से अनेक कार्य तो होते देखे जाते हैं। अग्नि के समान जैसे एक ही अग्नि भात आदि बनाने में कारण होती हुई भस्म अङ्गार आदि के उत्पन्न करने में भी कारण है, जो आबाल गोपाल प्रसिद्ध है। अथवा जैसे एक ही छत्र धूप-घाम को हटाता हुआ वर्षा के पानी से कबूतर आदि पक्षियों की बीट से रक्षा करता है, वैसे ही एक तप संवर और निर्जरापूर्वक अर्थात् स्वर्ग आदि के सुखों में कारण होता हुआ सकल कर्मक्षय में भी कारण होता है, इसमें कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार से तप द्वारा सम्वर और निर्जरा दोनों तत्त्वों की निपत्ति में कोई विरोध नहीं है और उन दोनों के होने पर मोक्ष तत्त्व की सिद्धि में तो कोई बाधा है ही नहीं। अर्थात् तप की न्यूनता या विकलता से स्वर्ग सम्बन्धी इन्द्रादि पदों का लाभ और उसकी परिपूर्णता से मोक्ष का लाभ होता है। ऐसा स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है। अतः तप स्वर्ग और मोक्ष का अंग है, साधन है। ऐसा मानना युक्ति और आगम दोनों से सिद्ध है, सम्मत है। वह तप यद्यपि मुनि महाराजों द्वारा ही साध्य है। यह सुनिश्चित है। तथापि यथाशक्ति अपने पद के अनुसार अभ्यास-रूप से श्रद्धापूर्वक श्रावकों द्वारा भी करणीय है। अतः उसका भेदोपभेदपूर्वक यत्किञ्चित् लक्षणात्मक परिचय करा देना नितान्तावश्यक

है। ऐसा समझ कर हम यहाँ उनका पृथक्-पृथक् परिचय दे रहे हैं जो कर्तव्य निष्ठ श्रावकों के लिये अति ही उपयोगी है।

अनशन—इस लोक सम्बन्धी ख्याति, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि की चाह न करते हुए एकमात्र स्वीकृत संयम की सिद्धि और सफलता के हेतु तथा राग का उच्छेद (विनाश) कर्मों का क्षय, ध्यान की सिद्धि शास्त्र ज्ञान के उपार्जन के लिये जो अशन, खाद्य, स्वाद्य और पान इन चार प्रकार के पदार्थों का त्याग करना है, सो अनशन तप है। यह तप चतुर्थ भक्त, षष्ठ भक्त, अष्टम भक्त, दशम भक्त, द्वादश भक्त, चतुर्दश भक्त, पक्ष भक्त, मास भक्त, द्विमास भक्त, त्रिमास भक्त, चतुर्मास भक्त, षट्मास भक्त, वर्ष भक्त आदि अनेक प्रकार का है। इन तपों को तपनेवाले तपस्वी साधु कहलाते हैं। दश प्रकार के साधुओं में तपस्वी नाम के साधु वे ही कहे जाते हैं, जो पूर्वोक्त प्रकार के तपों द्वारा अपने आत्मा को परमात्मा बनाने के प्रयत्न में तल्लीन रहते हैं।

अवमोदर्य—संयम की सिद्धि ज्ञान की अभिवृद्धि, आत्मा में सन्तोष की जाग्रति, स्वाध्याय साधन, ध्यान धारण आदि को निराकुलता के साथ सम्पादन करने के हेतु जो स्वल्प आहार लिया जाता है, वह अवमोदर्य नामक तप है।

वृत्ति परिसंख्यान—आहारार्थ गमन करनेवाले साधु महात्मा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने और संयम को साधने के लिये जो एक घर दो घर आदि रूप से गृह संख्या का तथा दाता के हाथ में ऐसी चीज होगी। दाता के गृह के सामने यदि हाथी अपनी सूंड को ऊपर किये हुए खड़ा होगा तो हम आहार लेंगे, अन्यथा नहीं। ऐसी विचित्र और कठिन प्रतिज्ञाएं जिसमें की जाती हैं, वह वृत्ति-परिसंख्यान नामक तप है। इसमें शरीर के प्रति निर्ममत्व होता है। और आशा के प्रति निराशा का भाव सुदृढ़ रहता है। पूर्ण सन्तोष और निराकुलता का साम्राज्य छाया रहता है।

रस-परित्याग—इन्द्रियों के मद का निग्रह और निद्रा के ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिये दूध, घृत, दधि, तैल, गुड़, नमक—इन छहों रसों का अथवा इनमें से किन्हीं एक दो आदि रसों का जो त्याग किया जाता है, उसे रस-परित्याग नामक तप कहते हैं। इस तप से ब्रह्मचर्य की अबाधता या अखण्डिततामें आशातीत सहायता प्राप्त होती है, वस्तुतः अविनाशी मोक्ष सुखमें एकमात्र अव्यर्थ साधन है।

विविक्त शय्यासन—ब्रह्मचर्य ध्यान स्वाध्याय आदिकी सिद्धिके उद्देश्यसे शून्यगृह पर्वत गुफा वृक्ष की कोटर मन्दिर वसतिका आदिका अन्त स्थानमें जो शय्या और आसन लगाया जाता है, जिसमें शरीर के प्रति मोह ममता के त्याग की मुख्यता है, वह विविक्त शय्यासन नामक तप है।

कायक्लेश—जिस तपमें बुद्धि पूर्वक काय-शरीरको क्लेश पहुंचाया जाता है, अर्थात् शरीरकी सुकुमारता के अधीन न होकर जिसमें कष्ट सहिष्णुता दुःख सहनशीलता को अपनाया जाता है, जैसे ग्रीष्मऋतु में पर्वतों की शिखरों पर वर्षाऋतु में किसी वृक्षके नीचे और शीतऋतु में किसी समुद्र नदी या तालाब आदिके तट पर निरावरण प्रदर्शन में प्रतिमायोग धारण कर स्थित होना ध्यानलगाना काय क्लेश नामका तप है, इन छहों बाह्य हों नाम तप भी आत्माके सच्चे स्वरूपको प्राप्त करनेमें कारण है, इन को बाह्य तप कहने का कारण मात्र बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा है साथ ही बाह्य जगत की दृष्टि में भी ये सब प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देते हैं। इसलिये ही इन्हें बाह्य तप कहा गया है।

छह प्रकार के आभ्यनार तपों का संक्षिप्त स्वरूप प्रायश्चित प्रायः शब्दका अर्थ है, पवित्रता चरणवान साधु ऐसे साधु का चित्र जिस कार्य में लगता है, उसका नाम प्राया श्चित्त है, अथवा प्रायः शब्दका अर्थ अपराध है, और चित्र शब्द का अर्थ शुद्धि है, अर्थात् जिस क्रिया में पापों का प्रक्षालय संशोधन किया जाता है, उसका नाम प्रायश्चित तप है। प्रायश्चित का अर्थ करते हुए आचार्य श्री ने जो लिखा है वह निम्न प्रकार से हैं।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तंतस्य मनोभवेत् ।
तस्य शुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्त मुदीर्यते ॥

अर्थात्—प्रायश्चित्त में प्रायः शब्द का अर्थ लोक अर्थात् साधुजन है। और चित्त शब्द का अर्थ उनका मन है, उनके उस मन की शुद्धि-निर्मलता-पवित्रताके लिये जो कर्म-क्रिया की जाती है उसका नाम प्रायश्चित्त है, ऐसा कहा जाता है। विनय-पूज्य पुरुषों में उनके गुणों में जो हार्दिक आदर भाव होता है उसी का नाम विनय नामक तप है।

वैयावृत्य—यात्रार्थ गमन करने वाले साधुके थकावट को दूर करने के लिये उनके पैर का मर्दन (दाबना) करना अथवा और किसी दूसरी द्रव्यों से उनकी थकावट को दूर करना वैयावृत्य है।

स्वाध्याय—ज्ञानको बढ़ानेके लिये आलस्यका परित्याग करना स्वाध्यायतप है, इसमें भगवान जिनेन्द्र के द्वारा बताये वस्तु के स्वरूप को ज्यों का त्यों वर्णन करने वाले गणधरों द्वारा रचित द्वादशांग श्रुत का अध्ययन मनन पठन और पाठन में जरा सा भी प्रमाद नहीं करते हुए जो पवित्र भावों से शास्त्रों की आराधना उपासनाकी जाती है उसी का नाम स्वाध्यायतप है। इसमें आत्म ज्ञानकी मुख्यता प्रमुख है।

व्युत्सर्ग—शरीर के साथ ममत्वका परित्याग करना अर्थात् यह शरीर मेरा है, और मैं इसका हू इस प्रकार के व्यामोह का छोड़ना ही व्युत्सर्ग तप है।

ध्यान—मन की चंचलता का परिहार करना ध्यान है, अर्थात् बाह्य पदार्थोंमें रागद्वेषका परित्याग करते हुए जो मन से वस्तु के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, उसका नाम ध्यानतप है, यह ध्यान तप साक्षात् मोक्ष का साधन है, इसी से साध्य-मोक्ष सिद्ध होता है। बिना ध्यानतप के मुक्ति का लाभ असम्भव है, अतएव आभ्यन्तर तपों में सबसे अन्त में इसे पढ़ा है, जिसका साक्षात् फल मुक्ति की प्राप्ति है। ऐसा ही श्री पद्मनन्दी आचार्य नेभी श्री पमनन्दी पंच विंशतिकामें तप के स्वरूप उसके भेद और उसके फल का वर्णन करते हुए लिखा है कि तप ही मोक्ष प्राप्ति मे महान साधन हैं।

कर्म मल विलय हे तोर्बोध दशा तप्यते तपः प्रोक्तम्।
तद्द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियान पात्रमिदम् ॥

अर्थात् सम्यग्ज्ञान रूप नेत्र से वस्तु के यथार्थ सच्चे स्वरूप को जानकर ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकार के द्रव्य कर्म रागद्वेष मोहादिरूप भावकर्म और शरीरादि नोकर्मों के सर्वथा क्षय करने का कारण तप तपा जाता है, ऐसा ही आर्ष आगम में कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जैसे सुवर्ण पाषाणके अन्दर रहनेवाली किट्टकालिमा को नष्ट करने में अग्नि कारण है, अग्नि में तपाने के पश्चात् ही सुवर्ण पाषाण अपने अन्दर रहने वाले मल को नष्ट कर निर्मल स्वच्छ सुवर्ण रूप अवस्था को धारण करता है, वैसे ही संसारी आत्मा भी अपनेमें अनादिसे रहनेवाले कर्म परमाणुओं रूप मलको नष्टकर निर्मल हो परम शुद्ध सिद्ध दशाको धारणकरता है वह तप वाह्य और आभ्यन्तर भेदसे २ प्रकारका है। उनमें वाह्य छह प्रकार का और आभ्यन्तर छह प्रकारका दोनों के कुल मिलकर बारह भेद होते हैं जो संसार रूप समुद्रसे पार होने के लिये जहाज के समान हैं अर्थात् मोक्ष प्रदान करने में कारण है। आगे आचार्य कहते हैं, कि कषाय रूप चोरों को जीतने वाला एकमात्र तपरूप सुभटही है, अन्य नहीं।

कषाय विषयोद्भह प्रचुर तस्करौघो
हठस्तपः सुभट ताड़ितो विघटते यतो दुर्जयः
अतोहि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रिया
यतिः समुपलक्षितः पथि विमुक्ति पुर्याः सुखम्।

अर्थात्—क्रोध आदि कषाय और स्पर्श आदि इन्द्रिय विषय रूप महान उद्धत योद्धा और चोरों का समुह दुर्जेय है, बड़ी कठिनाईसे जीता जा सकता है, अर्थात् उनको जीतना साधारण शक्तिमान पुरुषों का काम नहीं है, तथापिजो पुरुष तपस्वी हैं नाना प्रकारके अनशन और प्रायश्चित्तआदि तपोंको धारण करने वाले हैं। वे ही अपने तपरूप अजेय योद्धा के द्वारा उन कषाय रूप योद्धाओं की और विषय रूप चोरोंको बात की बात में जीत लेते हैं। अतः जो साधु संयम के साथ उस तपश्चरण रूप धर्मका निर्दो

पालन कर्ता है, उसे मुक्ति रूपी नगरी का मार्ग सुख पूर्वक अनायास ही प्राप्त हो जाता हैं। अर्थात् उस मुक्ति सुख की प्राप्ति अवश्य ही हो जाती हैं। यह है तप का साक्षात् सुफल। आगे आचार्यश्री सांसारिक दुःख की अपेक्षा तप करने में स्वल्प दुःख है उस सवल्प दुःख को स्वकार कर जो पुरुष तप करते हैं वे इस संसार समुद्र से तरते जाते हैं अतः तप करना श्रेयस्कर है।

मिथ्यात्वा देयदिय श्रुविता दुःखमुग्रंतपोम्भो
जातंतस्मादुदक कणिकैकेवसर्वाब्धिनीरात्
स्तोकंतेन प्रसभमाखिलकृच्छलब्धे नरत्वे
यद्येतर्हि सवलसि तदतो का क्षति जीवतेस्यात्

अर्थात्—हे जीवात्मन्! इस संसार में जो तुझे मिथ्यादर्शन आदि रूप समुद्र भयंकर के कारण दुःख होता है। उसके सामने तपश्चरण सम्बन्धी दुःख उस समस्त मिथ्यादि समुद्रजनित दुःख की एक बूंद के बराबर है, जो बहुत ही स्वल्प है या नहीं के समान है। इसलिये समस्त प्रकार के कष्टों के सहने के पश्चात् प्राप्त हुई। इस मानवता में यदि तू अपने कर्तव्यभूत तपश्चरणसे भयभीत हो जरा भी स्खलित या च्युत हुआ तो यह एक महान् आश्चर्य और दुःखकी बात होगी तपश्चरणमें हे जीव तेरी क्या हानि है? उससे तो तुझे महान और अनुपम लाभ है। अतः तुझे उस तपस्या के दुःख से जरा भी नहीं डरना चाहिए। इसी में तेरा अनन्त सुख जो तेरी आत्मा में लबालब भरा हुआ है शीघ्रातिशीघ्र ही प्रकट होनेवाला है जो नितान्त नित्य है, अविनश्वर है। अनन्त काल तक बराबर ज्यों का त्यों रहनेवाला है। अतः उसको प्राप्त करानेवाले तप में तुझे उद्यमशील और प्रयत्न-तत्पर होना चाहिए।

तपके बिना स्वर्ग सम्बन्धी इन्द्र और अहमिन्द्र जैसे महान सुखसाताको देनेवाले पद किसी भी अन्य प्रकार नहीं प्राप्त हो सकते। अतः जो स्वर्गीय उत्तमोत्तम इन्द्रियजनित सुखों के अभिलाषी हैं, उन्हें तो तप जरूरीहर हालतमें है। क्योंकि वे तपसे ही प्राप्त किये जा सकते हैं। जैसा कि 'समाधिमरण' पाठ में हम पढ़ा करते हैं, जो अक्षरशः सत्य है :—

यातैं जबलग मृत्यु न आवै तबलग जप तप कीजे।
जप तप बिन इस जग के मांहि कोई भी नहिं सीजे।
स्वर्ग सम्पदा तपसें पावै तपसे कर्म नशावै
तप ही से शिवकामिनी पति हो यासौं तप चितलावै

अर्थ स्पष्ट ही है कि—संसार सम्बन्धी जितने भी ऊंचे से ऊंचे सुख हो सकते हैं। वे सब तप

से ही प्राप्त होते हैं और तो हम क्या कहें ? मोक्ष सम्बन्धी अविनाशी सुख भी तप से ही प्राप्त होता है। ऐसे तप का आराधन एकमात्र मनुष्य के द्वारा ही किया जा सकता है, अन्य के द्वारा नहीं। इसी से मनुष्य भव की सार्थकता है। ऐसा निश्चय कर आत्मार्थी पुरुषों को तप के द्वारा अपनी आत्मिक निधि प्रकट कर लेनी चाहिए। इसमें उन्हें थोड़ा-सा भी प्रमाद या आलस्य नहीं करना चाहिए। यह तो प्रत्येक श्रद्धावान शास्त्र स्वाध्याय प्रधान श्रावक जानता ही है कि स्वर्गवासी देव जो विशेष पुण्यशाली होते हैं, उनमें भी अधिक पुण्यात्मा इन्द्र होते हैं और इन्द्रों से भी कहीं अधिक पवित्रात्मा अहमिन्द्र होते हैं और अहमिन्द्रों में भी मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकार के अहमिन्द्र हो सकते हैं। हां, नव अनुदिश और पांच पञ्चोत्तर इन विमानों में होनेवाले अहमिन्द्र सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, जो एक सर्वार्थसिद्धि विमान को छोड़ कर शेष के तेरह विमानों के अहमिन्द्र नियमतः मनुष्य के दो भव धारण कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। इन्द्रों में कुछ इन्द्र सम्यग्दृष्टि और एक भवावतारी अर्थात् मनुष्य का एक भव धारण कर नियम से निर्वाण को प्राप्त करते हैं। देवों में भी लौकान्तिक देव जो पांचवें ब्रह्म स्वर्ग की दिशाओं और विदिशाओं में रहते हैं। वे सम्यग्दृष्टि हैं और मनुष्य का एक भव धारण कर मोक्ष जाते हैं। वे भी उस पर्याय में रह कर संयम धारण नहीं कर सकते। उनमें संयम धारण करने की उस पर्याय में योग्यता ही नहीं है। अतएव वे भी संयम के साधनार्थ इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय के अभिलाषी होते हैं। क्योंकि अभ्युदय-स्वर्ग और निःश्रेयस मोक्ष की प्राप्ति में प्रमुखता एकमात्र तप की है और वह तप भी पूर्णरीत्या मनुष्य के द्वारा ही किया जा सकता है। अतः प्राप्त मनुष्य पर्याय को सफलीभूत करने के लिये हमें तप को यथाशक्ति धारण करना चाहिए। इसी में हमारी पर्याय की सार्थकता और सफलता है।

दान—अपने न्यायसे अर्जित-कमाये हुए धनको सत्पात्रोमें व्यय करना उत्तम क्षेत्रोंमें लगाना अशिक्षितों को शिक्षित करने में सदुपयुक्त करना रोगी व्यथित रुग्ण व्याधित आधित जीवों कीतज्जनित दुःखों से रक्षा करनेमें उसे सफल करना, जो स्थान-विहीन हैं, जिनके रहने का कोई ठिकाना नहीं है, ऐसे पुरुषों की सुरक्षा की हेतु यथाशक्ति स्थानादि के निर्माण कर प्रदान करनेमें हार्दिक उदारता दिखाना जो दुःखी भूखी है उनको भी यथायोग्य सहयोग देकर उन्हें सुखी और खुशहाल बनाना आदि में खर्च करना सब दान है, उक्त प्रकार का दान दाता और पात्र दोनों के हित का कारण है, दाता का हित तो दी हुई वस्तु के साथ रागभाव का घटना है, और पात्रका कल्याण उसके रत्नत्रय आदि गुणों का बढ़ना है। इस तरह से योग्य पात्र में प्रदत्त द्रव्य दोनों के कल्याण में सहायक होती है। अतएवं दान देना भी श्रावकों के षट्कर्मों कर्तव्यों में एक आवश्यक कर्म कर्तव्य है। ऐसे कर्तव्य कर्मका पालक श्रावक वस्तुतः श्रावक है, और उसे अपने कर्तव्य कर्मक पालन करने का सुफल स्वर्गादिक के सुखोंकी प्राप्ति पूर्वक परम्परयामुक्ति सुख की प्राप्ति है, जो आर्हत आगम से समर्थित है, जैन शास्त्रों में यत्रतत्र दान की बड़ी

महिमा गाई और बताई गई है तत्त्वार्थ सूत्रकार भगवान उमा स्वामी ने सातवें अध्याय के अन्त में दान के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा हैं कि—"अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गोदानम" अर्थात् उपकार-भलाई के लिये द्रव्यका त्याग करना दान है, तात्पर्य यह है कि अपने और परके हित के वास्ते धन का सुयोग्य पात्रों में वितरण करना दान है, धन से तात्पर्य केवल रूपया पैसा इतना ही नहीं है, किन्तु उसके द्वारा संग्रह में आनेवाली वे तमाम वस्तुएं लेना हैं जो सुयोग्य हों सुयोग्य पात्रों को दी जा सकती हैं। जिनके देने से दोनों का कल्याण सम्भव हो दोनों के जीवन के उत्थान में जो यथोचित साहाय्य प्रदान कर सकती हों जिनके देने और लेने से त्याग धर्म में अभिवृद्धि की उत्तरोत्तर सम्भावना हो जो आत्म स्वरूप को जागृत करने में पूर्णतया सफल सहायक सिद्ध हो उन चीजों का त्याग ही वास्तविक दान हैं। जो वस्तु दाता और पात्र के आत्म-मलको धोडालनेमें अव्यर्थ साधन हो। जैसे मलिनवस्त्र के मलको धोडालने में साबुन सफल सिद्ध साधना है वैसे ही जो दाता और पात्र दोनों की आत्माओं को कर्म मल से रहित करने में अर्थात् उनके राग द्वेष आदि विकारी भावों को दूर करने में और आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने में सहायता प्रदान कर सकती हो उसी वस्तु का दान ही वस्तुतः दान है। दान के पात्र तीन प्रकार के हैं, उत्तम, मध्यम और जघन्य। उनमें उत्तम पात्र मुनि मध्यम पात्र देशव्रती श्रावक और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि। ये तीनों मोक्षमार्गी हैं, इन तीनों को श्रद्धा और भक्ति पूर्वक दिया हुआ दान स्वर्ग और मोक्ष के सुखका कारण है, जैसे उत्तम उपजाऊ भूमि में बोया हुआ बीज कालान्तर में महान वृक्ष का रूप धारण करके बड़े बड़े फलों को प्रदान करते है, वैसे ही उत्तमादि पात्रों को दिया हुआ दान भी जन्मान्तर में महान वैभव पूर्ण अणिमा आदि महा रिद्धियोंसे सम्पन्न स्वर्गादिके सुखों का प्रदान कर अन्त तोगत्वा अविनाशी अनन्त आत्मिक सुख को प्रदान करता है, यह निःसन्देह है, यह सब निष्काम दान का फल है, जो दान किसी फलेच्छासे प्रेरित होकर दिया जाता है, वह सकाम दान है, उसका फल स्वर्गादि नहीं है, क्योंकि वह वास्तविक दान नहीं है, वह तो एक तरह का सौदा है, जैसे सौदा करनेवाले चीज देकर उसका मूल्य जो लेते हैं, वैसे ही यह दानी देनेवाला भी देकर उसके बदले में नाम वरी आदिको लेलेता है, उससे उसे आगे कुछ भी फल हाथ लगाने वाला नहीं है, वह तो हाथों हाथ उसका प्रत्यक्ष फल ले चुका है, जो उसे इष्टथा अतः निस्काम प्रति फल की इच्छा से रहित जो दान दिया जाता है उससे इस लोकमें यश आदि और परलोक में आज्ञा ऐश्वर्य अणिमा आदि ऋद्धियाँ भी अनायास आ घेरती हैं। अतएव प्रत्येक दाता को दान करते समय फलेच्छा का त्याग कर के ही दान करना श्रेयस्कर है ऐसा समझ कर ही दान करना चाहिए तभी वह यथेष्ट फल प्रदान कर सकेगा अन्यथा नहीं। निरपेक्ष भाव से जो दान दिया जाता है, उसका फल इस लोकमें नहीं मिलता परलोक में ही मिलता है ऐसी बात नहीं है उसका फल यहां भी मिलता है और वहां। यहां तो बस आदर मान प्रतिष्ठा कीर्ति जो कि इस लोक के प्रधान हैं प्राप्त होते है, और परलोक में भोग-भूमि के महान उत्तमोत्तम भोग प्राप्त होता हैं। और वहां से आयु पूर्ण करके देवगति सम्बन्धी श्रेष्ठ सुखों की

प्राप्ति होती ही है और वहां से भी आयुको पूर्ण करके यहाँ अति दुर्लभ इस मनुष्य पर्याय को प्राप्त करता हैं, जिसमें मोक्षका साधनी भूत तपश्चरण किया जा सकता जिसका फल मोक्ष प्राप्ति सुनिश्चत है अतः निरपेक्ष दान ही हितकर है, यह बात सुनिर्णीत और निर्विवाद है। इस अवसर्पिणी कालके प्रथम तीर्थंकर त्रिलोकीनाथ भगवानवृषभनाथ को सर्व प्रथम इस रस का आहार दान करने वाले श्री श्रेयांस राजा ने ही दान धर्मकी प्रवृत्ति की थी और उसका तात्कालिक फल रत्नवृष्टि आदिके रूपमें प्राप्त किया था। उन्हीं राजा श्रेयांस महाराजने उसी दानके प्रभाव से इस लोक में महान यश को प्राप्त किया था, इस काल के प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरत ने भी दानशील महाराज श्रेयांस राजके राजमहल पर जाकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी इससे बढ़कर और क्या पुण्य फल हो सकता है ? उनके द्वारा चलाई हुई दान धर्म की प्रवृत्ति इस काल के अन्त तक उनके नाम और यश दोनों को कायम रखेगी। उक्त दानके प्रभावसे महाराज श्रेयांस राजाने अष्ट कर्मों को नष्ट कर अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त किया ऐसा शास्त्रों से प्रमाणित है। तीर्थंकर जैसे उत्तमोत्तम पात्र को दिया हुआ दान दाता को तद्भव मोक्ष प्रदान करता है, यह बात आगम प्रसिद्ध है। दान दाता को संसार समुद्र से पार करने में जहाज के समान है। ऐसा जान कर प्रत्येक श्रावक को दान करने में सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। एक शिल्पी-कारीगर जैसे-जैसे महल को बनाता जाता है, वैसे-वैसे ही वह भी ऊंचा-ऊंचा उठता जाता है। उसी प्रकार दाता भी जैसे-जैसे ऊंचे योग्यतम पात्र को दान देता है, वैसे-वैसे ही वह भी अपने को ऊंचा उन्नत बनाता जाता है। यह श्रद्धावान दाता के ऊपर उस महान् श्रेष्ठ पात्र का महोपकार है। जिसके निमित्त से दाता के द्रव्य का सदुपयोग हुआ और दाता के परिणामों में पवित्रता तथा उज्वलता का सञ्चार और प्रसार हुआ। बड़े ही परिश्रम और कष्ट से कमाये हुए धन का सच्चा संरक्षण सत्पात्रों में विनियोग करना ही है। वही इस जीव को भविष्य में कई गुना करके प्रदान करनेवाला है। शेष तो खाया-पिया खर्च किया सब बेकार है, उससे आत्मा का कोई हित नहीं है। वह एकमात्र शरीर और कुटम्बियों के भरणपोषण मात्र कार्य में ही उपयुक्त हुआ जो संसार-बन्धन का ही कारण है। उत्तम पात्र में जी वितीर्ण हुआ है, वही सफल है। कई गुणा अधिक फल देनेवाला है। नीतिकारों ने भी यही बात बताई है कि—धन की तीन दशाएं हैं। देना, भोगना और नाश होना। जो न तो देता है, और न भोगता है। उसका धन नियमतः तीसरी नाशदशा को प्राप्त होता है। इसमें नीतिकार ने यह स्पष्टतया घोषित किया है कि न्यायोपार्जित द्रव्य का सदुपयोग एकमात्र दान है, योग्य पात्रोंमें वितरण करना है। शेष दो तो ऐहलौकिक कार्य में ही प्रयोजनीभूत हैं, जब कि प्रथम उभय लोक में सुख-शान्ति को प्रदान करता है। अतः धन का सच्चा विनियोग दान में ही है, वही श्रावक का आवश्यक कर्तव्य है।